

कहान रत्न सरिता

(भाग-१)

(‘परमागमसार’ ग्रंथमें से चयन किये गये पूज्य
गुरुदेवश्री के वचनामृतों पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)



प्रकाशक
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

□ प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाडी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) ४२३२०७ / २१५१००५

□ गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र,

पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़

□ श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

फोन : (०५७९) ४१००१०/११/१२

□ श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००, १-१२-२००३

द्वितीयावृत्ति प्रत : १०००, ८-१२-०५,

तृतीयावृत्ति : प्रत : ५००, ३१-१२-०७ (कुंदकुंदाचार्य आचार्य पदवी दिन

पृष्ठ संख्या : ८ + ३२० = ३२८

लागत मूल्य : ३५/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

बारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय (तृतीयावृत्ति)

'कहान रत्न सरिता' (भाग-१) - इस लघुकाय ग्रन्थ की तृतीयावृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ सम्बन्धित विवरण 'विषय प्रवेश' में दिया गया है। वीतराग देव, गुरु, शास्त्र का सुयोग होने के पश्चात् भी जीव किन-किन प्रकार की भूलवशात् मोक्षमार्ग से वंचित रह जाता है ? इस विषय पर अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अनेकविध प्रकार से स्पष्टीकरण दिया है। ऐसे अनेकानेक बोल 'परमागमसार' ग्रन्थ में संकलित किये गये हैं।

ऐसे युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री का अनेक वर्षों का समागम व निकट सान्निध्यरूप सौभाग्य के धनी एवं सिद्धांतनिष्ठ पूज्य भाईश्री शशीभाई ने स्वयं की सरल और मौलिक शैली में 'परमागमसार' के वचनमृतों पर प्रवचन किये हैं, जिसमें से कुछएक प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित किये गये हैं। मार्ग की खोज जिन्हें होगी ऐसे सुपात्र जीवों के लिए यह प्रकाशन अवश्य एक प्रकाशस्तंभरूप होगा ऐसा विश्वास है।

'कहान रत्न सरिता' मुमुक्षुजीव के चैतन्यप्राणों में नवजीवन प्रदान करे ऐसी है। इस सरिता में बह रहे चैतन्यामृत का पान करके मुमुक्षुजीव अजर-अमर पद को प्राप्त कर सकता है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करके पाठकवर्ग को अनेकविध अमूल्य विषयों पर मार्गदर्शन प्राप्त होगा यह हमारा विश्वास है। ऐसे ही अमूल्य प्रवचनों को भविष्य में विभिन्न भागों में प्रकाशित करने की हमारी भावना है।

इस ग्रंथ में प्रकाशित सभी प्रवचन सर्व प्रथम अक्षरसः ऑडियो कैसिट पर से लिखे जाते हैं। तत्पश्चात् इसके संपादन का कार्य

भी कैसिट सुनकर किया जाता है कि जिससे वचन में रहा अंतरध्वनि (Under tone) व आशय यथावत रखे जा सकें। जहाँ जरूरत लगे वहाँ कोष्ठक रखे हैं तत्पश्चात् प्रेस में भेजने से पहले दूसरे मुमुक्षु द्वारा कैसिट से मिलान किया जाता है, अतः कोई क्षति रह गई हो तो उसे मिटाया जा सके।

इस ग्रंथ के प्रकाशन हेतु प्राप्त दानराशि का विवरण अन्यत्र दिया गया है। जिन मुमुक्षुओं ने इस ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में अपना योगदान दिया है, उनके हम आभारी हैं। ग्रंथ के सुंदर टाईपसेटिंग के लिए 'पूजा इम्प्रेसन्स' व सुंदर मुद्रण कार्य के लिए 'भगवती ऑफसेट' के भी हम आभारी हैं।

वीतराग सत् साहित्य प्रकाशन के इस कार्य में तथा हिन्दी अनुवाद में कोई भी प्रकार की क्षति रह गई हो तो मन से, वचन से व काया से शुद्ध अंतःकरणपूर्वक वीतराग देव, गुरु, शास्त्र के प्रति हम क्षमा याचना करते हैं। पाठकवर्ग को यह हमारा नम्र निवेदन है कि कोई भी क्षति दृष्टिगोचर हो तो निःसंकोच हमें जानकारी दें। अतः भविष्य में ऐसी भूलों का पुनरावर्तन न हो।

भावनगर

दि-३१-१२-२००७

**(कुंदकुंदाचार्यदेव का आचार्य
पदवी दिन)**

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट

भावनगर

'कहान रत्न सरिता' पुस्तक के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

श्रीमती चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर ५,०००/-

विषय प्रवेश

'कहान रत्न सरिता' नाम का यह ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के वचनामृतों का संकलन 'परमागमसार' के कुछ एक चुने हुए वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए प्रवचनों का प्रकाशन है। पूज्य गुरुदेवश्री ने ४५-४५ साल तक अनेक महान परमागमों पर प्रवचन देकर अध्यात्म सरिता बहायी। ये प्रवचन 'आत्मधर्म' में नियमितरूप से प्रकाशित होते थे। उन प्रवचनोंमें से भी जहाँ इसका पूरा कस भरा हो उन वचनामृतों को अलग छॉटकर एक विशिष्ट ग्रन्थ तैयार हुआ, जिसका नाम दिया गया 'परमागमसार' ! इस ग्रन्थ के वचनामृतों का संकलन सद्धर्मनिष्ठ, तत्त्वप्रेमी पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा किया गया था।

'परमागमसार'में अनेकों विषय की स्पष्टता कर रहे उनके वचनामृतों को अलग से छॉट लिया गया है। इस ग्रन्थ पर पूज्य भाईश्री द्वारा करीब ८०० जितने प्रवचन हुए हैं। 'भावनगर'में इन दिनों 'श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मन्दिर' में पूज्य भाईश्री के इन प्रवचनों को सुनते हुए ऐसी प्रतीति होती है कि पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत न केवल वचनामृत है अपितु रत्नों की पूरी खान है। प्रत्येक वचन पर हो रही पूज्य भाईश्री द्वारा स्पष्टता ऐसी प्रतीति का द्योतक है कि, वास्तव में ज्ञानीपुरुष के प्रत्येक शब्द में अनन्त आगम समाहित हैं !! पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन का वचन - 'गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी' इसकी भी अवश्य प्रतीति होती है।

ऐसे अनेकानेक रत्नों से विभूषित 'परमागमसार' ग्रन्थमें से सांप्रत मुमुक्षुजीवों की कहाँ भूल हो रही है या आत्मस्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? इस विषय पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा

हुए कुछएक प्रवचनों को इस छोटे से ग्रन्थ में समाविष्ट किये गये हैं। वीतराग देव, गुरु, शास्त्र व प्रत्यक्ष सत्पुरुष का समागम प्राप्त होने के बावजूद भी मुमुक्षुजीव कैसे और कहाँ अटक जाता है, इस विषय में अत्यंत सुंदर और रसप्रद निरूपण इन प्रवचनों में हुआ है। कुटुम्ब-परिवार, धन-संपत्ति, आबरू-कीर्ति आदि में सुहाना, शुभराग की मिठास, वीतराग देव, गुरु, शास्त्र का योग होने के पश्चात् भी किस-किस प्रकार की भूल रह जाती है ? इतना ही नहीं विकल्पों की आश्रयबुद्धि और एकत्वबुद्धि किस प्रकार रह जाती है तद्विषयक अनेरा स्पष्टीकरण इन प्रवचनों में आया है।

इसके अलावा उक्त भूलों को किस प्रकार सूक्ष्म अनुभवपद्धति - प्रयोगात्मक पद्धति से मिटाना, इसका भी प्रयोगात्मक मार्गदर्शन इसमें आया है, जो कि मुमुक्षुजीव के लिए अत्यंत-अत्यंत उपकारी होगा। पूज्य गुरुदेवश्री अनेक बार प्रवचनों में प्रमुदित होकर ललकारते थे 'सहजे समुद्र उल्लस्यो, जेमां रतन तणाणां जाय, भाग्यवान कर वावरे, जेनी मोतीए मुठीयुं भराय !!' पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित रत्नों की सरीता, उन वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा हुए प्रवचन मुमुक्षुजीवों के लिए इस अमृत सरीता में स्नान करके पूर्ण पवित्रता को प्राप्त करने के बराबर है।

अंततः प्रत्येक मुमुक्षु इस 'कहान रत्न सरिता' में स्नान करके वचनरूपी एक-एक रत्नों को प्राप्त कर अपने परिणमन को आत्मगुणरत्नों से सुशोभित करें ऐसी पवित्र भावना भाते हुए देव, गुरु, शास्त्र के चरणों में कोटिकोटि प्रणाम करते हैं।

परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम,
जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम।

इति शिवम



कहान रत्न सरिता (भाग-१)
प्रवचन अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	वचनामृत नंबर	पृष्ठ संख्या
०१.	वचनामृत-८९	००१
०२.	वचनामृत-९६	०१२
०३.	वचनामृत-९९	०२८
०४.	वचनामृत-९९	०५३
०५.	वचनामृत-१००	०६०
०६.	वचनामृत-१६२	०७०
०७.	वचनामृत-१६८	०८६
०८.	वचनामृत-१९१	१०१
०९.	वचनामृत-२१४	१२५
१०.	वचनामृत-२१४	१३२
११.	वचनामृत-२१६	१४३
१२.	वचनामृत-२२०	१५२
१३.	वचनामृत-२२८	१६३
१४.	वचनामृत-२३३	१७५
१५.	वचनामृत-२३४	१८२
१६.	वचनामृत-२३८	१८९
१७.	वचनामृत-२४०	२१४
१८.	वचनामृत-२४१	२२०
१९.	वचनामृत-२४२	२२९
२०.	वचनामृत-२४३	२४३
२१.	वचनामृत-२४३	२५६
२२.	वचनामृत-२४८	२६८
२३.	वचनामृत-२४८	२८०
२४.	वचनामृत-२५०	२८७
२५.	वचनामृत-२५१	३०३

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ’

□

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

□

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्या.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तार्या,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

□

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

□

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

□

ॐ

वीतरागाय नमः

❖ कहान रत्न सरिता ❖

••••• ❖ •••••

• राग तो चुड़ैल और डाकिनी के समान है; राग से
• प्रेम करने से यह तुझे खा जायेगा - निगल जायेगा।
पापरूपी राग की तो क्या बात, परंतु जिन्होंने शुभराग,
हजारों रानियाँ छोड़कर, राजपाट छोड़कर, पंचमहाव्रत के
शुभराग से प्रेम किया है - वे आनंदस्वरूप आत्मा को
घायल करते हैं, उसकी हत्या करते हैं। वीतरागभाव धर्म
है, किन्तु जो रागभाव से धर्म मनवाते हैं वे वीतराग के
• शत्रु हैं, पापी और मिथ्यादृष्टि हैं। ८९.

••••• ❖ •••••

प्रवचन - १, दि. २४-१०-१९८२

(परमागमसार, बोल - ८९) यहाँ कहते हैं कि 'राग तो चुड़ैल और डाकिनी के समान है;...' लीजिए, ठीक ! यहाँ सीधा यही कह दिया कि राग है सो चुड़ैल और डाकिनी के समान है।

लोक में प्रेत योनियों में ये सारे नाम लिए जाते हैं, - डाकिनी, चुड़ैल, भूत, प्रेत, पिशाच, खवीस (इत्यादि)। बचपन में सब बातें सुनी हैं न ! जिसका बचपन गाँव में बीता हो उसका सब सुना हुआ रहता है। लोग कहते हैं न कि भूत संचार हुआ ! चुड़ैल, डाकिनी के लग जाने से भूताविष्ट हो गया, ऐसी-ऐसी कथाएँ बचपन में बहुत सुनने में आती थी। जैसे कोई स्त्री के लिए सुनते थे कि, वह डाकिनी है, चुड़ैल है...! ऐसा है और वैसा है। एक तो दिखाव उसका डरावना हो और किसी में प्रवेश कर लेती है, ऐसा कहलाता हो। वैसे तो किसी में प्रवेश नहीं होता किन्तु मन की कमजोरीवाले को ऐसा भ्रम हो जाता है कि मुझे ऐसा हुआ, वैसा हुआ, बाद में बहुत परेशान होता है। जब किसी जीव को भ्रम हो जाता है कि मुझे डाकिन या चुड़ैल ने पकड़ लिया है, तो फिर वह बहुत दुःखी होता है। उसके चित्त का कोई ठिकाना नहीं रहता। चित्त इतना अस्थिर हो जाता है कि उसने क्या बोला ? क्या खाया ? कैसी चेष्टा की ? यह खुद को ही पता नहीं रहता। पागलवत् अवस्था हो जाती है। वैसे (यहाँ) कहते हैं कि राग की रुचिवश जो राग से अभेदता करता है, तो डाकिनी ने तो उसे नहीं पकड़ा परंतु उसने डाकिन को पकड़ा है। उस पर पागलपन सवार होगा ही, ऐसा कहते हैं। पागलपन के अलावा इसका कोई नतीजा नहीं आयेगा।

राग है सो चुड़ैल और डाकिनी समान है। गुरुदेवश्री की शैली बहुत Powerful थी ! तोप के गोले जैसी !! चाहे जैसा मिथ्यात्व का गढ़ क्यों न हो ! (इस) तोप के गोले से चूर-चूर हो जाये और इसकी एक-एक कंकरी को जैसे अलग कर दे !! पत्थर अलग करे दे, ऐसे नहीं किन्तु कंकरी को भी अलग कर दे !!

(कहते हैं) 'राग से प्रेम करने से यह तुझे खा जाएगा - निगल जाएगा।' यह डाकिनी खा जाती है - निगल जाती है ऐसा जो कहा जाता है न ! तो Actually डाकिनी कोई उसे काटती है, ऐसा कुछ नहीं होता परंतु (जिसको ऐसी कल्पना हो जाये) उसका शरीर गलने लगता है। भय और पागलपन के वश शरीर के जो कोष होते हैं वे गलने लगते हैं। अतः आदमी कृश होकर मरता है। तब ऐसा कहा जाता है कि डाकिनी उसे निगल गई या चुड़ैल उसे निगल गई, खा गई ! परंतु वास्तव में उसे कोई नहीं खा गया।

प्रश्न :- ऐसी प्रेत योनि होती है क्या ?

समाधान :- हाँ, प्रेत योनि है लेकिन लोग जैसा मानते हैं वैसा नहीं है कि वह किसी में प्रवेश कर ले। वह देव-योनि है - हलके देवों की योनि है। अपने यहाँ मनुष्य में जैसे चमार, चांडाल आदि होते हैं न ! नीच जाति के मनुष्य होते हैं। जैसे उसमें वह नीच जाति के - एकदम हलकी जाति के व्यंतर देवों की जाति है। उनके आयुष्य बड़े-बड़े होते हैं, इसलिए आगे-पीछे सब जानते हैं, २०-२५ पीढ़ी तक की जानकारी होती है इसलिए वे भ्रम पैदा करते हैं। परंतु यह बात शास्त्रमें से बाहर आयी कि लोग डर के मारे उसे अलग प्रकार से समझने लगे। वरना वास्तव में ऐसा बनना अशक्य है। कोई आत्मा किसी दूसरे आत्मा में प्रवेश कर सके (यह नामुमकिन है)। किसी की देह में या किसी के आत्मा में कोई दूसरा आत्मा प्रवेश कर सके - यह वस्तु स्वरूप से बाहर है। परंतु अनादि से देहात्मबुद्धि से ग्रसित जीव डरपोक है, भयान्वित है। अंधेरा दिखे कि डरने लगे ! तो फिर आभास हो इसमें डरे इसमें कौन-सी नई बात है ? अरे ! घन अंधेरा हो, एकांत हो,

निर्जन स्थल हो, बस्ती का अभाव हो तो भी आदमी डरता है, फिर दूसरे (प्रसंग में नहीं) डरने का प्रश्न कहाँ रहता है ? फिर तो उसे बहुत-सी कल्पनाएँ होगी।

प्रश्न :- स्वरूप-निर्णय सम्बन्धित सूक्ष्म अंतरजल्प - मैं ऐसा हूँ मैं ऐसा हूँ, मेरा त्रिकाली स्वरूप ऐसा है - यह विकल्प भी क्या डाकिन जैसा है ?

समाधान :- तो क्या उससे लगे रहना है ? वह डाकिन नहीं है ऐसा जानकर क्या उसे पकड़ रखना है ? क्या करना है ? (अरे !) निर्णय के लिए तो क्या निर्णय होने के पश्चात् और अनुभव के पहले जो अंतरजल्प वर्तता है, यह तो इसकी बात है। जीव का निर्णय भी हो चुका हो, भले ही अनुभव नहीं हुआ हो, तब उसे जो शुद्धात्म स्वभाव का अंतर-घोलन चलता है इसमें जो सूक्ष्म अंतरजल्प रहता है उसे भी छोड़ता है, जब तो शुद्धोपयोग में आना होता है न ? फिर उसे पकड़े रहने का सवाल कहाँ है ?

हकीकत में राग और ज्ञान के बीच भेदज्ञान में देखना क्या है ? कि राग मलिन है। विष्टा थोड़ी-सी हो तो अच्छा, ऐसा है ? ज्यादा विष्टा तो खराब है, विष्टा का पूरा डिब्बा हो जब तो खराब लेकिन थोड़ी-सी विष्टा हो तो कोई बात नहीं, उसे माथे पर चढ़ाओ !! ऐसे कोई चढ़ाता है क्या ? उसे माथे पर नहीं चढ़ाया जाता। वैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म राग हो तो (भी) उसका आदर करने का प्रश्न ही नहीं है। जो मलिनता है उसे तो धोना ही है (इसमें) दूसरी बात को अवकाश ही कहाँ है ? लेकिन उस भाव में मलिनता भासित होनी चाहिए, दिखनी चाहिए वरना उसे नहीं छोड़ेगा। किसी न किसी बहाने मोह होगा - यह तो (स्वरूप) निर्णय का राग है न ! यह (राग) तो निर्णय होने के बाद आत्मा

संबंधित है न ! आत्मा के साथ यह विकल्प संबंध रखता है न ! यह कहाँ बाह्य पंचेन्द्रिय के विषय से संबंध रखता है ? कहते हैं कि पंचेन्द्रिय के विषय से संबंधित अशुभराग या किसी भी जाति का राग - फिर चाहे शुद्धात्मा के विकल्प का (राग हो), लेकिन जाति तो इसकी राग की ही है या दूसरी कोई ? उसमें जो तत्त्व है (वह तो दोनों में समान है)। इसीलिए तत्त्वदृष्टि से उसे आस्त्रव कहा, तत्त्वदृष्टि से उसे बंध कहा ! इसका तत्त्व क्या है ? तत्त्व तो दोनों में एक ही है, तत्त्व दो नहीं है। तत्त्व दो नहीं हुए, एक ही तत्त्व है।

एकदम स्वच्छ-सुगंधित ठण्डे पानी से नहाते हो तब कोई ऐसा कहे कि थोड़ी-सी विष्टा इसमें डाल दे तो आपको क्या दिक्कत है ? ज्यादा कहाँ है ? सिर्फ चमच भरकर डालनी है। आप पूरे हौज के पानी से नहाते हो, इसमें एक चमच डाल दे तो आपको क्या हरजा है ? एक चमच ही, वह भी साथ में ! एक चमच में भी सिर्फ विष्टा नहीं उसका पानी ही ले लो ! विष्टा भी नहीं, उसे मंद किया हुआ पानी ! विष्टा तो फिर भी घनिष्ट होती है, यहाँ इसका भी प्रवाहीरूप कर दिया हो, बोलिये ? मंद कर डाला हो फिर आपको क्या दिक्कत है ? मंद पानी में आपको क्या दिक्कत है ? अरे...! भाई उसका एक छींटा भी नहीं चाहिए। चमच तो क्या ? उसका एक छींटा भी नहीं चाहिए !

(वैसे यहाँ राग की) जाति को तो पहचानना होगा कि नहीं ? उसकी जाति सर्वप्रथम (स्वरूप) निर्णय के वक्त पहचानी जाती है। निर्णय उसको कहे कि जो स्वभाव जाति और विभाव जाति को पहचाने, जब तो उसे निर्णय कहते हैं। उसकी जाति को पहचाने बिना निर्णय हुआ है, यह बात में दम नहीं है। एक बार इसकी

जाति परख ली बाद में यह इसका राग है, मंद है न ! ऐसा कोई भी बहाना नहीं चलता। किसी भी बहाने वह बात का स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए तो एकदम ज़ोर देकर कहा कि भाई ! वह चुड़ैल है और डाकिन है, वह तुझे खा जाएगी।

कथाओं में तो ऐसा आता है कि भाई ! एक चुड़ैल और डाकिन ऐसी थी कि परी का रूप लेकर आयी। एकदम स्वरूपवान स्त्री बनकर आयी। (अतः) उसके प्रति मोह हो गया। फिर वह उसे खा गई ! ऐसी-ऐसी कथाएँ आती हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि डाकिन और चुड़ैल चाहे कोई भी रूप लेकर आये (परंतु) अगर इसकी जाति की पहचान हो गई, फिर बात खत्म ! फिर उसकी सुंदरता पर मोह नहीं होता।

मुमुक्षु :- शुभराग धर्म का भेस लेकर आता है न !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, शुभराग धर्म का भेस लेकर आता है।

मुमुक्षु :- कठिन लगता है।

पूज्य भाईश्री :- ऐसा सुना नहीं है इसलिए कठिन लगता है। दूसरे प्रकार से सुना है - यह कर्त्तव्य है, आप ऐसा करो, यह धर्म का कारण है, धर्म की नीव है, ऐसा करते-करते धर्म होगा, परंपरा से होगा, ऐसा काफ़ी कुछ उलटा ग्रहण किया है, इसलिए कठिन लगता है। वरना है तो मीठा अमृत जैसा !! शुद्धात्मा की ओर ले जानेवाली बात है, आनंद-अमृत का पान करानेवाली है। सहज, सरल और सुगम है। इतना कठिन नहीं है !

(जिसने कभी) खून देखा न हो वह आपरेशन (शल्यक्रिया) कैसे देख सकेगा ? थोड़ा-सा खून निकलते ही दुःखी-दुःखी हो जाये। काँटा चुभे और खून निकले या छुरी लगने से खून निकले, इतना भी देख न सके, वह (शल्यक्रिया में) छुरा भोंकने पर खून की

धार बहती हो, उसे कैसे देख सकेगा ? जबकि डॉक्टरों को वह सहज हो चुका है। एक साइकालजी ऐसी बन गई। मानस वैसा हो चुका। फट से काटेंगे। दर्दी ज़ोर से चिल्लायेगा वह उसे दिखेगा भी नहीं और सुनाई भी नहीं देगा। यह फोड़े पर जब छुरी चलाते हैं, दबाते हैं, जिसे स्पर्श करना भी मुश्किल हो उसपर तीक्ष्ण धारवाली छुरी चलाते हैं। जैसे तरबूज में छुरी न चलाते हो वैसे करते हैं।

(यहाँ) कहते हैं कि यह तो मानसिक तैयारी का सवाल है। समझ में एक मानसिक तैयारी हो गई कि यह शुभ राग की चाहे जितनी प्रशंसा, तारीफ व महिमा सुनी है, परंतु 'सत्पुरुष - प्रमाणपुरुष' ऐसा कहते हैं कि इससे प्रेम करने जैसा नहीं है। वह तो डाकिन और चुड़ैल जैसी जाति है। उससे प्रेम किया तो वह तुझे निगल जाएगा - खत्म हो जाएगा। फिर जीव को ऐसा नहीं लगता कि ये क्यों ऐसा कहते हैं ? इतना कड़क क्यों कहते हैं ? यह बात नहीं रहेगी।

(अब कहते हैं) 'पापरूपी राग की तो क्या बात,...' वह तो करने योग्य ही नहीं है वह तो निर्विवाद है। 'परंतु जिन्होंने शुभराग, हजारों रानियाँ छोड़कर, राजपाट छोड़कर, पंचमहाव्रत के शुभराग से प्रेम किया है - वे आनंदस्वरूप आत्मा को घायल करते हैं, उसकी हत्या करते हैं।' हत्या करते हैं। ठीक ! जो राग के, अशुभ राग के प्रपंच में रचा-पचा है उसका आत्महित होगा, ऐसा तो खैर कोई नहीं कहता। (तो फिर) धर्मात्मा कोई ऐसी बात करे यह तो प्रश्न ही नहीं है। परंतु शुभराग और वह भी कैसा शुभराग ? कि वैराग्य में आकर जो हज़ारों रानियों को छोड़े, यहाँ तक कि हज़ारों रानियों के वियोग के कल्पांत की ओर देखते तक नहीं।

क्योंकि जब वे रानियों को छोड़ते हैं तब उनको वैराग्य आया है, परिवार में भी सबको वैराग्य आ गया सो बात तो है नहीं। तो क्या ये निर्दय नहीं हुए ? लेकिन वह दृष्टिकोण यहाँ लागू नहीं कर सकते। जब कोई निर्दोषता में आगे बढ़ना चाहता है तब राग के वश दुःखी होनेवाले पर निर्दयता है, ऐसा आरोप नहीं कर सकते। ऐसा यह विषय है और ऐसा तो हर एक विषय में बनेगा।

शराब का निषेध करने से कलाल का धंधा तो टूटेगा, टूटेगा और अवश्य टूटेगा। कलाल मतलब शराब बेचनेवाला। अभी ये Wine shop जो चलाते हैं वे सब सुधरे हुए कलाल हैं। परंतु तब कोई ऐसा कहे कि उसका धंधा टूट जाएगा और उसकी रोज़ी-रोटी को आप लात मार रहे हो, तो क्या करना ? कहना होगा कि भाई ! यह तो अनिवार्य है। इसमें दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह करना अनिवार्य है। अगर उसके पुण्य होंगे तो किसी दूसरे व्यवसाय से पेट भरेगा, लेकिन इसके लिए शराब का अनुमोदन कर लें, ऐसा तो नहीं बन सकता।

सत्-असत् के विषय में ठीक वैसा ही है। आप सत् की प्रसिद्धि करने जाओगे तब इसमें असत्य का निषेध होता है। तब कोई ऐसा कहे कि आप दूसरों पर द्वेष करते हो, परंतु वहाँ द्वेष करने का हेतु नहीं है। हेतु तो सत्य के स्थापन का है, सत् को प्रसिद्ध करने का है। तब अनिवार्यरूप से Side effect कोई न कोई ऐसी आयेगी, उसको ऐसा आरोप नहीं दे सकते। (अतः) आप असत् के प्रति द्वेष करते हो - यह प्रश्न ही नहीं है।

(यहाँ) कहते हैं कि 'जिन्होंने शुभराग, हज़ारों रानियाँ छोड़कर, राजपाट छोड़कर पंचमहाव्रत के शुभराग से प्रेम किया है...' इसमें क्या है इसप्रकार त्याग करनेवाले जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनकी

तो पूर्व की संग सहित स्थिति भी उनके परिवार आदि के साथ इतनी सज्जनतापूर्ण होती है कि, एक तो ममत्ववाला जीव हो उसमें सज्जनता मिलने से ममता बढ़ा ली हो। इस ममता के तीव्र राग वश जब मालूम हो कि अरे...! ये तो हमें छोड़ रहे हैं ! तब मृत्यु तुल्य दुःख होता है। कैसा दुःख होता है ? मृत्यु के वक्त स्वजन के वियोग का दुःख होवे इतना दुःख होता है। परंतु इसका अन्य कोई (उपाय नहीं है)। जब परिणाम बदल गये और राग रहित परिणाम हो गये फिर उसे राग का रंग चढ़ा नहीं सकते। यह परिस्थिति स्वतः पैदा होती है।

कहते हैं कि ऐसा शुभराग, पर पदार्थ के संगमें से दूर होकर असंगता में रहने का जो शुभराग है, इतना ही नहीं अन्य जीवों की (यानी कि) किसी एकेन्द्रिय पर्यंत के जीव को भी दुःखी न हो, इसकी हिंसा न हो, उसे दुःख न हो, जिसके कारण मन-वचन-काया को संयमित रखने के लिए पंचमहाव्रत, २८ मूलगुण का जो शुभराग आता है, उस शुभराग का भी प्रेम कर्तव्य नहीं है, ऐसा कहना है। ऐसे शुभराग का प्रेम भी कर्तव्य नहीं है। हालाँकि इस शुभराग से भी शुद्धात्मा के - अभेद आत्मा का जो सूक्ष्म विकल्प है इसकी कोटि ऊँची है। इसकी मंदता अधिक है। वह शुभराग तो मिथ्यादृष्टि को भी होता है। इसकी (पंचमहाव्रतादि के विकल्प की जाति) से (अभेद आत्मा के विकल्प) की जाति काफ़ी उच्च स्तर की है। परंतु लोगभाग उसे तो नहीं समझ सकते, लेकिन इसे समझ सकते हैं (इसलिए) समर्थ दृष्टांत के रूप में कहा जाता है।

कहते हैं कि ऐसे शुभराग का प्रेम (अर्थात्) ऐसा जो राग का राग, वह भी आनंदस्वरूप का घात करता है, आनंद को उत्पन्न

नहीं होने देता। राग चाहे जैसा भी हो (परंतु) राग का राग कर्त्तव्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि को राग होता है, परंतु उन्हें राग का राग नहीं होता कि यह राग ठीक है - ऐसा उन्हें राग नहीं होता। यह राग भी छोड़ने योग्य है - ऐसा उन्हें ज्ञान वर्तता है। अतः उनका परिणमन ज्ञानमय है, ऐसा कहा जाता है।

जिसको राग का राग है उसे अनंतानुबंधी का राग है। क्योंकि फिर उसका राग... फिर उसका राग... राग का राग... राग का राग, उसे अनंतानुबंधी का राग कहा जाता है। जो कि मिथ्यादर्शन सहित होता है।

(अब कहते हैं) **'वीतरागभाव धर्म है, किन्तु जो रागभाव से धर्म मनवाते हैं वे वीतराग के शत्रु हैं, पापी और मिथ्यादृष्टि हैं।'** वीतराग के मार्ग में **'वीतराग के शत्रु हैं'** ऐसा कहते हैं। 'मार्ग के लुटेरे हैं।' गुरुदेव तो यहाँ तक कहते थे। बहुत कड़क भाषा का प्रयोग करते थे - मार्ग के लुटेरे हैं। जैसे बीच रास्ते पर रोककर कोई लूट ले वैसे ये मार्ग को लूटते हैं।

अन्यमत में तो शुभराग को उपादेय मानकर कई बातें चलती हैं। परंतु वर्तमान प्रसिद्ध संप्रदाय के बुद्धिमानी जीवों में - जैन संप्रदाय के बुद्धिमानी जीवों में यह तत्त्व दाखिल हो चुका है। अरे ! गुरुदेवश्री को सुने हुए कुछएक अपने विद्वानों में भी यह तत्त्व दाखिल हो चुका है !! जैसे यूँ ही राग का सीधा निषेध नहीं करना चाहिए, वह तो परंपरा से मोक्ष का कारण है। राग बिना नहीं चलेगा, शुभ तो करना ही होगा। ऐसी परिस्थिति धीरे-धीरे शुरू हो चुकी है।

देखिये ! गुरुदेव ने तो कितना कड़क विषय लिया है ! 'चुड़ैल है, डाकिन है !!' वास्तव में तो वीतरागभाव धर्म है, इसे कोई रागभाव

से धर्म मनवाये, उसे साधन कहकर धर्म मनवाये, या परंपरा में स्थान देकर धर्म मनवाये, वे वीतराग के वैरी हैं, अरिहंत के वैरी हैं, मुनियों व आचार्यों के वैरी हैं, अनंत ज्ञानियों के भी वैरी हैं, ऐसा कहा ! वह महापापी व मिथ्यादृष्टि है। फिर भले ही वह किसी यम-नियम संयम का पालन करता हो और अन्य छोटे-छोटे पाप भी न करता हो, फिर भी वह महापाप कर रहा है ! ऐसा कहते हैं। महापापी है, मिथ्यादृष्टि है, पूरे मार्ग को उखाड़ने की प्रवृत्ति है !!



'अवलोकन' बिना वेदन सम्बन्धित विषय सहीरूपमें समझमें नहीं आता है। नास्तिरूप भावोंमें आकुलता है, विकल्पमात्र दुःखरूप है इत्यादि आगम, न्याय, युक्ति, अनुमानसे समझमें आनेके बावजूद भी इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके वक्त, इच्छाकी पूर्तिके कारण कषायकी अल्प मंदता, कल्पनामात्र रम्य लगती है। जिसके कारण भोग-उपभोगके भाव - अशुभ भाव जो कि वास्तवमें तीव्र कषायरूप होनेसे तीव्र आकुलता सहित है फिर भी 'अवलोकन'के अभावके कारण उस वक्त दुःख नहीं लगता - नहीं समझमें आता है बल्कि सुखकी भ्रांति चालू रह जाती है; अगर 'अवलोकन' होगा तो ही दुःख भासित होगा और दुःख मिटनेका अवसर आयेगा, दूसरा कोई उपाय नहीं है। ! - पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - ४९९)



•••••

• 'व्रत-तप-जप से आत्मप्राप्ति होगी - यह जिस प्रकार शल्य है उसी प्रकार शास्त्राभ्याससे आत्मा प्राप्त होने की मान्यता भी शल्य है। आत्मवस्तु की ओर दृष्टि करते ही आत्म-प्राप्ति होती है।' ९६.

•



प्रवचन - २, दि. ०४-११-१९८२

परमागमसार, बोल-९६ पत्रा-२० 'व्रत-तप-जप से आत्मप्राप्ति होगी - यह जिस प्रकार शल्य है उसी प्रकार शास्त्राभ्यास से आत्मा प्राप्त होने की मान्यता भी शल्य है।' क्या कहते हैं? थोड़ी कठिन बात है। जगत में व्रत के परिणाम, तप के परिणाम, जप के परिणाम-ये सारे विध-विध प्रकार के राग के परिणाम हैं। वास्तव में ये सब राग के परिणाम हैं। व्रत संबंधित राग, तप संबंधित राग, जप संबंधित राग और क्रिया - उस क्रिया का राग - व्रत की, तप की क्रिया का राग - इससे आत्मप्राप्ति होगी ऐसा जगत में प्रसिद्धरूप से माना जाता है। और यह मान्यता मिथ्या मान्यतारूप शल्य है। शल्य का अर्थ ऐसा है। आसानी से छूटे नहीं ऐसी जो मिथ्या मान्यता उसे शल्य कहने में आता है।

वैसे तो मिथ्यात्व को शल्य कहा जाता है परंतु शल्य का विशेष

भाव ऐसा है कि, उस मान्यता को जीव जल्दी से नहीं छोड़ता। उलटा धर्म के बहाने जब उसे दृढ़ करे तब उसे शल्य हो गया है - ऐसा कहने में आता है। ये सबको तो दृष्टांत में लिया है - व्रत-तप-जप से आत्मप्राप्ति होगी ऐसा जो शल्य, वह तो दृष्टांत है। अतः उसमें तो वाद-विवाद का भी अवकाश नहीं है, मतांतर का सवाल नहीं है कि, इससे आत्मप्राप्ति होगी कि नहीं? वह तो प्रगटरूप से शल्य है। **'उसी प्रकार शास्त्राभ्यास से आत्मा प्राप्त होने की मान्यता भी शल्य है।'** यह विषय हमारे समाज को लागू पड़े ऐसा लिया है। दूसरों की टीका करना तो आसान है कि, जैसे दूसरे लोग व्रत-तप के बाह्य क्रियाकांड में लगे हुए हैं। हम कहाँ बाह्य क्रियाकांड में (धर्म) माननेवालेमें से हैं? परंतु शास्त्राभ्यास का राग और उस राग से आत्मा की प्राप्ति वह जितना शल्य (बाह्य क्रियाकांड में धर्म माननेरूप) है, शायद इससे भी खराब ऐसा यह बड़ा शल्य है ! क्योंकि इसमें थोड़ी ऐसी भ्रांति रह जाती है कि, ये जो शास्त्र अभ्यास है यह तो ज्ञान की क्रिया है। व्रत-तप-जप में तो राग की क्रिया है, जब कि शास्त्राभ्यास में ज्ञान की क्रिया है। अतः इससे तो जरूर मुझे आत्मप्राप्ति होगी, होगी और अवश्य होगी। वह अधिक दृढ़ होती है, इसलिये वह शल्य की अधिक संभवित क्रिया हो गई।

यद्यपि जितने भी लोग शास्त्र अभ्यास करते हैं उन सबको ऐसा शल्य होता ही है ऐसा यहाँ पर कहना नहीं चाहते। परंतु भीतर में ऐसा कुछ हो तो (शल्य हो जाये)। जैसे कोई विशेष-विशेष शास्त्राभ्यास करने के पीछे ज्यादा चिकने राग से प्रवृत्ति करता है। उसे यहाँ लालबत्ती-चेतावनी दी है कि, कहीं तुझे ऐसा शल्य तो नहीं हो गया? कि ये शास्त्राभ्यास करते-करते मुझे आत्मप्राप्ति

हो जाएगी, ऐसा शल्य तो नहीं हो गया ? अथवा ये बाह्य शास्त्राभ्यास में विशेष-विशेष प्रवृत्ति करने का राग जोर कर रहा है तो कहीं शल्य तो नहीं हो गया ? यह विचार कर लेना जरूरी है। ऐसी बात है।

कहना तो ये चाहते हैं कि, आत्मप्राप्ति तो ज्ञान की अंतरंग क्रिया - स्वसन्मुखता की अंतरंग क्रिया से - अंतर्मुखी क्रिया से होती है। प्राप्ति होना माने अनुभव होना - ऐसी बात तो शास्त्राभ्यास दौरान आती है, फिर भी इस शास्त्राभ्यास से आत्मप्राप्ति होना, लाभ होना, इस बात को शल्य के स्थान में रखा जाता है। तो कहना क्या चाहते हैं इसके पीछे ? व्रत-तप-जप में तो अंतर्मुख होने की स्पष्ट बात नहीं आती है। सिर्फ नास्ति का - बाह्य पदार्थ संबंधित त्याग का विषय आता है। जब कि शास्त्राभ्यास में तो यह विषय आता है कि आत्मा है वह अंतःतत्त्वस्वरूप ज्ञायक भगवान, अनंत गुणमय, अंतर तत्त्व है और अंतर्मुख होने पर उसकी सिद्धि, प्राप्ति, अनुभव होता है। अब ऐसी बात जिस शास्त्र-अभ्यास में आती हो ऐसे अभ्यास को जब शल्य कहते हैं तो ये कहना क्या चाहते हैं ? यह विचार करने योग्य है कि, यह विचार भी या शास्त्रों का अभ्यास भी परसन्मुख ज्ञान में शास्त्र के अवलंबनपूर्वक होता है।

गुरुदेवश्री प्रवचन देते, चर्चा करते, समझाते थे तब अनेक मुमुक्षु ऐसा प्रश्न पूछते थे कि, साहब ! अभी और स्पष्ट कीजिए ! दृष्टांत देकर स्पष्ट कीजिए, न्याय-युक्ति से स्पष्ट कीजिए, अभी और ज्यादा स्पष्ट कीजिए, और खुलासा कीजिए। काफी स्पष्टता आने के बावजूद भी ऐसी माँग आती थी। जब ऐसी चर्चा चलती थी तब एक विचार आता था कि, ये जो स्पष्ट करने का कहते हैं उस वक्त पूछनेवाले का जो भाव है उसमें वह मन से विचार करके विषय को स्पष्ट

करना चाहता है। क्या है इसमें ? उसको मन द्वारा जान लेना है कि, आत्मा कैसा है ? और उसका अनुभव कैसे हो ? विषय तो परमार्थ का ही चलता था, अन्य फालतू विषय तो चलता ही नहीं था, फिर भी अधिक स्पष्टता हेतु मनआश्रित उपयोग को खींचना चाहते हैं और वैसे स्पष्टीकरण से जैसे कुछ मिलेगा, कुछ प्राप्त होगा, कुछ मिलेगा, ऐसा जो अभिप्राय है - उस अभिप्राय को यहाँ शल्य कहते हैं।

(यहाँ) कहते हैं कि, तू बहिर्दिशा में - बाह्यदिशा में - बहिर्मुख परिणाम में (शास्त्राभ्यास करे, लेकिन) ज्ञान का परिणाम बहिर्मुख हो (तो उससे आत्मप्राप्ति नहीं है)। राग तो एकान्तरूप से बहिर्मुख परिणाम है ही (उसमें तो आत्मप्राप्ति का) प्रश्न ही नहीं है। (क्योंकि) राग कभी अंतर्मुख परिणामरूप नहीं होता या उत्पन्न नहीं हो सकता। जब कि ज्ञान के दो प्रकार हैं। एक बहिर्मुखज्ञान और दूसरा अंतर्मुखज्ञान। दोनों को ज्ञान ही कहा जाता है। ज्ञान है, ज्ञान का पर्याय है - उसमें शास्त्राभ्यास जो है वह बहिर्मुखज्ञान की पर्याय है। और अंतर अनुभव है वह ज्ञान की स्वसंवेदनरूप अंतर्मुखी पर्याय है। उस ज्ञान में ऐसे दो प्रकार हैं। जिसमें बहिर्मुखता का यहाँ पर निषेध है। शास्त्राभ्यास के बहाने भी अगर बहिर्मुखता का अनुमोदन किया, तो उसमें तो जीव बाह्य दिशा में विशेष प्रगति करना चाहता है। (बात को) खींच-खींचकर, पूछ-पूछकर, समझ-समझकर, जान-जानकर, स्पष्टता को चाहते हुए कहाँ जाना चाहता है ? कि, अगर बाहर (ही) जाना चाहता है तो कहते हैं कि, उसमें एक शल्य पैदा होगा। जिसमें सिर्फ ज्ञान से संबंध नहीं रहता। शल्य कहते हुए गुरुदेवश्री ऐसा कहते हैं कि, यहाँ मान्यता के साथ संबंध है। सिर्फ ज्ञान के (संबंध) का प्रकार नहीं रहता

परंतु यह विषय तेरी मान्यता को स्पर्श करता है। तेरी मान्यता के साथ संबंध रखता है। तुझे पता चले या न चले परंतु उसका जो आग्रह है वह बहिर्मुखज्ञान की प्रधानता है, मुख्यता है। जो तुझे बड़ा नुकसान है। उलटी मान्यता में ले जाएगा और ऐसा लगेगा कि ये शास्त्र के अभ्यास में हम कहाँ नुकसान का काम करते हैं ! ये तो शास्त्र का अभ्यास है, इसमें कहाँ नुकसान होता है ? दूसरी क्रिया व दूसरा राग हो जब तो ठीक है, परंतु यह तो ज्ञान का व्यायाम है, ज्ञान की क्रिया है। और सत्शास्त्रों में भी ऐसा आता है कि, तत्त्वज्ञान जो है, शास्त्राभ्यास है वह सम्यक्ज्ञान का या सम्यक्दर्शन का निमित्त माना गया है। (लेकिन) निमित्त तो कब (कहा जाये) ? कि, नैमित्तिक क्रिया हो तब इसकी अनुकूलता देखकर निमित्त कहने में आता है। नैमित्तिक क्रिया न हो, फिर भी वह निमित्त है - ऐसा तो कभी किसीने नहीं कहा कि, नैमित्तिक क्रिया न हो - सम्यक्दर्शन न हो फिर भी शास्त्राभ्यास को निमित्त कहो ! तत्त्वज्ञान के अभ्यास को निमित्त कहो ! इस तरह निमित्त तो कभी किसीने नहीं कहा।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? कि, 'शास्त्राभ्यास से आत्मा प्राप्त होने की मान्यता...' क्योंकि कोई ऐसा कहे कि, हम ऐसा मानते नहीं हैं, किन्तु जब तक अंतर्मुखता न हो तब तक तो शास्त्राभ्यास करना चाहिए कि नहीं ? ठीक ! परंतु क्या मानकर करना यह सवाल है। क्या तुझे शास्त्राभ्यास का राग और बहिर्मुखज्ञान - उसरूप जो परिणमन चल रहा है, वह परिणमन ठीक है, (अर्थात्) वैसा परिणमन जब चलता है तब उस परिणमन में इष्टपने का-ठीकपने का भाव रहता है ? तो साथ ही साथ वह मान्यता का भाव है। राग चारित्रगुण की पर्याय (है), शास्त्राभ्यास में प्रवर्तित ज्ञानोपयोग - वह ज्ञान की

पर्याय (है)। फिर श्रद्धा ने वहाँ क्या काम किया ? इतना विचार करने योग्य है। श्रद्धा साथ-साथ ऐसा कार्य करती है कि, यह ठीक हो रहा है, यह ठीक हो रहा है, यह हित का कार्य है, यह मेरे कल्याण का कार्य है, ऐसा करते-करते मुझे लाभ हो रहा है - यह शल्य उत्पन्न हो गया! वैसे कभी आत्मप्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहना चाहते हैं। यह बहुत अच्छा बोल है। शास्त्राभ्यास विशेष करते हो ऐसे जीवों के लिए इसमें बहुत सूक्ष्म मार्गदर्शन है।

कहते हैं कि, (शास्त्राभ्यास की प्रवृत्ति को) मान्यता के साथ क्या संबंध है ? यह देखना है। उस शास्त्र-अभ्यास में जो ऐसा फरमान आता है, शास्त्रकर्ता का ऐसा फरमान आता है कि, सन्मुख हो जाओ ! आत्मा के सन्मुख हो ! उस वक्त उसे यह पता चलता है कि, ये जो मैं शास्त्र के सन्मुख हो रहा हूँ, ज्ञान श्रुत के शब्दों का अवलंबन लेता है - इसकी तो 'ना' कहते हैं। ऐसा जो शास्त्र का फरमान है कि, अंतर्मुख हो जाओ ! उसमें शास्त्र के अवलंबन की ही 'मनाई' की है, उसमें निषेध है। उस शास्त्र की ओर के उपयोग को मोड़कर अंतर्मुख होना, ऐसी अंतर्मुख होने की वहाँ उसे एक प्रेरणा होनी चाहिए। शास्त्र की आज्ञा से तो अंतर्मुख होने की अंतर प्रेरणा होनी चाहिए और इसके अनुरूप उसका अंतर्मुख होने का कुछ प्रयास चलना चाहिए। इसके बजाय वह विषय ही बिलकुल छूट जाए, उस विषय का खयाल भी न रहे, वह विषय (ही) एक तरफ रह जाए और शास्त्र का अधिक अभ्यास (करना), अधिक शास्त्र पढ़ना, अधिक सुनना, अधिक अभ्यास करना और इसमें स्थूलरूप से या सूक्ष्मरूप से लाभ होने का, हित होने का भाव-अभिप्राय - ऐसे मिथ्यात्व के अभिप्राय का यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। भले ही ऐसे परिणाम सूक्ष्म हो चाहे स्थूल हो, वह जीव

को मिथ्यात्व का शल्य है - ऐसा कहते हैं।

ऐसा विषय शायद ही कभी आता है। क्यों ? कि, मुख्यरूप से गुरुदेवश्री ने शास्त्र-स्वाध्याय के व्यवहार को स्थापित किया है और अकसर मुमुक्षुओं को ऐसी सूचना दी है कि, मुमुक्षुजीव को दिन में एक घण्टा, दो घण्टा, चार घण्टा शास्त्रस्वाध्याय करना चाहिए। इस बीच ऐसी बात शायद ही कभी आती है। कि, 'व्रत-तप-जप से आत्मप्राप्ति होगी - यह जिस प्रकार शल्य है उसी प्रकार शास्त्राभ्यास से आत्मा प्राप्त होने की मान्यता भी शल्य है। शास्त्राभ्यास करनेवाले को सूक्ष्मरूप से ऐसा शल्य रहता है।

कहते हैं कि; यहाँ भी - ऐसी विपरीत मान्यता में भी मुमुक्षुओं को गुरुदेवश्री रहने देना नहीं चाहते। बिलकुल स्पष्ट बात आयी है न ! गोल-गोल घुमाकर और झूठा आश्वासन देकर (नहीं कहते) किसी को बुरा लग जाएगा ज्यादा शास्त्र-अभ्यासी होगा उसे थोड़ी चोट लग जाएगी। मान्यता का जो विषय है वह मवादयुक्त फोड़े के जैसा है। मान्यता को स्पर्श करते ही अंदर गड़बड़ी होने लगेगी। शास्त्राभ्यास का राग हो चुका हो और मान्यता हो चुकी हो तब ऐसे जीव को दुःख लगता है कि, अरे ! ऐसी बात आती है ? हमें तो यह बात अच्छी नहीं लगती, पहली बात तो ठीक है - व्रत करनेवाले को, उपवास करनेवाले को ज्यादा ठपका दिया हो तब तो राजी होगा। परंतु जैसे ही उसकी खुद की श्रद्धा को स्पर्श करे ऐसी बात आएगी कि नाराज़गी हो जाएगी, (तो) यह कोई सुपात्रता की निशानी नहीं है !

इसमें ऐसा है कि, पात्रता के साथ जहाँ तक संबंध है वहाँ तक पात्रता तो एक ऐसी चीज़ है कि, जीव का हित हो ऐसी कितनी भी बातें सामने आए, सब उसे रुचती हैं। और खुद की

मान्यता में स्थूल या सूक्ष्म भूल या कोई ग्रंथी रह गई हो (और ऐसी कोई खास बात आए तब तो उसे प्रमोद आएगा। इतना प्रमोद आएगा कि अरे ! यह तो मेरे परम हित की बात कर दी। यदि यह बात नहीं करते तो मैं भूल में रह जाता। इनके जैसा मेरे लिए उपकारी कोई नहीं है। इतना अत्याधिक प्रमोद उसे आता है। वह उसकी सुपात्रता की - पात्रता की निशानी है। जो अपात्र-कुपात्र होता है उसे तब दुःख लगता है कि, यह बात हमें तो इतनी नहीं सुहाती। दूसरी सब बातें ठीक हैं। परंतु यह बात जैसे ही उसकी मान्यता को स्पर्श करेगी कि चिल्लाएगा ! और ऊहापोह करेगा कि, नहीं ! ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसा नहीं... ऐसा नहीं... ऐसा नहीं.. - जो उसकी अपात्रता को सूचित करता है।

इसलिए श्रीमद्जी ने लिखा है न ! **वचनामृत वीतरागना परम शांतरस मूल** परम शांतरस के मूल ! इतना महत्त्व देकर स्थापित किया है। परम शांतरस के मूल - ऐसे जो सिद्धांत हैं, एकान्तरूप से जीव को अंतर्मुख करानेवाले जो सिद्धांत हैं, शांतरस में जीव को सराबोर कर दें - डूबो दें ऐसे सिद्धांत (भी), कायर जीवों को - अपात्र जीवों को प्रतिकूल लगते हैं, उसे वे नहीं सुहाते, उसे अरुचि हो जाती है।

क्योंकि (यहाँ) कठोर शब्द है न ! **शल्य है** ऐसा कह दिया है ! शल्य है - यह थोड़ा कठोर लगता है कि, अरेरे...! शास्त्र पढ़ते हैं, इतने-इतने हम शास्त्र पढ़ते हैं, इतना-इतना हमारा शास्त्राभ्यास फिर भी हमें शल्य है ऐसा कह दिया ! लेकिन इसमें क्या हो गया, अंगपूर्व का शास्त्राभ्यास तो अभवी को भी होता है ! ग्यारह अंग और चौदह पूर्व तक तो अभवी भी पहुँचता है, जब कि तेरा तो इसके लाख वें भाग का भी नहीं है, एक सो सहस्त्रांश

में भी इसका अंश नहीं आता, इतना कम उघाड़ वर्तमान प्राणी को होता है। मतलब इसकी कोई उतनी कीमत नहीं है परंतु बाह्यदृष्टि जीवों को मोह होता है। बाह्य परिणाम और बाह्य क्रिया पर मोह होता है। किसी को क्षयोपशम का मोह होता है तो किसी को क्षयोपशम के अनुसार भाषा शैली आती है उस पर मोह होता है।

बाह्यदृष्टि जीवों को भाषा का मोह होता है। भाषा की चमक पर आकर्षण होता है। विद्वता जो होती है उसमें शब्द संपत्ति ज्यादा होती है, साथ-साथ विचारों को व्यक्त करने का कुदरती भाषा और क्षयोपशम को निमित्त-नैमित्तिक मेलवाला संबंध (भी) होता है। और ऐसा कुछ एक जीवों को होता है, अतः बाह्यदृष्टि जीवों का वह आकर्षण का विषय बनता है कि, 'बहुत सुंदर ! इतना अच्छा बोल सकते हैं ! ऐसा तो हमें कहीं सुनने नहीं मिलता। (लेकिन) भाई ! यह विषय इसतरह ग्रहण करने योग्य नहीं है। तत्त्व कितना आता है ? तत्त्व कितना व्यक्त होता है ? उसके शब्द कैसे हैं इसके साथ मतलब नहीं है। परंतु जो भी शब्द हो इससे तत्त्व का भाव कितना व्यक्त होता है ? कितने रसपूर्वक व्यक्त होता है ? कितनी गहराईपूर्वक व्यक्त होता है ? इसके साथ दूसरे जीव को (आत्म) प्राप्ति-अप्राप्ति के विषय में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यह देशनालब्धि का विषय है न, इसमें यह रहस्य है कि, ज्ञानी के एक वचन से भी आगम जितना काम होता है ! जैसे अधिगमज (सम्यग्दर्शन होने में) देव-गुरु और शास्त्र के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है। वैसे प्रत्यक्ष ज्ञानी के एक वचन से आगम जितना ज्ञान होता है। अनंत आगम का ज्ञान होता है, क्योंकि उसमें अनंत आगम का रहस्य है। परंतु अज्ञानी के हजारों पुस्तकों से, लाखों पुस्तकों से किसी को कभी भी अपवादरूप से भी सम्यक्ज्ञान हो ऐसी स्थिति

नहीं बनती। ऐसी परिस्थिति ही नहीं है। 'न भूतो न भविष्यति' - अशक्य वस्तु है। यहाँ (ज्ञानी के वचन में) शक्यता रही है।

ये धर्मदासजी क्षुल्लक को देखते हैं (तो उनमें) विद्वता बहुत कम (दिखेगी)। इतने छोटे-छोटे चार-पाँच ग्रंथ की उन्होंने रचना की है। इसमें भी एक 'स्वात्मानुभव मनन' नामक उनका ग्रंथ है। स्व+आत्मानुभव+ मनन - ऐसे नाम से बहुत छोटा-सा ग्रंथ है। उसमें तो सिर्फ आत्मा का मनन जो उनको चलता है उसीको उन्होंने व्यक्त किया है। भाषा की शैली देखे तो विद्वता की दृष्टि से विद्वानों को ऐसा ही लगे कि, ये किसी अनपढ़ आदमी ने लिख दिया हो, ऐसा ही लगे ! विद्वान को ऐसा लगे कि, ये इसमें कोई ठिकाना नहीं है, ऐसा लगे। भाषा का मेल नहीं खाये। परंतु उसमें जो भाव भरा है, वह तो यदि कोई आत्मा का मनन करनेवाला जीव हो तो उसके हृदय में (ही) बस जाए ! - ऐसे भाव हैं इसमें। ऐसा घोलन व मनन लिया है ! कुछ एक शब्द तो बारंबार आते हैं। लेकिन बहुत सुंदर !

अब, इसमें जो 'सरस' है, उसकी स + रसता की परीक्षा करनेवाला चाहिए। बाह्यदृष्टिवाले को वह सरस नहीं लगता। अंतर्दृष्टिवाले को वह सरस लगता है। स+रस, यद्यपि सरस का अर्थ ही ऐसा होता है। - जो रस सहित हो वह सरस। रससहितपना हो, लेकिन अगर आत्मा के विषय में आत्मरस संपन्नता न हो तो उसमें सरसता क्या रही ? कि, कुछ नहीं। जो आत्मिक विषय है, आत्मा संबंधित विषय है उसमें अगर आत्मिक रस की उत्पत्ति न हो तो उसमें इसकी सरसता नहीं है।

टोडरमल्लजी ने तो बहुत स्पष्ट किया है। यह जो वक्ता का स्वरूप लिया है उसमें स्पष्ट बात की है कि, जैनदर्शन में तो

अध्यात्मरसमय वक्ता हो, वही वक्ता है। पद्धतिबुद्धि से कोई शास्त्र का स्वाध्याय या वक्तृत्व करता है तो वह सुनने योग्य भी नहीं है। ऐसा लिखा है, भाई ! पद्धतिबुद्धि से शास्त्र की पद्धति समझाता हो - जैसे इस पद्धति से ऐसा है, यहाँ यह पद्धति है, यहाँ ऐसी पद्धति है, यहाँ ऐसी पद्धति है। पद्धतिबुद्धिवाले तो सुनने योग्य नहीं हैं, ऐसा लिखा दिया है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की एकदम शुरुआत में यह विषय चला है। इस विषय पर गुरुदेवश्री के प्रवचन हुए हैं। और इस विषय पर भी (इस परमागमसार में) कुछ एक बोल छाँटकर लिये हैं। थोड़े पीछे के भाग में लिया है। बोल - ९७५ है। 'सर्व विद्याओं में आत्मविद्या को ही प्रधान बतलाया है।' पन्ना - १९५ है। 'सर्व विद्याओं में आत्मविद्या को ही प्रधान बतलाया है। उस अध्यात्मविद्या का रसिक-वक्ता हो तो शोभास्पद है।' अर्पितरूप से सीधा लिया है। अनर्पितरूप से अध्यात्मविद्या का रसिक न हो, वह शोभा नहीं देता। सोगानीजी ने कहा है, शास्त्र के अनुसरणपूर्वक आत्मरसरहित तेरी भाषा आती है, (वह) हमको तो कागपक्षी जैसी लगती है। आता है ? कौआ बोलता है वह जैसे कठोर लगता है, वैसे आत्मरस विहीन जो वाणी है (वह कागपक्षी जैसी कठोर लगती है)।

ये शैली तो देखो गुरुदेवकी ! क्या स्थापित करते हैं हरएक जगह ! 'आत्मा ज्ञानान्दस्वरूप है। जिसे इसकी दृष्टिपूर्वक...' (यानी कि) उसकी हस्ती जिसकी नज़र में आती है, 'संसार का रस छूटा है...' - बाह्य उघाड़, बाह्य पदार्थ, बाह्य संयोग व बाह्य तत्त्वों का रस जिसे छूटा है, 'वह अध्यात्म-रस का रसीया है।' उसे अध्यात्मरस का रसीया कहते हैं। वह विषय लिया है। परंतु अन्यत्र कहीं तो पद्धतिबुद्धि का ही विषय लिया है।

८४० वें बोल में है। 'हर किसीसे धर्म-श्रवण करना - यह कोई पात्रता नहीं है।' सुनानेवाला कोई मिलना चाहिए, चलो चलते हैं - यह कोई पात्रता की निशानी नहीं है। 'हर किसीसे धर्म-श्रवण करने में तो वक्ता की अपेक्षा श्रोता की पात्रता हीन है - इस प्रकार अपनी ही हीन योग्यता व्यक्त होती है।' हर-किसी को यदि तू सुनने जाता है तो इसमें तेरी (हीन योग्यता की) ही प्रसिद्धि होती है, भाई ! क्यों (ऐसा कहा) ? इसका कारण है कि, वह - (सुननेवाला) उसे अनुमोदन दे रहा है - कि, जैसे वक्ता के रूप में तुम रहो में तुम्हें सुनने आया करूँगा। वह इस तरह उसे Direct अनुमोदन देता है। इसलिए (ऐसा कहा)। 'वक्ता कैसा है ? उसके प्रमाणानुसार ही श्रोता की योग्यता / स्तर सिद्ध होता है।' गुरुदेव ने तो बहुत-सी बातें खोली हैं न ! 'क्योंकि ऐसे श्रोता, वक्ता की विपरीत मान्यता-श्रद्धा के अनुमोदक हैं।' बहुत गंभीर विषय है ! ऐसे ही नहीं चलता। 'कृत-कारित-अनुमोदन - इन तीनों का फल एक ही है।' - दूसरा फल नहीं है।

ऐसे ही ८४१ में भी है। 'जिसे अध्यात्मरस द्वारा-आत्मा के शांतरस द्वारा - निज-स्वभाव का यथार्थ अनुभव न हुआ हो, वह वीतराग-दिगंबर जैनदर्शन के रहस्य को नहीं जानता।' अनुभव बिना अनुभव के रहस्य को नहीं जानता। 'जो वीतरागी-संतों के कहे हुए मर्मों को नहीं जानता, वह मात्र पद्धति द्वारा ही वक्ता होता है।' यह मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रवचनों पर से लिया है। इस प्रकार पद्धति द्वारा कोई वक्ता (वक्तव्य देता) हो तो ऐसे वक्ता को यहाँ मान्य नहीं करते।

मुमुक्षु :- ८४३ लीजिए !

पूज्य भाईश्री :- 'यदि धर्म-बुद्धिवान वक्ता उपदेशदाता हो तो

वह अपना भी हित करता है तथा दूसरों के हित होने में निमित्त बनता है। परंतु जो परंपरा चलाने हेतु... हमारी यह परंपरा टूट जाएगी, अतः यह परंपरा चालू रखो ! स्वाध्याय की परंपरा चालू रखने के लिए चाहे कोई भी हो, किसी को भी आमंत्रित करो !! 'परंपरा चलाने हेतु कषायबुद्धि द्वारा उपदेश देता है...' वह कषायबुद्धि का उपदेश है। 'वह अपना तो बुरा करता ही है, दूसरों का बुरा होने में भी निमित्त होता है।' ये सारे बोल इस विषय पर ही हैं। एक साथ उन सारे प्रवचनों को पढ़ा था, उसमें से पसंद किये हैं।

८४५ बोल। '(सच्चा) श्रोता, शास्त्राभ्यास का रसिक होता है तथा धर्मबुद्धि पूर्वक निंदनीय कार्यों का त्यागी होता है। मद्य-मांस-मधु, त्रसजीवयुक्त-भोजन, पुरुष को परस्त्री व स्त्री को पर-पुरुष का सेवन आदि तो साधारण लौकिक-नीति में भी नहीं होते; अतः श्रोता तो ऐसे निंद्य-कार्यों का त्यागी ही होता है।' वक्ता नहीं किन्तु श्रोता के विषय में भी लिया है। धर्मबुद्धिवान श्रोता हो, उसे तो लौकिक निंद्य कार्य भी नहीं होते।

८४६, सब वक्ता-श्रोता संबंधित ही बोल हैं। 'जैनशास्त्र के - वीतरागता, स्वतंत्रता के न्याय-मर्म को समझनेवाला श्रोता ही विशेषरूप से शोभित होता है। पर ऐसा होने पर भी उसे यदि आत्मज्ञान न हो तो वह उपदेश का मर्म नहीं समझ सकता। आत्मज्ञान - रहित हो तो भी उसे आरंभ से ही तद्रूप दृढ़-आस्थावाला तो होना ही चाहिए।' कि जैसे जो कुछ मुझे विचार करना है उसमें निर्दोषता व वीतरागता को मुख्य रखते हुए विचार करना है। 'जिसे देव-गुरु-शास्त्र की ऐसी श्रद्धा नहीं है उसकी तो सामान्य श्रोताओं में भी गिनती नहीं होती। अतः जो आत्मज्ञान-द्वारा स्वरूप का आस्वादी

हुआ है वही जैनधर्म के रहस्य का श्रोता है।

८४७ में भी लिया है। 'जो मान हेतु - 'हम कुछ जानते हैं' - यह प्रदर्शित करने के लिए प्रश्न करते हैं, वाद-विवाद करने का अभिप्राय रखते हैं; अपनी बड़ाई का भाव रखते हैं; सुनकर दूसरों को बतलाने का अभिप्राय रखते हैं; इस प्रकार शास्त्र सुनें, पढ़े व सुनाएँ व उस धारणा से बड़ाई पाने, वक्ता होने, मान-अर्जन हेतु पढ़ते तथा पढ़ाते हैं, वे सभी केवल पापबंध करते हैं।' कहने में कोई कसर नहीं रखी ! उसमें तो पुण्य बंध भी नहीं है। धर्म तो बहुत दूर है किन्तु उसमें तो पुण्य भी नहीं रहता।

'वैसे ही जो शास्त्र तो सुनते हैं - परंतु कहते हैं कि (आप) किसी के परोपकार करनेकी बात तो नहीं करते,...' आप गरीबों को भोजन कराओ ! कुछ परोपकार करो ! कोई भूखा हो उसे खाना दो ! 'लोगों को रोटी नहीं मिलती, काम नहीं मिलता, अतः उसका खयाल रखनेकी बात तो नहीं करते; और यह आत्मा-आत्मा की बात करते हो - इस प्रकार जिन्हें तत्त्व की बात रुचिकर नहीं लगती वे एकांत पापबन्ध करते हैं।' काफी बातें की हैं !

इस तरह शास्त्राभ्यास जो है उसमें चारों पहलू से एकान्त निर्दोषता को पुष्टि कैसे मिले ? और कैसे वह प्राप्त हो ? यह एक ही विषय है। यह वीतरागता का दृष्टिकोण लक्ष्यबिंदु के स्थान में रहना चाहिए। उसमें चुकना नहीं है। दूसरी सब जगह ढीला छोड़ सकते हैं परंतु वीतरागता के ध्येय में, वीतरागता की मुख्यता में, वीतरागता की प्राप्ति में, इसमें कोई अन्यथापना नहीं हो सकता।

(यहाँ) कहते हैं कि, 'आत्मवस्तु की ओर दृष्टि करते ही आत्मप्राप्ति होती है।' आत्मप्राप्ति तो अंतर में जो परमात्म तत्त्व है उस परम तत्त्व के सन्मुख दृष्टि करे, उसकी हयाती जिसकी दृष्टि

में आए या बसे, वस्तु तो बसी हुई है ही परंतु दृष्टि में नहीं बसी इसलिए उसका स्वीकार नहीं है ऐसा गिनने में आता है, परंतु जिसकी दृष्टि में वस्तु की हयाती बस गई उसको उसका वेदन आता है। दृष्टि में अकेली शुष्क हयाती नहीं बसती। दृष्टि में जब हयाती बसती है तब उस वस्तु की अनंत शक्तियों का, अनंत गुण के रस का वेदन आता है। ऐसी दृष्टि होते ही, ऐसी दृष्टि करते ही आत्मप्राप्ति होती है अथवा उसे आत्मअनुभव हुआ ऐसा कहा जाता है। आत्मा तो प्राप्त है ही फिर भी यहाँ प्राप्ति क्यों कही ? कि, अनुभव में आया तब उसे प्राप्ति कही। अनुभव में नहीं है तब तक होते हुए भी उसे प्राप्ति नहीं ऐसा कहने में आता है। ऐसी आत्मप्राप्ति के लिए तो ज्ञानादि सर्व गुणों के परिणाम अंतर्मुख होते हैं, उसके बजाय बहिर्मुख शास्त्राभ्यास में जो ज्ञान का उपयोग अटकता है, अटकता है तब तक तो ठीक है लेकिन अटकता है उसमें लाभ होता है ऐसा जिसको भाव आता है - अभिप्राय होता है, उसे सीधी उलटी मान्यता का शल्य खड़ा हो जाता है। उपयोग तेरा शास्त्र के प्रति जाये यह इतना दोष नहीं है (कि) जितना उस उपयोग से लाभ माना जाए।

ज्ञानी का उपयोग भी शास्त्र पर जाता है, आचार्य और गणधर भी शास्त्र की रचना करते हैं, परंतु वे कभी ऐसा नहीं कहते या नहीं मानते कि, परसत्तावलंबी ज्ञान है सो मोक्षमार्ग है। ये चिट्ठी में स्पष्ट है, बनारसीदासजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में यह विषय स्पष्ट है कि, कोई भी मोक्षमार्गी धर्मी जीव परसत्तावलंबी ज्ञान को मोक्षमार्ग नहीं कहते। ऐसे शब्द पड़े हैं। अतः ज्ञानी-धर्मी का उपयोग शास्त्र में जाये तो भी शास्त्राभ्यास का उपयोग लाभ का कारण है, ऐसा शल्य ज्ञानी को नहीं होता। ऐसा शल्य ज्ञानी को नहीं होता इसका

अर्थ कि अज्ञानी को जब तक ऐसा शल्य रहता है तब तक ज्ञानप्राप्ति नहीं होती।

अतः शास्त्र स्वाध्याय करनेवाले जीवों को यहाँ पर बचाया जाता है कि, देख लेना भाई ! तू शास्त्र-स्वाध्याय की प्रक्रिया में है तो सही लेकिन इतनी सावधानी भीतर में रखकर चलना है, वरना तू ऐसा तो फँसेगा कि, उस फँसावमें से बाहर निकलना आसान नहीं है - बहुत मुश्किल है। इस प्रकार इस बोल में शास्त्रस्वाध्याय के विषय में भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण आया है। ९६ बोल पूरा हुआ।



जब तक पुद्गल विषयोंमें दृढ राग रस है तब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि तब दर्शनमोहका प्राबल्य वर्तता है। ऐसे दृढ राग-रसको तोड़नेके लिए निजदोष दर्शन अनिवार्य है। इसके बिना यह महा विपरीत स्वभावको आवरण करनेवाले भाव आड़े आकर दिक्कत खड़ी करते हैं। स्वभाव दर्शन होने नहीं देते। अतः रागरसको मिटानेके लिए स्वदोषका अवलोकन वह अमोघ उपाय है। दरिद्रीको अगर धनवानकी संपत्ति देखने या स्पर्श करने मिल जाये, तो इससे उसको कोई प्राप्ति नहीं हो जाती; वैसे ही परिणाम दरिद्रीको (पुद्गलकी याचनावालेको, विषयीको) आत्माके श्रवण, मननसे भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह अनुभवका विषय है, इसलिए।

-पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - ६२३)



• तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है।
• पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर। दृष्टि में विकल्प
का त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता
• है - यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण
• है। ९९.



प्रवचन - ३, दि. ०६-११-१९८२

(परमागमसार) ९९ नंबर का बोल है। 'तूँ पहले चारित्र-दोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर। क्या कहते हैं ? कि, सामान्यतया मार्ग का पता नहीं है ऐसे जीवों को, अनेक प्रकार के व्रत-संयम व बाह्य त्याग (करने के) पुरुषार्थ की प्रेरणा होती है। इस पदार्थ का त्याग करूँ तो इसका राग नहीं होगा, यह कार्य न करूँ तो इसका राग नहीं होगा, वैसे खाना-पीना (इत्यादि) अनेक प्रकार के बाह्य त्याग में (जीव) परिणमन करता है। वास्तव में तो आत्म स्वभाव में स्थिर (हो), स्थिरता बढ़े, स्वभाव स्थिरता आने पर अनेक प्रकार के बाह्य विषयों में वृत्ति ही न जाये और परिणामतः बाह्य संयोगों का अभाव हो उसे

वास्तविक त्याग कहा जाता है। यह मोक्षमार्ग की वास्तविक पद्धति है।

ऐसा हुए बिना - स्वरूप स्थिरता हुए बिना आगे से बाह्य पदार्थ का त्याग कर ले और बाह्य पदार्थ के त्याग से खुद को उस पदार्थ संबंधित राग के अभाव की इच्छा रखें या ऐसा माने कि इन-इन पदार्थों के लिए मेरा इस प्रकार का नियम है, व्रत है, संयम है, अतः ऐसा राग मुझे नहीं है या उसका त्याग करने से तत्संबंधित राग (का) मुझे अभाव हो जाएगा। यह पद्धति बिलकुल उलटी - विपरीत है। उलटी पद्धति है। वास्तव में राग का अभाव ऐसे नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि स्वरूप-स्थिरता होने के पहले, क्या व्रत-नियम-संयम अंगीकार नहीं करना ? ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। (लेकिन) भाई ! शुभराग सहजरूप से आता हो तो सहजरूप से आये हुए शुभराग को 'नहीं करना' यह प्रश्न भी नहीं है क्योंकि 'करना' यह प्रश्न भी नहीं है। जहाँ 'करने का' प्रश्न नहीं है वहाँ 'नहीं करने का' प्रश्न स्वतः रहता ही नहीं। जो शुभराग सहज आये तो भले ही सहज आये परंतु उसमें जो शुभराग आया कि इतना में व्रत लूँ, इतना नियम का मैं पालन करूँ, इतने संयम का पालन करूँ, इससे वह कोई मार्ग है, ऐसा विचार कर्तव्य नहीं है या ऐसा मान लेना भी ठीक नहीं है। इतना स्पष्टीकरण है।

इसलिए ऐसा लिया है कि चारित्रदोष टालने का तू प्रयत्न करता है (इसके बजाय) दर्शनशुद्धि का प्रयत्न पहले कर। (इसमें) हेतु आ जाता है। चारित्रदोष अर्थात् रागादिभाव उसे टालने का तू प्रयत्न करता है, और वह भी दर्शनशुद्धि होने के पहले ऐसा प्रयत्न करता है, तो यह पद्धति तो ठीक नहीं है। इसके पहले

तू दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर। दृष्टि में जो शुद्धता आनी चाहिए या श्रद्धान को जो स्वरूप का विषय मिलना चाहिए, (इसके बजाय) वह श्रद्धा स्वरूप का ग्रहण तो न करे किन्तु श्रद्धा राग को ग्रहण करे तो परिस्थिति कैसी हुई ? कि जिस श्रद्धान में स्वरूप का ग्रहण नहीं है, उस श्रद्धान में रागादि अन्य तत्त्व का ग्रहण है। श्रद्धा ने तो राग को ग्रहण किया हो, फिर राग छोड़ना है यह बात बनेगी कहाँ से ? चारित्रदोष टालना है माने राग टालना है, जब कि श्रद्धा में राग को ग्रहण किया हो फिर वह राग टालने का अवसर आयेगा क्या ? कोई प्रसंग आयेगा ? कि, (फिर तो) राग किसी भी हालत में नहीं मिट सकता।

जैनदर्शन में ही यह पद्धति है कि आत्मा जो है - वस्तु - उसका विज्ञान ही ऐसा है कि, यदि प्रथम उसकी दर्शनशुद्धि हुई तो ही वास्तविक शुद्धि की शुरुआत होने के साथ पूर्ण शुद्धि तक उसकी अवस्था होगी। यह तो वस्तु के विज्ञान अनुसार है। अब, यह दर्शनशुद्धि का विषय ही पूरा इतना सूक्ष्म व अनुभवगम्य है कि, दर्शनशुद्धि में आने के पहले प्रायः जीव जैन हो चाहे अजैन, कहलाने में जैन हो चाहे अजैन, वे चारित्रदोष टालने का प्रयत्न करने लगते हैं। ऐसा प्रसिद्धरूप से देखा जाता है। भाई ! ऐसा करते हैं कि नहीं ? इतना, इस प्रकार करते हैं कि नहीं ? ऐसी क्रिया करते हैं कि नहीं ? ऐसा करते हैं कि नहीं ? हररोज भगवान के दर्शन करते हैं या नहीं ? पूजा करते हैं या नहीं ? वहाँ से लेकर इतना छोड़ा है या नहीं ? इतना तो त्याग है या नहीं ? इत्यादि अनेक प्रकार से राग कितना है, कितना नहीं ? कौन-सा होता है और कौन-सा नहीं ? अशुभ कितना होता है, कितना नहीं ? शुभ कितना होता है, कितना नहीं ? इस तरह चारित्र

के दोष पर जब तक दृष्टि है या चारित्र के परिणाम पर दृष्टि है, उसके सद्भाव या अभाव पर (दृष्टि है), तब तक उससे रहित ऐसा जो शुद्धात्मस्वरूप है, उसका श्रद्धान कैसे होगा ? और ऐसा दर्शनशुद्धि का प्रयत्न ही न करे, उस प्रकार का प्रयत्न न करे, दर्शनशुद्धि होना अर्थात् शुद्ध श्रद्धान होना-आत्मश्रद्धान होना, उस प्रकार का प्रयत्न ही न करे, तो (दूसरें जो भी) प्रयत्न हैं सब अन्यथा प्रयत्न हैं। वह मार्ग अन्यथा मार्ग है या उन्मार्ग है, या उसे अन्यमत कहा जाता है। अन्यमत कहो, उन्मार्ग कहो, अन्यमार्ग कहो, सब एकार्थ हैं।

मुमुक्षु :- अशुभ से बचे उतना लाभ नहीं ?

पूज्य भाईश्री :- अशुभ से बचा लेकिन राग की श्रद्धा करता है उसका नुकसान क्यों नहीं देखते हो ? अशुभ से बचने का लाभ देखने का मन होता है लेकिन राग का श्रद्धान तीव्र हुआ - यह जो बड़ा नुकसान होता है वह क्यों नहीं दिखता ? यह मेरा प्रश्न है।

मुमुक्षु :- दर्शनशुद्धि करने के प्रयत्न में सहचर राग कौन-सा और कितना हो सकता है ?

पूज्य भाईश्री :- वह देखना ही नहीं है। (यहाँ तो) दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना है।

मुमुक्षु :- यह तो मेरा स्वाभाविक प्रश्न है जैसे कि, मैं मांस नहीं खाता तो वैसे स्वाभाविक सहचर राग कैसा हो सकता है ? व्रत-नियम-तप ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, सामान्यरूप से स्वाभाविक सहचर राग तो तत्त्वज्ञान के विचार विषयक राग का परिणमन होता है। सामान्यरूप से देखें तो (ऐसा होता है बाकी) विशेषरूप से जिसका जैसा उदय।

भिन्न-भिन्न जीवों को, जिसको जैसा उदय हो (उसे) उस-उस प्रकार का शुभाशुभ राग होता है। क्योंकि कर्म का उदय और उसका अनुसरण करना, यह तो अनादि से सहज है, परंतु जो जीव दर्शनशुद्धि की ओर मुड़ता है, उसको अंदर में तत्त्व-विषयक जो विचारणा है, उस प्रकार का तत्त्वज्ञान के राग का - विकल्प का उत्पन्न होना, वह सामान्य है। दर्शनशुद्धि होने के साथ-साथ ऐसा सबको होता है।

मुमुक्षु :- अभक्ष्य से छूटा हुआ हो, ऐसा नियम नहीं है ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। अब एक सामान्य (नियम) जब लेना है न ! (तो) चारों गति के जीव लेने पड़ेंगे। चारों गति के जीव लें तो भगवान महावीरस्वामी दसवें - सिंह के भव में हिरन को मारकर खाने की वृत्ति में तत्पर थे। क्या हुआ था ? यह चित्र है न ! दसवें भव में सम्यग्दर्शन हुआ, इसके पूर्व की क्षणों को यदि देखा जाये, तो उन्होंने अभक्ष्य कब छोड़ा था ? कि छोड़ा ही नहीं था। जब उन्हें भूख लगी और हिरन को देखा, (फिर) हिरन को मारा, मार दिया तब तक तो खाने की वृत्ति थी। फिर जैसे ही ऊपर से मुनियों को उतरते हुए देखा तब आश्चर्य हुआ। सिंह का जीव है न ? अतः सर्व प्रथम तो आश्चर्य हुआ कि, अरे मनुष्य आदि प्राणी मेरे जैसे क्रूर प्राणी (से), मुझे तो देखते ही दूर भागते हैं, जब कि ये मनुष्य सामने से चले आ रहे हैं। यह क्या ?!! इतना ही नहीं, सामान्यरूप से उसने मनुष्य को ज़मीन पर चलते हुए देखा है, जब कि ये चारणमुनि (कि, जो) चारणऋद्धिधारी हैं, आकाशगामी विद्या साध्य होने से जो आकाश में विहार करते हैं। (उन्हें) आकाशमें से उतरते हुए देखा इसलिए थोड़ा विशेष कुतूहल हुआ। दो प्रकार का कुतूहल हुआ

था। जिससे उसका हिरन को मारकर खाने का जो तीव्र कषाय था वह तब मंद हो गया - कुतूहलवश-जिज्ञासावश। इसे जिज्ञासा कहे चाहे कुतूहल कहे (उससे ही कषाय मंद हो गया)। लेकिन क्या संकल्प बदलकर ऐसा विकल्प आया था कि, ये मुझे नहीं खाना है ? ऐसा कुछ बुद्धिपूर्वक तो बना नहीं था। सिर्फ उसके राग की दिशा पलट गई कि अरे ! ये क्या ? मनुष्य ! सामने से चले आ रहे हैं और वह भी ऊपर-से आ रहे हैं। यह क्या ?! जब उनकी (मुनियों) देशना शुरू हुई तब परिणाम पलटते हैं। तब उसके आत्मा प्रत्ययी परिणाम शुरू हुए। उसमें राग और ज्ञान दोनों का परिणमन शुरू हुआ, वह तत्त्व-विषयक (परिणमन) हो गया। अब जहाँ, तत्त्वविषयक परिणमन हुआ उसमें 'यह खाना और यह नहीं खाना-ऐसा विकल्प भी न आया हो। ऐसा विकल्प आये कहाँ से ? वे तो उनके (स्व) विषय में लग गये। स्व-विषय में आ गये।

अब, तत्त्वज्ञान की स्व-विषय की जो परिणमन की मर्यादा है वह इतने उच्च स्तर की है, शुभभाव सहित भूमिका का विचार करें तो वह भूमिका इतने ऊँचे स्तर की है कि उसके आगे अभक्ष्य का त्याग करने का जो शुभभाव है वह निम्नकोटि का शुभभाव है। (अब) जिसका जोर अभक्ष्य का त्याग किया है कि नहीं उस पर है, वह ऐसे विचार करेगा कि अभक्ष्य का त्याग किया हो उसका स्तर कुछ ऊँचा है। तत्त्वज्ञान का विचार आया तो उसमें क्या हो गया ? तत्त्व का-आत्मा का विचार आया उसमें क्या ? अभी भी उसने अभक्ष्य का त्याग कहाँ किया है ?

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन होने के बाद तो अभक्ष्य बंद हो ही जाता होगा ?

पूज्य भाईश्री :- Automatic ही हो जाता है। फिर तो क्या है

कि, भले ही विकल्प नहीं आया था कि मैं इसे न खाऊँ, परंतु आत्मा की ओर झुकने पर राग छूटकर शुद्धोपयोग तक पहुँच गये, सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। उस वक्त प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन में आये हैं।

उनकी प्रसिद्धि - उस जीव के परिभ्रमण की प्रसिद्धि तो ऋषभदेव भगवान के वक्त से है। ऋषभदेव भगवान के वे पौत्र थे। पुत्र के पुत्र थे। मरीचिकुमार (नाम था)। और वहाँ से उन्होंने प्रसिद्धरूप से विरोध किया है। चौबीस तीर्थकरों का महापुराण है। आदिपुराण, पद्मपुराण और महापुराण (है-उसमें) महापुराण में चौबीस तीर्थकर का इतिहास है, जिसमें महावीरस्वामी भगवान का इतिहास ऐसा है कि ऋषभदेव भगवान के वक्त उन्होंने समवसरण के बाहर रहकर गालियों की बरसात बरसाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी - इतना विरोध किया था। ये मायावी हैं, ये प्रपंची हैं, ये सबको धोखे में डालते हैं, मेरे बाप के बाप ह। मैं उसे जानता हूँ, आप कहाँ से जानेंगे ? ठीक ! वहाँ से लेकर आगे भी बहुत विरोध किया है। (फिर) गये हैं नरक में। ऐसा नहीं है कि भगवान का जीव था इसलिए नरक में जाने का कैसे कहें ? न्याय तो सबके लिए परिणाम अनुसार एक-सा किया जाता है। पक्षपात करने का या हीनाधिक तोल करने का अधिकार या कोई प्रसंग नहीं है।

तत्पश्चात् वे जिस-जिस भव में मनुष्य हुए हैं, उस-उस भव में बीच में असंख्य अरब साल बीते हैं। (बीच-बीच में) जैनधर्म के विरोध का झंडा लेकर मुख्यरूप से प्रवृत्ति की है। तीव्र क्रोध के परिणाम किये हैं और अनेक बार नरक में गये हैं। एक दफा नहीं किन्तु अनेक दफा नरक में गये हैं। अनेक बार क्रोधी, रानी, जंगली पशु के भव में गये हैं। अज्ञगर के भव ! बाघ के भव ! मगरमच्छ

के भव! हाथी के भव !

यह सिंह के भव में भी नरक से ही आये हैं। वहाँ से सिंह के भव में आये हैं। और वहाँ भी क्रोध की प्रकृति है। सिंह भी क्रोधी प्राणी है। जंगली प्राणी, करीब-करीब सब क्रोधी होते हैं। (बस) ! तब उसका काल पक गया। जैसे ही देशना सुनी कि, अरे! कौन हो तुम ? कुदरत का नियम देखो ! उसको भाषा, भाव सबका मेल बैठ गया। (सामने) चारणऋद्धिधारी मुनि हैं, वरना तिर्यच-प्राणी को उपदेश का प्रसंग नहीं होता। देशना का प्रसंग तिर्यच को नहीं बनता। शास्त्र तो पढ़ सकते नहीं। मनुष्य कहे उसे सुनना - समझना नहीं कर सकते। फिर भी ऐसा ही कोई प्रसंग बना है, कि उसकी अपनी भाषा में वह समझ सके ऐसा योग (बना)। मुनियों ऋद्धिधारी जो थे ! फिर (उनके निमित्त से) सम्यक्दर्शन प्राप्त होता है।

सम्यक्दर्शन को प्राप्त हुए तब वृत्ति इतनी हद तक पलट गई कि भूख लगी है फिर भी मारे हुए हिरन को खाने की वृत्ति छूट गई और तब से समाधि मरण पर्यंत सर्वकाल में त्याग कर डाला। क्योंकि सिंह घास तो खाता नहीं। सिंह घास खाता नहीं और दूसरे प्राणी को मारकर खाने की बात रही नहीं। दो बात एकसाथ हो गई। अतः जब तक वह देह छूट न जाये, तब तक आहार का त्याग कर दिया। तब वह आहार का त्याग करता है। फिर वहाँ से सीधे मनुष्य में पैदा होते हैं। फिर तो मनुष्य और देव, मनुष्य और देव ही (हुए हैं)। दसों भव में देव और मनुष्य के अलावा दूसरी गति नहीं हुई।

कहने का तात्पर्य ऐसा है कि सहज कषाय की मंदता रहे और बाह्य त्याग और व्रत-नियम-संयम में परिणाम जाते हो तो हठपूर्वक

उसे नहीं जाने दें और अशुभ में जाना, ऐसा बिलकुल सामान्यबुद्धि से भी गया-बीता उपदेश जैनदर्शन जैसे तात्त्विकदर्शन में होनेका प्रश्न ही नहीं उठता । अतः वह बात तो विचार करने योग्य भी नहीं है।

किन्तु सामान्यरूप से ऐसा देखा जाता है कि जीव दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करने के बजाय राग का - अनेक प्रकार के राग का अभाव करने के लिए बाह्य पदार्थ के त्याग में चला जाता है। क्या ? और ऐसे त्याग के कारण वह क्या करता है, यह सब आगे कहते हैं। **‘दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं...’** यह तो बहुत मार्मिक वचन है। श्रद्धान में तो राग को इस तरह पकड़ रखा है कि यह कर्तव्य है। पहले यह राग कर्तव्य है। जैसे कि पहले वह (चीज) छोड़ूँ, इसका त्याग करूँ - वैसे राग को तो ग्रहण करें, अभेदरूप से ग्रहण करें, एकतापूर्वक ग्रहण करें, उसका तो दृष्टिमें से त्याग नहीं करता, श्रद्धान में उसके साथ तो एकत्व करता है। **‘...और बाह्य त्याग कर बैठता है।’** यानी कि अमुक पदार्थ छोड़ता है। पाँच इन्द्रिय के विषयोंमें से विभिन्न प्रकार के त्याग को ग्रहण करता है तब वह त्याग करने के राग को ग्रहण करता है। क्या करता है ? जब वह बाह्य पदार्थ का त्याग करता है तब बाह्य पदार्थ के त्याग का जो राग है उसे तो श्रद्धान में एकत्वरूप से ग्रहण करता है, और चारित्रमोह में भी उसे ग्रहण करता है, और **‘- यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है।’** ये बड़ा नुकसान है।

भले ही उसका अशुभ थोड़ा कम हुआ हो, परंतु सब से बड़ी अशुभ प्रकृति जो है वह तो मिथ्यात्व की है। मिथ्यात्व की प्रकृति शुभ है या अशुभ ? स्पष्टरूप से अशुभ है। उसमें कोई शुभ का

विकल्प है ही नहीं। मिथ्यात्व की प्रकृति सब से बड़ा अशुभ है। और जैनदर्शन के अलावा तमाम अन्यमत में बड़े पाप को कोई नहीं समझता बल्कि छोटे-छोटे पाप छोड़ने का उपदेश सर्वत्र चलता है। यही तो बड़ी गड़बड़ है। बड़ी से बड़ी गड़बड़ कोई है तो यही है कि छोटे पाप को बड़ा दिखायेंगे। उसे छोड़ने पर बहुत महत्ता देंगे। देखो! ये लोग ब्याज नहीं खाते। इस्लाम धर्म में मुस्लिम लोग ऐसा कहते हैं कि हमें ब्याज नहीं खाना है। उसमें भी खास करके जो मक्का से हज़ करके आते हैं, हाज़ी कहलाते हैं वे लोग तो ज़ोरपूर्वक ऐसा मानते हैं कि हम लोग अब हाज़ी बन गये, और हाज़ी लोगों को तो ब्याज नहीं खाना चाहिए।

मुमुक्षु :- सामायिक - प्रतिक्रमण लेकर बैठता हो, भले ही अशुभ की जगह शुभ तो करे, मिथ्यात्व का त्याग बाद में करे तो भी अशुभ से तो बचेंगे न ? बाद में मिथ्यात्व के त्याग का पुरुषार्थ करे तो ?

पूज्य भाईश्री :- लेकिन पहले ऐसा करने में क्या हरज़ा है ? आप पुरुषार्थ तो ले जाते हो कि नहीं उस तरफ ? आपको जो भी सामायिक - प्रतिक्रमण, त्याग (इत्यादि) कोई भी शुभभाव करना है तो उस तरफ आप पुरुषार्थ तो लगाते हो कि नहीं ? तो उस पुरुषार्थ को ऐसे नहीं लगाकर पुरुषार्थ को शुद्ध श्रद्धान में क्यों नहीं लगाते हो ? बस ! इतना-सा सवाल है। पहला जो कर्तव्य है वह पहले करो, बाद में करने लायक जो है उसे बाद में करो। उसमें क्या दिक्कत है ? अनादि से जो प्रसिद्ध मार्ग है, यह तो जिनोक्त मार्ग है - जिनमार्ग है, इस जिनमार्ग को छोड़कर दूसरा रास्ता अपनाने में क्या फायदा है ? क्या अपना महत्त्व स्थापित करना है ? जैसे कहेंगे नहीं, भगवान ने भले ही कहा, हमने स्वतंत्ररूप

से यह शोध की है !

मुमुक्षु :- सामायिक - प्रतिक्रमण करने का भी भगवान ने कहा तो है न ?

पूज्य भाईश्री :- परंतु भगवान ने मार्ग का क्रम भी तो दिया है कि नहीं ? यहाँ सवाल क्रम का है। मार्ग का जो क्रम है, उस क्रम को छोड़कर अक्रम से मार्ग को ग्रहण करना, यह तो आज्ञा की अवज्ञा करने के बराबर है। आज्ञा तोड़ने बराबर है। वैसे।

मुमुक्षु :- एकदम उलटी बात तो नहीं आती किन्तु गुरुदेव ने कहा है कि जैन-नामधारी का भी ऐसा वर्तन नहीं होता, तो उस पर ज्यादा जोर देना या पहले यह करना ? उसे गौण करना या पहले इसको मुख्य करना ?

पूज्य भाईश्री :- इसको मुख्य करेंगे तो सब आ जाएगा। इसे मुख्य किया तो उसमें सब आ जाएगा। वरना जैन-नामधारीपना बनाये रखने में अटक जाओगे। जैन नामधारीपना तो आ गया न ! चलो इतना तो हमने किया ! भाई ! ऐसा (तो) तुने अनंतबार किया है। तू द्रव्यलिंगी अनंतबार हुआ है अब जैन-नामधारीपने का इतना ज्यादा मोह क्या करना ? तू द्रव्यलिंगी अनंतबार हुआ, अब जैन-नामधारीपना तो होना चाहिए। कम से कम इतना तो करूँ ? कहते हैं कि उस दिशा में तू इतना मत बह जा। उस दिशा में पुरुषार्थ का व्यय मत कर ! तेरी सर्व शक्ति और सर्व उद्यम से, एक श्रद्धान शुद्ध हो ऐसा प्रयत्न यदि तुने किया तो तुम सन्मार्ग पर हो, सम्यक् मार्ग पर हो ! बस ! सम्यक्मार्ग पर हो, फिर पूर्ण-विराम आ गया। उसमें फिर दूसरे विकल्प को स्थान नहीं है। क्या ?

सम्यक्दृष्टि तिर्यच बैल के भव में हरी वनस्पति का चारा चरता

हो, पंचम गुणस्थानवर्ती ! कितना ? चतुर्थ नहीं, पंचम गुणस्थानवर्ती ! अब उसे आप जैन-नामधारी कैसे कहेंगे ? एक मिथ्यादृष्टि हो तो भी सामान्यरूप से विचार आयेगा कि भाई ! अमुक पर्व के दिन हो या तिथि के दिन हो, तो भी हम हरी सब्जी नहीं लेते। जब कि यह तो पंचम गुणस्थानवर्ती हैं। हरी वनस्पति के अलावा दूसरा आहार उसको है ही नहीं ! तो क्या ऐसे पंचम गुणस्थानवर्ती को जैन-नामधारी नहीं है ऐसा कहेंगे ?

मुमुक्षु :- वही सच्चा जैन है।

पूज्य भाईश्री :- सच्चा जैन - सच्चा श्रावक वही है। नामधारी श्रावक सच्चा श्रावक नहीं है, ऐसा है। सच्चा श्रावक वही है। भगवान के ज्ञान में (वह सच्चा श्रावक है) और भगवान उसे सच्चे श्रावक का Certificate देते हैं, नामधारी को नहीं देते, ऐसा है।

मुमुक्षु :- फिर गुरुदेव का इन शब्दों के पीछे आशय क्या था ?

पूज्य भाईश्री :- आशय ऐसा है कि समाज में लोगों का स्वच्छंद में चढ़ने का बहुत संभव है। यह वर्तमान काल, वर्तमान आचार-विचार, व्यापार-धंधा और संयोगों का प्रकार ऐसा है, पांच इन्द्रिय विषयों के साधनों की विपुलता (इतनी है) कि लोग सत्य समझने में (यदि बात की मर्यादा को नहीं समझे तो) स्वच्छंद करने में देर नहीं लगती। इसलिए साथ-साथ सब बातें आती हैं, परंतु परमार्थ की अपेक्षा उसकी मर्यादा क्या है ? यह समझना चाहिए। पकड़ करने के लिए कोई बात नहीं की।

मुमुक्षु :- बैल को पाँचवाँ गुणस्थान कैसे आता है ?

पूज्य भाईश्री :- उसे उतनी स्वरूप-स्थिरता आती है। तिर्यच संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है और सम्यक्दर्शन प्राप्त करने के बाद कोई विशेष स्वरूप-स्थिरता आने पर वह स्वरूप-

स्थिरता है वह पंचम गुणस्थान है। यह भगवान के ज्ञान में (आयी हुई) तिर्यच गति के साधक की उत्कृष्ट मर्यादा है और वहाँ तक वह जीव साधना कर सकता है और करता है। अभी भी है, ढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में हैं, आज भी हैं, अभी भी हैं। यह दिव्यध्वनि के द्वारा शास्त्रों में आया हुआ प्रसिद्ध विषय है, ऐसा है। क्योंकि हमारे यहाँ क्या है कि पंचम गुणस्थान में श्रावक में देशव्रत, आंशिक त्याग लिया जाता है। वह तो उसका बाह्य दिखाव है। जिसमें स्वरूप-स्थिरता बढ़ने पर अनेक प्रकार के बुद्धिपूर्वक के राग उत्पन्न नहीं होनेसे तथारूप राग के विषय का अभाव होता है-संयोग ही नहीं होता। तब उसका जो बाह्य त्याग दिखाता है (उसे) आंशिक त्याग या देशव्रत कहते हैं। परंतु कोई ऐसा त्याग कर ले इसलिए श्रावक है, ऐसा नहीं है। स्वरूप-स्थिरता है वह पंचम गुणस्थान है। बाह्य त्याग तो उसका बाह्य परिणाम है, उसका बाह्य दिखाव है। परंतु कोई नकल करे, स्वरूप स्थिरता न आयी हो और कोई बाह्य त्याग की नकल कर ले कि, हम ये देशव्रत का पालन करते हैं। तो उसका पंचम गुणस्थान गिनना या नहीं गिनना ? कि उसे पंचम गुणस्थान तो नहीं है, परंतु पंचम गुणस्थान मानने गया तो चतुर्थ भी नहीं है। उसका तो पहला (गुणस्थान) है और उसमें भी गृहीत मिथ्यादर्शन का पहला गुणस्थान है, अगृहीत भी नहीं रहता। इतना बड़ा दोष है।

मान्यता के ऐसे बड़े दोष को तो समझे नहीं, विचार करे नहीं, समझकर टालने का प्रयत्न करे नहीं और बाह्य त्याग कर बैठे कि, ऐसा करते हुए मेरा कल्याण होगा, मेरा राग मिट जाएगा, मुझे लाभ होगा, इतना तो लाभ होगा कि नहीं ? वह सब मिथ्यात्व भाव की ही पुष्टि करता है। यह बड़ा नुकसान है।

मुमुक्षु :- चतुर्थ गुणस्थान में द्रव्यलिंगी हो जाए तो चौथा चला जाये ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं। कोई चतुर्थ गुणस्थान में अगर द्रव्यलिंग अंगीकार करे, दीक्षा अंगीकार करे, तब अंतरंग में और बाह्य में मानता है और मनवाता भी ऐसा है कि मैं साधु नहीं हूँ परंतु मैं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक हूँ। भले मैंने दीक्षा अंगीकार की है, फिर भी मैं साधुत्व का अभिलाषी हूँ। मेरी साधु होने की भावना है। सहजरूप से ही अशुभ उपयोग में जाने का नहीं होता था और सहजरूप से ही पंच महाव्रतादि शुभभाव में रहना हो सकता है, वह भी हठ से नहीं।

(कोई-कोई साधक को कषाय की) मंदता का उदय होता है। तो वे कोई मंदता छोड़कर गृहस्थी के तीव्र कषाय के परिणाम करें ऐसा उपदेश नहीं है। इस तरह द्रव्यलिंगी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी होते हैं, द्रव्यलिंगी पंचम गुणस्थानवर्ती भी होते हैं। वहाँ से (चतुर्थ में से) वे पाँचवें में आते हैं। छठे-सातवें के पुरुषार्थ तक न पहुँच सके तो कोई पाँचवें में आता है, फिर भी वह समझता है कि मेरे परिणाम में अभी साधुदशा - मुनिदशा प्रगट नहीं हुई है। क्योंकि मुनिदशा तो प्रगटरूप से ऐसी है कि क्षण-क्षण में शुद्धोपयोग में आते हैं। अब प्रतिक्षण शुद्धोपयोग में नहीं आ पाते हो फिर भी कभी-कभी तो शुद्धात्मा का उपयोग होता है और ज्ञाताधारा भी चल रही है, तो उसका कोई निषेध नहीं हो सकता। जो परिस्थिति है सो है, उसे अन्यथा न माने और अन्यथा मनवाने का (कार्य) न करे। मानेगा जब तो मनवायेगा। यदि मानेगा नहीं तो मनवाने का तीव्र कषाय तो नहीं आयेगा। मनवाना तो माया (है)-तीव्र मायाचार है। जब खुद भी न माने तो मनवाने का तो प्रश्न नहीं उठता।

खुद मानते भी नहीं, मनवाते भी नहीं-इसलिए वे निर्दोष हैं। भले ही द्रव्यलिंग धारण किया हो तो भी उसका उन्हें कोई दोष नहीं है, और उन्हें मिथ्यात्व नहीं लगता। मिथ्यात्व नहीं हो जाता।

अतः मान्यता का पूरा जो विषय है, मिथ्या-मान्यता और सम्यक् मान्यता, उस विषय को पूरी-पूरी गहराईपूर्वक पहले समझ लेना चाहिए। वह साधकदशा की प्रथम सीढ़ी होनेसे उस विषय को पूरा का पूरा समझकर आगे चलना चाहिए। उसे तो छोड़ ही दे, उसे समझे नहीं और अन्य प्रकार से धर्म करने का विचार करे, किसी भी प्रकार से (विचार करे) - वह सारा उन्मार्ग है। वह भगवान के कहे हुए पूरे जिनमार्ग को छोड़कर प्रवर्तन करने की बुद्धि हो गई है। वह अन्यमत की बुद्धि है। सारे अन्यमतियों का ऐसा ही हुआ है। वहाँ से ही अन्यमत पनपा है। फिर तो ऐसा माननेवाले ज्यादा हो जाये तब उसे संप्रदाय कहा जाता है। यानी यहाँ कहते हैं कि, पहले तू चारित्र्यदोष अर्थात् रागादि टालने का जो प्रयत्न करता है, वह कैसे ? कि बाह्य पदार्थ का त्याग करके। पदार्थ के त्याग से राग का त्याग हो जाएगा, ऐसा उसमें शल्य पड़ा है। क्या ? पदार्थ के त्याग से राग का त्याग होगा (वह तो शल्य है।) जब कि राग का मैं अभाव करूँ कि जिससे पदार्थ का संयोग सहज ही नहीं होगा, क्योंकि बिना वृत्ति तो संयोग होनेका सवाल नहीं है। और मान लो बिना वृत्ति कोई संयोग हो भी जाये तो उसका दोष नहीं है। जैसे भगवान को वृत्ति नहीं है, फिर भी पूरे समवसरण की रचना हो जाती है। ऐसा वैभव तो कहीं नहीं होता। (फिर भी) भगवान को परिग्रह का दोष नहीं है। मुनि निर्वस्त्र होते हैं। कोई उपसर्ग करके कंबल या शाल या कोई भी कपड़ा उन पर डाल दे, तो इससे मुनि को कोई

दोष नहीं लगता। वृत्तिपूर्वक ग्रहण करे तो चारित्र का दोष है वरना तो कोई दोष नहीं लगता।

अतः कहते हैं कि, 'तू पहले चारित्रदोष टालने का प्रयत्न करता है। पर उसके पूर्व दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर।' पहले तू अपना श्रद्धान शुद्ध हो इसका प्रयत्न (कर) ! - उस दिशा में तू प्रयत्न कर, और उस दिशा का प्रयत्न करने के लिए, उसका पूरा क्रम है। कषाय की (मंदता का)-बाह्य त्याग में रही कषाय की मंदता का तुझे व्यामोह है, कि इतना कषाय तो मंद होता है ! परंतु इससे अधिक कषाय की मंदता तो दर्शनशुद्धि के प्रयत्न की शुरुआत में ही हो जाती है ! इससे भी अधिक ऊँचे स्तर का ! कोई जीव स्वरूप-श्रद्धान में आने से पहले जब स्वरूप की अंतर जिज्ञासा में, अपूर्व जिज्ञासा में आता है, (तब) उसके बाह्य विषय संबंधित परिणाम इतने नीरस हो जाते हैं; शुरु में जिज्ञासा के काल में ही इतने नीरस हो जाते हैं कि, उतने नीरस तो ऊपर-ऊपर के बाह्य त्याग से भी नहीं होते ! अतः यह (बाह्यत्याग का) व्यामोह तो तेरा व्यर्थ है। क्योंकि उसमें तो बाहरी त्याग हुआ न। अतः वैसे दिखाव और आडंबर का तुझे शोख है। परिणाम पर तो तेरा ध्यान है नहीं। परिणाम को देखा जाये तो परिणाम तो इसमें (दर्शनशुद्धि में) विशेष ऊँचे स्तर के या अत्यंत मंद कषाय के होते हैं। वह रास्ता तो तूने छोड़ दिया और बाहर में त्याग हुआ - ऐसा दिखाव हुआ कि, मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा नहीं करता। यह मैंने छोड़ दिया है। वह सब तुझे पसंद है, यह तेरा मोह है एक प्रकार का, और कुछ नहीं। जब कि लाभ तो उसमें कम है इसमें लाभ ज्यादा है। फिर भी बाहर में दिखाव का - आडंबर का स्थूल या सूक्ष्म परिणाम साथ-साथ रहता है, तब उस शुभपरिणाम के

साथ-साथ वह एक माया का प्रकार रहता है। किसका प्रकार है ? माया का प्रकार है। भीतर में माया है। और माया ऐसा छिपा हुआ चोर है। मान और माया, पकड़ में न आये ऐसे विषय हैं।

कहते हैं कि, उसे टालने का प्रयत्न तू करता है इसके पहले दर्शनशुद्धि का प्रयत्न कर ! ये कहनेवाले अपने गहरे अनुभव के निचोड़ सहित कहते हैं। पहले तो यह विचार कर्तव्य है कि ये जो कहनेवाले हैं, वे बहुत ही अनुभवपूर्ण बात को कह रहे हैं। यह बात यानी प्रस्तुत विषय, काफी अनुभवपूर्वक रखी गई बात है। वरना ऐसे देखा जाये तो इस भव में गुरुदेवश्री ने भी स्थानकवासी में दीक्षा अंगीकार की थी। क्या ? दीक्षा अंगीकार की थी। पंच महाव्रत की प्रतिज्ञा सब उसमें आता है। तब कितना मंथन चला होगा ! हमलोगों को तो प्रत्यक्ष परिचय है। ऐसा कहते थे कि हम तो उसमें 'माथाबूड़' (पूरे के पूरे डूबे हुए) थे।

मुमुक्षु :- स्थानकवासी में पंचमहाव्रत होते हैं ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जब दीक्षा अंगीकार करते हैं तब तो सब आता ही है न ! विधि में तो सब आता है। फिर भले ही विधि में चाहे थोड़ा फ़र्क किया हो।

मुमुक्षु :- सर्वविरती लेनी पड़े ?

पूज्य भाईश्री :- सर्वविरती होती है न ! इसलिए सब आता है। अहिंसा आदि जो पाँच (महाव्रत) हैं न !

मुमुक्षु :- हाँ, पाँच हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह होते हैं।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, झूठ, चोरी, परिग्रह का त्याग, और अब्रह्म का त्याग (होता है)। देशव्रत और महाव्रत है। वे लोग भी देशव्रत और महाव्रत ही कहते हैं न ? श्वेतांबर में भी देशव्रत और महाव्रत

ही कहा जाता है। श्रावक के लिए देशव्रत और मुनि के (लिए महाव्रत होता है)।

मुमुक्षु :- २८ मूलगण का विषय है ?

पूज्य भाईश्री :- २८ मूलगुण का विषय नहीं है। लेकिन पंच महाव्रत है। शेष जो उत्तरव्रत हैं उसमें काफी फर्क है और काफी छूट भी ली है।

मुमुक्षु :- उसमें २७ हैं।

पूज्य भाईश्री :- २७ हैं ? ठीक ! २७ हैं। ऐसा है। होता है थोड़ा बहुत फ़र्क करते हैं। मूल में तो जो परंपरा चली आ रही है उससे अलग होना हो तब क्या करते हैं ? कि थोड़ा-बहुत फ़र्क कर लेते हैं, जैसे हमारा इतना अलग प्रकार से। ये हमारा इतना Special। आपका इतना, हमारा इतना, वैसे अलग तो तब ही हुआ जाता है न ! एक जैसा रखने से तो अलग होने का प्रश्न नहीं रहता, ऐसे।

तो (गुरुदेव यों कहते थे) कि गले तक डूब जाये इतना नहीं बल्कि माथा डूब जाये ऐसी स्थिति में थे, अब उसमें से निकले हैं (तो) उन्होंने कितना मंथन किया होगा ! त्याग नहीं लिया था सो बात नहीं थी। बहुत मंथनपूर्वक यह बात आयी है। भाई ! पहले तू बाह्य त्याग का और राग यानी चारित्रदोष टालने का प्रयत्न करता है, लेकिन पहले दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

किसी भी जीव को मोक्षमार्ग में प्रवेश करना हो तो उसे पहले दर्शनशुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा कहने के पीछे मुख्य कारण यह है कि जीव मंद कषाय और तीव्र कषाय के बीच माथापच्ची में रहता आया है। और उसमें भी मंद कषाय को वह महत्ता दे देता है। तीव्र कषाय की महत्ता छोड़ने के लिए वह मंद कषाय

को महत्ता दे देता है। मंद कषाय को महत्ता देते वक्त वह भूल जाता है कि आखिर में तो मैं कषाय को ही महत्ता दे रहा हूँ। अकषाय स्वभाव को महत्ता देने की तो बात ही पूरी रह जाती है! जिसकी (महत्ता) प्रथम ही (आती है)। (सम्यक्) श्रद्धान होने के पहले (और) शुद्धात्मा की पहचान के काल में, अपूर्व अकषाय स्वभावी आत्मा की अपूर्व महिमा और महत्ता आती है, वह तो विषय ही पूरा रह जाता है, जब कि कषाय के अंश को, मंद कषाय के अंश को महत्ता देने में आ जाती है। अतः पूरा मार्ग बदल जाता है और उन्मार्ग पर चलना हो जाता है। इसतरह पूरी वस्तु भूल में रह जाती है, यह बहुत बड़ी भूल है। सामान्य भूल नहीं अपितु यह बड़ी भूल है। जब कि उस बाह्य त्याग और मंद कषाय की महत्ता में पूरा मनुष्यभव हार जाने की नौबत आती है। जिस मनुष्यभव में मार्ग पर चढ़ना चाहिए, उस भव को ही पूरा हार जाये ! फिर तो कोई पता लगनेवाला नहीं है।

आज श्रावक को (संप्रदाय के बंधन से) निकलना आसान है किन्तु मुनि हो गये हो फिर ? सम्यग्दर्शन हुआ न हो और गृहस्थ हो, तो उसके लिए इस तरफ पलटना सरल है, सत्य विषय को समझना व ग्रहण करना सरल है किन्तु जिसने पुरुषार्थ ही उलटी दिशा में खर्च कर दिया है यानी त्याग और मुनिपना ले लिया है उसे वापिस मुड़ना बहुत-काफी मुश्किल होगा। उसमें ताकत लगती है। और ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है। यह तो सीधी बात है।

मुमुक्षु :- उसे मान कषाय आड़े आता है ?

पूज्य भाईश्री :- मान कषाय आड़े आता है, उसने जितने आग्रहपूर्वक शुभभावों का सेवन किया हो, उस आग्रह को भीतर से तोड़ना पड़े। इसका अंदाज तो जिसने मेहनत की हो उसीको

आ सकता है, कि इसमें कितनी मेहनत करनी पड़ती है। ज्यादा उलटा चलनेवाला ज्यादा दूर गया है। जितना अधिक दूर गया उतना उसे करीब आने में ज्यादा अंतर काटना ही होगा। यह तो हिसाब की बात है।

कहते हैं कि, 'दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं...' यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है। श्रद्धान में जब तक विकल्प का - राग का एक अंश, अनंत वें भाग का एक अंश भी रहता है तब तक शुद्ध श्रद्धान नहीं है। दूसरे अस्ति के पहलू से विचार करें तो शुद्ध श्रद्धान का विषय एकांतरूप से परिपूर्ण शुद्धात्मा है। परिपूर्ण अकषाय स्वभावी शुद्ध आत्मा है, जिसमें तीनकाल में कषाय की परछाई भी नहीं उठती, कषाय (वहाँ) नहीं पहुँचता, कषाय का प्रवेश नहीं है, कषाय की उस पर परछाई भी नहीं आती, भले ही निगोद में होकर आया, (फिर भी) वैसा का वैसा रहा है। इस संदर्भ में तो कल बोल चला था अपने स्वाध्याय में, कि अवस्था में प्रचुर से प्रचुर अवस्था में कषाय हुआ हो तो भी शुद्धात्मा तो शुद्धात्मा ही रहा है। वह श्रद्धान का विषय है। ऐसा जो शुद्धात्मा, वह श्रद्धान का विषय तब होता है कि, जब उसका श्रद्धान राग के एक अंश की भी श्रद्धा न करे। जब तक थोड़ा राग भी, मंद राग भी इष्ट है, (ऐसा) जिसके श्रद्धान में है उसे शुद्ध श्रद्धान प्रकट नहीं होता। अतः दृष्टि में कहो चाहे श्रद्धान में कहो, विकल्प का मूलमें से त्याग किये बिना, छोड़े बिना चाहे किसी भी तरह श्रद्धान शुद्ध नहीं होगा। और ऐसा शुद्ध श्रद्धान हुए बिना बाह्य त्याग और कषाय की मंदता, मैंने की (-ऐसा जो मानते हैं) उन्हें वह मिथ्यात्व का पोषण है। श्रद्धान तो उसका शुद्ध नहीं होता अपितु जो मिथ्याश्रद्धान है उसमें दृढ़ता होती है और प्रायः जीव

गृहीत मिथ्यात्व में चला जाता है। अगृहीत तो अनादि से है, वह गृहीत में चला जाता है।

देखो ! असंज्ञी पंचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय पर्यंत (सर्व) असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय और एकेन्द्रिय निगोद के जीव, सब अगृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। वे सब अगृहीत में हैं। उनमें किसी को गृहीत लागू नहीं पड़ता। जब कि यह जीव मनुष्य हुआ, संज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ फिर भी गृहीत मिथ्यात्व में आता है !! उसने लाभ होने के स्थान में, जहाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय को सम्यग्दर्शन का लाभ होने का अवकाश है, उसमें यदि सम्यग्दर्शन का प्रयत्न न किया, तो उलटे रास्ते पर गये बिना रहेगा नहीं। गृहीत में चला जाता है। इसलिए तो 'अनुभवप्रकाश' में साध्य-साधक के बोल लिये हैं उसमें एक ऐसी बात ली है कि, अगृहीत मिथ्यात्व साधक है और गृहीत साध्य है। क्या कहा ? अगृहीत मिथ्यात्व साधक है और गृहीत मिथ्यात्व साध्य है। अगृहीत तो अनादि से है ही। वह अगृहीत तो बिना ग्रहण किये (अनादि से) है। उसमें से निकलकर यदि उसने अगृहीत का अभाव करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं किया, तो वह गृहीत मिथ्यादर्शन को प्राप्त करेगा। वह बुद्धिपूर्वक उन्मार्ग पर चला जाएगा, बुद्धिपूर्वक वह अन्यमार्ग को ग्रहण करेगा। उसी को गृहीत मिथ्यादर्शन या अन्यमत कहते हैं।

मुमुक्षु :- वैसे स्थूलरूप से देखा जाये तो झूठे देव-शास्त्र-गुरु को हम नहीं मानते हैं इसलिए गृहीत नहीं है। लेकिन सूक्ष्मरूप से गृहीत मिथ्यात्व कैसे हो जाता है ?

पूज्य भाईश्री :- उसमें क्या होता है ? गृहीत वहाँ इस तरह होता है कि, झूठे देव-गुरु-शास्त्र को माने वह तो स्पष्टरूप से गृहीत है। परंतु ऐसा नहीं है कि बाहर में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र

को माननेवाला हर कोई गृहीत (मिथ्यात्व में) नहीं है। गृहीत और अगृहीत ऐसे दो भेद उसमें भी हैं। सर्वप्रथम तो जो जीवों ने सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप को बिना पहचान, पद्धति द्वारा, परंपरा से जो वीतराग देव-गुरु-शास्त्र को माना है वे सब गृहीत में हैं। उन लोगों को (भी) गृहीत लागू पड़ता है, (क्योंकि) ओघसंज्ञा से माना। (उनके) स्वरूप की पहचान नहीं करते। उनके स्वरूप का विचार नहीं करते कि वे क्यों वीतराग हैं ? किस तरह वीतराग हैं ? इस तरह उनको गृहीत लागू पड़ता है-एक बात। अतः इस पर से संप्रदाय में (गृहीत मिथ्यादृष्टि कितने ? उसका) हिसाब आप लगा लेना। दूसरा, ऐसा है कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में (आने के) पश्चात्, जब उस विचार के विषय में प्रवेश करे कि देव का स्वरूप ऐसा, गुरु का स्वरूप ऐसा, शास्त्र का स्वरूप ऐसा, ऐसा इस तत्त्वज्ञान के विषय में मतिदोष की वजह से, ज्ञान के विपर्यास के कारण उस तत्त्व का यदि अन्यथा ग्रहण करे, एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अध्यास हो, नौ तत्त्व हैं न ? उसमें एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अध्यास हो जाये उस वक्त भी गृहीत मिथ्यादर्शन लागू होता है। ऐसा है।

अतः सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहचाने फिर भी, कोई ऐसा कहे कि हमने विचार किया है कि १८ दोष रहित वीतराग हैं वे सर्वज्ञ हैं, वे देव हैं। निर्ग्रथ गुरु हैं सो बाह्याभ्यंतर - अभ्यंतर परिग्रह और बाह्य परिग्रह के त्याग सहित है सो निर्ग्रथ मुनि हैं, सातवें-छठे गुणस्थान में झुलनेवाले शुद्धात्मदशा के साधक, उत्कृष्ट साधक हैं, सो गुरु हैं, और उनके द्वारा निरूपित सिद्धांत हैं सो सत्शास्त्र हैं। वह सत्शास्त्र है। ऐसा तो हम बराबर मानते हैं। ऐसा स्वीकार आने के पश्चात् भी अगर तत्त्व के विषय में भूल हो, तो वहाँ भी

गृहीत मिथ्यादर्शन लागू पड़ता है। ठीक ! ऐसा है।

मुमुक्षु :- अर्थात् बंधमार्ग को संवर माने ऐसा ?

पूज्य भाईश्री :- बंधमार्ग को संवर माने या तो वस्तु के स्वरूप विषयक अन्यथा माने। अभी इन दिनों हमारे यहाँ एक बहुत पेचीदा प्रश्न चला था-आत्मा के प्रदेश विषयक। इसमें से थोड़ी बात स्पष्ट करना चाहता हूँ। प्रश्न चाहे कोई भी हो। कि भाई, आत्मा के प्रदेश एक या दो ? द्रव्य और पर्याय की प्रदेश भिन्नता का विषय था। उसमें यदि आशय को न समझे, परंतु हकीकत में दो प्रदेश को अलग समझे, तो वह गृहीत में चला जाएगा। क्योंकि वस्तु के स्वरूप का द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से जो निरूपण है उसमें भूल हो गई। कहाँ भूल हुई ? पदार्थ का जो निरूपण है द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावयुक्त - स्वचतुष्टय जिसे कहते हैं, उस स्वचतुष्टय में ही उसकी भूल है, क्योंकि क्षेत्र जो आया उसमें। द्रव्य-क्षेत्र-(-काल-भाव है उसमें) क्षेत्र में असंख्य प्रदेश आ गये। तो ऐसे वहाँ गृहीत मिथ्यादर्शन हो गया। जब कि वह विषय परम अध्यात्म का है। जहाँ त्रिकाली के प्रदेश भिन्न और पर्याय के प्रदेश भिन्न ऐसा कहा, वहाँ एकदम परम अध्यात्म का (विषय है)। परम शुद्ध निश्चयनय के विषय में वह ले जाता है। ऐसा जो निरूपण है उसे यदि यथायोग्यरूप से अंगीकार न करे, और इसके प्रयास में न जाये और वैसे उसको नहीं उठाये, जिस तरह उठाना चाहिए वैसे न उठाये तो अन्यथा उठा लेगा कि प्रदेश ही भिन्न-भिन्न हैं, तो गृहीत मिथ्यादर्शन में चला जाएगा।

अब इसमें सारांश क्या निकला ? एक ध्यान खींचने जैसी बात करता हूँ, जब कि ऐसे तो अनेक प्रश्न हैं। हमारे तत्त्वज्ञान के विषय के क्षेत्र में इतना विस्तार है कि ऐसे तो अनेक प्रश्न हैं,

और ऐसे प्रश्न जब सामने आये, जब कि विचार में ही न आये हो तब तक तो उसे दोष लागू होने का सवाल नहीं उठता किन्तु जब अपने उदयवश अपने क्षयोपशम के सामने आये, जब अपने श्रद्धान-ज्ञान की परीक्षा का वह विषय बने, क्योंकि जब सामने बात आ जाये फिर तो वह परीक्षा का विषय ही हो गया ! तब, उसे इतनी आत्मार्थिता के साथ उस विषय की गहराई तक जाना चाहिए कि उसकी थाह लेनी चाहिए। (गहराई का) पता लगाना चाहिए, तब तक उसे छोड़ना नहीं चाहिए। और खास तौर से उस विषय में अधिकृत ऐसे साधक जीवों से समाधान लेना चाहिए। इतना ही नहीं, वह समाधान उसे स्वयं - स्वतंत्ररूप से स्वीकार में न आये तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसा है। परम भक्ति से, परम आदर से उस विषय को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

यद्यपि श्रीमद्जी ने तो आज्ञा दे रखी है कि द्रव्यानुयोग का अध्ययन सत्पुरुष के संयोग में परम वैराग्य, दृढ वैराग्य व दृढ भक्तिभावपूर्वक (ही) कर्तव्य है। इतनी मर्यादा दे रखी है। क्या ? श्रीमद्जी ने तो मर्यादा निश्चित की है कि, द्रव्यानुयोग यूँ ही अध्ययन करने जैसा नहीं है। कहाँ का कहाँ फँस जाएगा तू ! गृहीत मिथ्यात्व में चले जाने में देर नहीं लगेगी।

मुमुक्षु :- ऐसा कहा भी है कि, शास्त्रज्ञान से निबेड़ा नहीं है, अनुभवज्ञान से निबेड़ा है।

पूज्य भाईश्री :- अनुभवज्ञान से निबेड़ा है। जब कि द्रव्यानुयोग के विषय में तो इतनी मर्यादा कर दी है। सत्पुरुष के वचन से आध्यात्मिक शास्त्र भी आत्मज्ञान का हेतु बनता है। परमार्थ आत्मा शास्त्र में नहीं वर्तता, सत्पुरुष में वर्तता है।

यह पत्रांक - ६९८ में आखिर में है। 'प्रत्यक्ष सत्समागम में

भक्ति, वैराग्य आदि दृढ साधनसहित मुमुक्षु को सद्गुरु की आज्ञा से द्रव्यानुयोग विचारणीय है। अन्यथा विचार कर्तव्य नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु :- यहाँ एक प्रश्न उठता है कि आपने कहा कि जब तक विषय सामने न आया हो तब तक दिक्कत नहीं है, परंतु यदि सामने आये तब अगर कोई ऐसा कहे कि, हमें इन सब खटपट में नहीं जाना है तो ?

पूज्य भाईश्री :- खटपट नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है। यह तो वस्तु का स्वरूप है और इसका निर्णय करना आवश्यक है। वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना यह भी तुझे अगर खटपट लगती है, तो क्या इसे छोड़कर दूसरा विषय तुझे खटपट बिना का लगा ?! (अरे !) इसे छोड़कर सारा विषय है वही खटपटरूप है।

मुमुक्षु :- कोई कहे कि हमें उतनी सूक्ष्मता में नहीं जाना तो ?

पूज्य भाईश्री :- अच्छा ! सूक्ष्मता में नहीं जाना है क्योंकि सूक्ष्मता में खटपट है ! और स्थूलता में क्या है !? बात तो ऐसी है कि, उसे अपने हित की सूझ नहीं आयी। आपको कोई ऐसा कहे कि भाई ! आप यह सब्जी-तरकारी का व्यापार करते हो और हाथलारी लेकर घूमते हो, लेकिन आईये न ! मेरी हीरे की दुकान पर आपको बिठाता हूँ ! कोई मुझे ऐसा कहे कि 'आईये हीरे की दुकान - पंचरत्न में' और तब मैं ऐसा कहूँ 'ना..ना मेरी सब्जी की हाथलारी अच्छी है।' तो (क्या समझना...?) भाग्य फूट गया है ऐसा समझो और कुछ नहीं। यहाँ तक रखते हैं।



परमागमसार। ९९ वें बोल की आखरी दो पंक्ति। “दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं और बाह्य त्याग कर बैठता है - यह तो मिथ्यात्व के ही पोषण का कारण है।” ऐसा लेना है। क्या कहते हैं ? दृष्टि में एकांत अनंत शांति का पिंड ऐसा जो शुद्धात्मा (यानी कि) निज स्वरूप, इसका ग्रहण होना चाहिए। तत्त्वदृष्टि जीव ऐसे देखता है कि जीव ने श्रद्धा में क्या ग्रहण किया है ? श्रद्धा किसको ग्रहण करती है ? यह तत्त्वदृष्टि जीव का देखने का मुख्य दृष्टिकोण है। किसी भी जीव का, वे बाह्य त्याग या बाह्य संयोग-वियोग से नाप नहीं निकालते। किसी दिखाव से नाप नहीं करते। शरीर के दिखाव से, वाणी के दिखाव से, ऐसे किसी भी प्रकार के दिखाव के आधार पर वे विचार नहीं करते। किन्तु जीव की श्रद्धा कहाँ है ? जीव ने श्रद्धा में अनंत शांति के पिंड को ग्रहण किया है ? या फिर श्रद्धा में अनादि से प्रवर्तमान राग की पकड़ ही चालू है ? बस ! इतना देखते हैं।

अनादि से श्रद्धा का जो ग्रहण है (यानी कि) जिस श्रद्धा में राग का ग्रहण है, उसका तो त्याग करे नहीं और बाह्य पदार्थ का त्याग कर ले, तो वह मिथ्यात्व के पोषण का ही कारण बनता है। जीव को मिथ्यात्व तो है ही, अनादि अगृहीत मिथ्यात्व - प्रथम गुणस्थान तो है ही। यह जो पहला गुणस्थान चालू है उसमें नया-

बढ़ावा क्या हुआ ? कि उसके (मिथ्यात्व को) पुष्टि मिली। क्योंकि मिथ्यात्व में स्थित ऐसा जीव पर्यायदृष्टि है। पर्यायदृष्टि है मतलब पर्याय में उसको अहंपना है। ऐसे पर्याय के अहंपने में बढ़ावा हुआ। वह इस प्रकार कि मैं ने इतना त्याग किया, मैं इतना त्यागी हुआ, इतना व्रति हुआ, मैं ने इतने-इतने कार्य किये। इस प्रकार पर्यायदृष्टि में मिथ्यात्व भाव की पुष्टि का ही वह कारण बनता है।

शुद्धात्मतत्त्व के अनुभव का प्रयास करते-करते कषाय मंद हो या मुख्यतया शुद्धात्मा का आलंबन लेने का पुरुषार्थ रहे, इस पुरुषार्थ और प्रयास के साथ-साथ कषाय की मंदता हो, और यदि इस कषाय की मंदता के निमित्त से बाह्य पदार्थों का त्याग हो, जब तो वह उचित है ही। तब तो इसे स्वरूप के ग्रहण और रागादि परद्रव्य व परभाव के त्याग में सानुकूल निमित्त गिना जाता है अथवा सानुकूल परिणमन गिना जाता है। इसके बजाय शुद्धात्मतत्त्व के अवलंबन का प्रयास करे नहीं अपितु सिर्फ बाह्य पदार्थ के ग्रहण - त्याग, विधि-निषेध के प्रयत्न और पुरुषार्थ में लग जाये उसे आत्मलाभ तो नहीं होता परंतु मिथ्यात्व का पोषण होता है, ऐसा कहना चाहते हैं। लाभ होने के बजाय उसे नुकसान होगा। और वह नुकसान मिथ्यात्व का है। इस मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के विषय से जीव अनभिज्ञ होने से उसका खयाल नहीं जाता कि इसमें कितना नुकसान है ? ऐसा है। मिथ्यात्व होता है - ऐसा नहीं कहा। मिथ्यात्व तो है ही, उसे पोषण मिलता है, दृढ़ता होती है, उसे पुष्टि मिलती है, ऐसा कहा है। मिथ्याभाव को पुष्टि मिलना अर्थात् इससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है। फिर उस मिथ्यात्व को छोड़ने में विशेष तकलीफ होती है। ऐसा कहना चाहते हैं। इसमें जैनदर्शन का गूढ़ रहस्य है।

बाह्य त्याग तो जगत के अन्यमतों में भी किया जाता है। क्या त्यागी, सन्यासी, अन्यमतों में नहीं होते? वे भी होते ही हैं न। होता क्या है कि सामान्यतः तत्त्व के विषय की गहराई में नहीं जानेवाले लोग ऐसा विचार करते हैं कि, ठीक हैं ! हम हमारे धर्म में जैसे कहा हो वैसे त्याग करे, दूसरे लोग अपने धर्म अनुसार त्याग करते हैं। सब अपने-अपने धर्म अनुसार अपना आचरण करते हैं, इसमें अनुचित क्या है ? ऐसा ऊपर-ऊपर से विचार करते हैं। परंतु ऐसी बाह्यदृष्टि से धर्म के विषय में विचार करना ठीक नहीं।

धर्म के विषय में तो तत्त्वदृष्टि से विचार करना चाहिए कि आत्मतत्त्व के अनुरूप आत्माकार परिणाम कैसे होते हैं ? और आत्मतत्त्व से विरुद्ध जाति के परिणाम कैसे होते हैं ? जाति की पहचान करनी पड़ती है। भावों में स्वभाव जाति और विभाव जाति ऐसी दो जाति हैं।

(यहाँ कहते हैं कि) **“दृष्टि में विकल्प का त्याग तो करता नहीं...”** क्योंकि प्रथम कार्य श्रद्धा का है। धर्म के प्रकरण में प्रथम कार्य श्रद्धा का है। दृष्टि कहो चाहे श्रद्धा कहो (एक ही बात है)। इस श्रद्धा में अपने निजात्म स्वरूप की - शुद्धात्मस्वरूप की श्रद्धा करनी चाहिए, इसके बजाय जीव अनादि से किसी न किसी प्रकार के राग को आत्मा के रूप में श्रद्धता है। राग सो 'मैं' ऐसा अनुभव है। राग सो 'मैं' ऐसा जो अनुभव है वह राग की श्रद्धा को सूचित करता है। त्रिकाल शुद्धात्म स्वरूप, मूल तत्त्व असल तत्त्व है सो 'मैं' ऐसा अनुभव नहीं है, इसलिए उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है।

(यहाँ) तो कहते हैं कि, श्रद्धा में उसका त्याग होना चाहिए। भले ही साधकदशा हो और उसमें शुभराग आये (लेकिन श्रद्धा में

उसका त्याग वर्तता है)। परिपूर्ण वीतराग न हो तब तक शुभराग विशेषतः आयेगा, अशुभ राग कम होता जायेगा शुभराग बढ़ता जायेगा - ऐसा भी होगा। साधकदशा शुरू होते ही ऐसी परिस्थिति होगी। सामान्यतः संसारी प्राणी को अशुभ राग विशेष होता है, शुभराग कम होता है, इसलिए प्रायः अधोगति में जाते हैं। इतना ही नहीं दो हजार सागर या इसके पहले ही निगोद में चला जाता है। यह अशुभ की प्रधानता को सूचित करता है। मोक्षमार्ग में प्रवेश करनेवाले जीव को शुभ की वृद्धि होती है, अशुभ घटता जाता है और शुद्ध परिणाम की शुरुआत होती है। परिणाम के तीन प्रकार - अशुभ, शुभ और शुद्ध। जिसमें शुभ और अशुभ दो अशुद्ध जाति के हैं। अतः जाति की अपेक्षा से सोचा जाये तो दो प्रकार हैं। वैसे तीन प्रकार हैं किन्तु जाति अपेक्षा से इसके दो प्रकार हैं। शुभ और अशुभ, अशुद्ध जाति के परिणाम हैं और सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि शुद्ध जाति के परिणाम हैं।

अब कहते हैं कि मोक्षमार्ग की शुरुआत करनेवाले जीव को जब शुद्ध परिणाम की जाति शुरू होती है, तब उसकी अशुभ जाति में किस प्रकार का फेरफार होता है ? - कि उसका अशुभ घटता है और शुभ बढ़ता है। और वह शुभ ऊँचे स्तर का होता है। ये जो शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं उसकी कक्षा - उसका स्तर उच्च जाति का होने पर भी मोक्षमार्गी जीव, इस ऊँची जाति के शुभ परिणाम की (भी) श्रद्धा नहीं करता। जो आत्मा को श्रद्धता है, अर्थात् आत्मा के स्वभाव को श्रद्धता है वह विभाव को नहीं श्रद्धता। क्योंकि वह विभाव की जाति है। श्रद्धा नहीं करता तो उसका प्रकार कैसा होता है ? कि श्रद्धा नहीं करता अर्थात् उसके परिणामन में उच्च कक्षा के शुभ परिणाम होने पर भी, 'यह ठीक

हुआ, अच्छा हुआ, इष्ट हुआ और लाभ का कारण हुआ' इस प्रकार का व्यामोह उन्हें नहीं होता।

जिस शुभ परिणाम में सामान्यतः मिथ्यादृष्टि जीवों को मोह होता है, आकर्षण होता है, इतना ही नहीं विपरीत श्रद्धावश उसे मैं अधिक से अधिक करूँ, ऐसे कर्तृत्व भावपूर्वक - कर्ता होकर करे तब तो वह मिथ्यात्व का ही पोषण करता है। ऐसा तो कर्तव्य नहीं है। जब कि ऐसे परिणाम आत्मा के स्वभाव को अनुकूल तो नहीं परंतु वास्तव में निश्चयदृष्टि से वह प्रतिकूल है, व्यवहारदृष्टि से सानुकूल है। व्यवहारदृष्टि से सानुकूल है मतलब क्या ? कि शुद्धात्मा का प्रयत्न करने में, (अर्थात्) शुद्धात्मा के (अनुभव का) जो प्रयत्न है वह कषाय के अभाव का प्रयत्न है। यह कषाय के अभाव के प्रयत्न की पूर्ण स्थिति न हो परंतु अपूर्ण हो, तब कषाय मंद हो जाता है इसलिए उसे सानुकूलता गिनने में आती है। व्यवहार से (ऐसा) संबंध देखते हुए (सानुकूलता गिनी जाती है)। परंतु जहाँ इस संबंध को तोड़ने का अर्थात् कषाय के अभाव का प्रयत्न हो वहाँ उस कषाय को सानुकूल नहीं (माना जाता अपितु प्रतिकूल माना जाता है)। (कषाय) चाहे तीव्र हो या मंद उसे सानुकूल नहीं अपितु प्रतिकूल देखा जाता है, क्योंकि वह विभाव जाति का परिणाम है। प्रतिकूल जाति है, ऐसा है।

इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव शुभाशुभ का छेद करके, मोक्ष स्वभाव में उपजता है, परिणाम करता है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने 'आत्मसिद्धिशास्त्र' में लिखा है कि, 'तेह शुभाशुभ छेदता उपजे मोक्षस्वभाव।' मोक्षस्वभाव कब उपजता है ? कि शुभाशुभ का छेद होने पर उपजता है, अभाव करके (उपजता है), उसका छेद करके उपजता है। ऐसा नहीं कहा कि, इसका पोषण देकर उत्पन्न होता

है, पालन-पोषण करने में आता है।

यहाँ तो कहते हैं कि मोक्षस्वभाव उत्पन्न होने के पहले, शुभ परिणाम में बाह्य त्याग आदि का कोई भी परिणाम हो, फिर भी प्रथम प्रयत्न शुद्धात्मा के श्रद्धान संबंधित करना चाहिए। और जब तक श्रद्धान उत्पन्न न हो तब तक चाहे कैसे भी शुभ परिणाम हो; (क्योंकि) होंगे तो जरूर लेकिन उसे मुख्य नहीं करना है। अथवा उसकी श्रद्धा नहीं करनी है कि जैसे यह मुझे लाभ का कारण हुआ, मेरे कल्याण का कारण हुआ।

यह ९९ वाँ बोल है। (वैसे तो) कल चला था। थोड़े विशेष विचार आये थे (इसलिए दो पंक्तियाँ फिर से लें ली)।



धारणा और विचारमें निज स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार परद्रव्य और परभावको, इसकी भिन्नता होने पर भी जीव ग्रहण करके उपाधि भोगता है, वैसे स्वद्रव्यको लक्षण द्वारा-वेदन द्वारा ज्ञानमें स्वके रूपमें ग्रहण करने पर अनुभव हो सकता है। इसलिए निमित्त, राग, परलक्षी उघाड़, धारणा - इत्यादिकी अपेक्षा छोड़कर निजावलोकनमें आना चाहिए। रुचि द्वारा पदार्थका ग्रहण होता है।

- पूज्य भाईश्री (अनुभवसंजीवनी - ८८७)



• 'गाय-भेंस आदि पशुओं के कण्डे मिलते ही गरीब स्त्रियाँ बहुत खुश हो जाती हैं और धन-वैभव मिलने पर सेठ लोग बाग़-बाग़ हो जाते हैं। परंतु कण्डे और धनादि में कोई अंतर नहीं। एक बार आत्मा के वैभव का दर्शन करे, तो बाह्य वैभवों की निर्मूल्यता भासित हो जाए।' १००.



प्रवचन - ५, दि. ७-११-१९८२

(‘परमागमसार’) - वचनामृत - १०० ‘गाय-भेंस आदि पशुओं के कण्डे मिलते ही गरीब स्त्रियाँ बहुत खुश हो जाती हैं।’ यह कण्डा जो जलाते हैं, उसे खरीदकर लाना न पड़े, पैसे खर्च करने न पड़े, इसलिए पशुओं की विष्टा इकट्ठी करने निकलते हैं, गोबर इकट्ठा करने निकलते हैं। गाँव में जो बड़े हुए हो उसको पता होगा। जब कि यह अहीर, ग्वाले लोग तो कण्डे का व्यवसाय करते हैं, उनका तो वह कमाई का साधन है। क्या कहते हैं ?

यह गोबर क्या है ? तिर्यच की विष्टा है। गोबर क्या चीज़ है ? तिर्यच की विष्टा है, पशु की विष्टा है। इस विष्टा के मिलने पर भी मनुष्यप्राणी (खुश होता है)। ये जो स्त्रियाँ हैं, वह तो मनुष्य ही है न ! पर्याय से मनुष्य है। उसकी स्थिति (पशु से) ऊँची है। यहाँ तुलना में क्या लेना है ? कि, मनुष्य जो है वह तिर्यच से उच्च स्थान में है, फिर भी वह तिर्यच की विष्टा मिलने पर खुशी होता है ! देखो ! यह दीनता क्या चीज़ है ? जीव रजकण में जब सुख मानता है तो उसकी परिस्थिति कहाँ तक गिरती है ! कि, खुद मनुष्य होने के बावजूद भी अपने से हलकी जाति के जीव - तिर्यच जो हैं, उस तिर्यच की विष्टा में भी वह आनंद मानता है। यहाँ तो अभी इससे भी आगे की बात करेंगे। वह खुश-खुश हो जाती है। इसमें भी बड़ा गोबर का पिंड जब मिल जाये कि जिस एक से पूरा टोकरा भर जाये, तब तो बहुत खुश हो जाये कि चलो ! अच्छा मिल गया। **'और धन-वैभव मिलने पर सेठ लोग बाग-बाग हो जाते हैं।'** इन दोनों को एक ही वर्ग में रख दिया।

गुरुदेवश्री चंदा इकट्ठा नहीं करते थे। उनकी मुख्य पद्धति ऐसी थी, वे कभी चंदा इकट्ठा नहीं करते थे। चंदा का नाम नहीं। जिसको अपनी मरजी से देना हो वह दे बाकी कोई करोड़पति एक पैसा भी न दे, तो भले ही न दे। इसके साथ कोई निसबत नहीं। इसलिए पैसेवालों को राजी रखने का तो खैर कोई प्रश्न ही नहीं था। लेकिन इन पैसेवालों की दीनवृत्ति कैसी है ? तो कहते हैं कि, यह गोबर लेने निकली हुई बाई जैसी है ! दोनों को एक ही वर्ग में रख दिया है। दोनों की दीनता में कोई फ़र्क नहीं है। ऐसा कहते हैं।

अरे ! लड़ती हैं उसके लिए, गोबर के लिए दो-चार स्त्रियाँ जब एक साथ हो जाती हैं तो आपस में लड़ाई कर लेती हैं, वैसे यहाँ पैसे के लिए लड़ाई चलती है। बच्चेलोग जब खेलते हैं तब कौड़ियों के लिए लड़ लेते हैं - सिर फोड़ देते हैं ! खेलते-खेलते अगर आमने-सामने हो जाये तो पत्थर से सिर फोड़ देते हैं कि नहीं ? ऐसा है। जीव की स्थिति ऐसी है ! ज्ञानियों जगत के सभी पदार्थों को गोबर व कौड़ी जैसे देखते हैं और जिनको जगत के पदार्थों की महत्ता है, महिमा है उन्हें पागल समझते हैं, उन्हें मूर्ख समझते हैं कि क्या इस गोबर और कौड़ी में महिमा कर रखी है !

इतना ही नहीं, इस महिमा को (ज्ञानी) कैसे जानते हैं ? कि, जब तक जगत में जो-जो पदार्थ महत्तारूप - महत्ता के कारणरूप माने जाते हैं, गिने जाते हैं, इसकी महत्ता जीव को छूटती नहीं है, तब तक जीव को आत्मा की महत्ता नहीं आती है। जड़ पदार्थ की महत्ता जब तक नहीं छूटती है तब तक चैतन्य पदार्थ की महत्ता नहीं आती है। यह एक विशेष बात है। क्योंकि जड़ की महत्ता के वक्त जीव के परिणाम का रस जड़ में जाता है और जड़-सा हो जाता है, उसमें फिर चैतन्य की स्फुरणा नहीं रहती। वहाँ चैतन्य मुरझाता है, मुर्च्छित हो जाता है, मुर्च्छा आ जाती है।

चैतन्य की इस मुर्च्छा टालने के लिए, सर्व प्रथम उसको जड़ पदार्थ की कीमत छूट जानी चाहिए। महत्ता छूट जानी चाहिए और वह भी आत्मस्वरूप की महत्ता के वश। ऐसे ही ओघे-ओघे नहीं कि चलो, हमें जड़ की महत्ता नहीं है इसलिए छोड़ दिया, ऐसे भी नहीं। आत्मस्वरूप की महत्ता आने के साथ (उसकी महत्ता छूटनी चाहिए) त्याग तो ग्रहणपूर्वक होता है, ग्रहण क्या किया ?

इस पर त्याग का मूल्यांकन है। आत्मा ने ग्रहण क्या किया ? यदि शुद्धात्मतत्त्व को ग्रहण किया, परमात्मतत्त्व को ग्रहण किया, आत्मा परमेश्वरपद है (ऐसा यदि ग्रहण किया) जब तो उसे बाहर की कीमत छूटी है। फिर उसे बाहर में त्याग होना सहज और संभवित है। फिर तो उसे वह सानुकूल है। परंतु यँ ही (त्याग) किया होगा, तो वह भी योग्य नहीं होने से, एक नहीं तो दूसरे अनर्थ का कारण बनता है। (क्योंकि) उसमें मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

प्रश्न :- प्रथम जब आत्मस्वभाव की महत्ता आती है तब क्या लगता है ? और कैसे वह महत्ता लगती है ?

समाधान :- पहचान हुए बिना महत्ता नहीं आती। किसी भी पदार्थ की महत्ता बिना पहचान नहीं आती। जगत में ऐसा कहा जाता है कि हीरा कीमती चीज़ है, सोना कीमती चीज़ है, लेकिन उसकी कीमत तब है जब पहचान हो। घर में हीरा पड़ा हो लेकिन पहचान नहीं होगी तो पैर से ठोकर मारेगा ! क्योंकि बिना पहचान कीमत नहीं आती। (अतः) पहचान करनी चाहिए। सर्व सत्पुरुषों का यह वचन है कि सब से पहले आत्मा को पहचानो ! आत्मा को पहचानो, पहचानपूर्वक एकाग्र हो ! यह प्रथम आज्ञा है !

यद्यपि पहचान होने पर एकाग्रता हुए बिना रहेगी नहीं। पहचान आती है तब वह अनंत महिमावंत तत्त्व की महिमा आती है, और महिमा जिसकी आयी वहाँ सर्व परिणाम एकाग्र हुए बिना नहीं रहते। यह कुदरती परिस्थिति है। अतः सर्व प्रथम पहचान करो ! जितनी खुद की शक्ति है, उस सर्व शक्ति से - पूरे उद्यम से आत्मा की पहचान करने का प्रयास करना है। दूसरा सब बाद में करना, पहले यह करना है। ऐसी बात है। यह बात तो ली है न !

समयसारजी की १४४ वीं गाथा में लिया है कि - 'प्रथम तो श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना।' ऐसी आज्ञा की है ! 'निश्चय करना' कहो चाहे 'पहचान करना' कहो, दोनों एकार्थ हैं।

यहाँ क्या कहते हैं ? कि, इसतरह 'धन-वैभव मिलने पर सेठ लोग बाग-बाग हो जाते हैं।' चिद्धा में मुनाफ़ा बढ़ा हुआ मालूम हो तब रस बढ़ जाता है कि अच्छा ! चलो, अपनी पूँजी बढ़ी है ! पूँजी बढ़ी, अपनी शक्ति बढ़ी, अपनी पूँजी बढ़ी - ऐसे इसका रस चढ़ता है। जब कि वह पदार्थ तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है और चैतन्य पदार्थ की अपेक्षा से तो वह जड़ है। इतना ही नहीं, नाशवंत है। नाशवंत है मतलब इसका संयोग भी कायम नहीं रहनेवाला है, फिर भी जीव के रस का पारा उपर चढ़ जाता है। जब यह रस का पारा चढ़ जाता है तब आदमी बहक जाता है न ! जैसे मुझे किसी की परवाह नहीं है ! देखा जाता है कि नहीं ? लोग कहते हैं कि भाई ! पहले कुछ नहीं था इसमें दो पैसे हो गये, इसलिए (गुजराती में तो कहावत है कि) 'चकली फुलेके चड़ी गई' मतलब अब जमीन पर पैर ठहरते नहीं हैं। पहले यूँ चलते थे अब ऐसे चलने लगे हैं। लोगों में तरह-तरह से बोला जाता है जैसे मुँह फुलाकर अब चल रहे हैं, क्योंकि सब बदल गया ! (यह सूचित करता है कि) उसे पैसे की गर्मी आ गई है !

नाशवंत पदार्थ के काल्पनिक आधार से भी जीव के परिणाम को इतना बल मिलता है, तो अनादि-अनंत शाश्वत चैतन्य ऋद्धि दिव्य शक्तियों से भरा हुआ तत्त्व है, जो सम्यग्दृष्टि जीवों की निश्चिंतता का आधार है। इसका आधार जो लेते हैं, आश्रय लेते हैं कि 'मैं ऐसा !' जो परमेश्वरपद है, साक्षात् सिद्धपद है, इसके

आश्रय का बल कितना रहता होगा ? अनंत रहता है। उन्हें जगत में किसी की परवाह नहीं रहती कि जगत के जीव मुझे अनुकूल रहे तो ठीक ! दूसरे लोग मुझे धर्मी जाने तो ठीक ! लोग मुझे ऐसा जाने और माने तो अच्छा ! ऐसी दूसरों से अपेक्षित भावों की लाचारी छूट जाती है।

सोगानीजी के साथ तो (मेरा) परिचय था, काफ़ी परिचय था (इसलिए) एक बार कहा कि 'आपके बारे में गुरुदेव को पता चले तो काफ़ी प्रमुदित होंगे।' तब उन्होंने कहा 'मानो कि गुरुदेव ने जान लिया और गुरुदेव को प्रमोद भी आया, (तो) मेरे आत्मा को क्या फायदा होगा ?' ठीक ! मैं तो स्वार्थी हूँ। मुझे कहाँ लाभ होगा, इतना ही देखता हूँ ! कोई मुझे धर्मी या अच्छा जाने, इससे मेरे आत्मा को तो लाभ हो जाये, ऐसा तो नहीं है। जब ऐसा नहीं है तो मेरा इसमें कोई प्रयोजन नहीं रहा। ऐसे प्रयोजन रहित कार्य में मुझे रस नहीं है। मुझे मेरे प्रयोजनभूत कार्य में रस है। (यानी कि) मुझे आत्मशांति व आत्मिक सुख की प्राप्ति हो, मेरे आत्मगुणों का विकास हो और अवगुणों का नाश हो यही मेरा प्रयोजन है। इसमें ही मुझे रस है, अन्य किसी भी कार्य में मुझे रस नहीं है।

प्रश्न :- सभी ज्ञानियों को ऐसा ही होता है ?

समाधान :- सभी को, यह तो एक का दृष्टांत लिया। (वैसे तो) सभी ज्ञानियों यही स्थिति है। आत्मदृष्टि प्रगट हुई मतलब क्या ? कि, आत्मा के गुण की, आत्मा के स्वभाव की दृष्टि प्रगट हुई। वह कब प्रगट होती है ? कि, जब अनेक प्रकार के व्यामोह की मंदता होती है। जब किसी भी मुमुक्षुजीव को बाह्य लोभ, बाह्य मान, बाह्य कीर्ति, बाह्य पदार्थ, बाह्य दृष्टि - इन सभी प्रकार के

बाह्य तत्त्वों का व्यामोह मंद होता है, तब उस जीव की दृष्टि स्वभाव से, गुण से उत्पन्न होनेवाले सुख पर जाती है। मालूम होता है कि अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं है। सद्गुण के अलावा कहीं भी सुख नहीं है। चाहे वह जीव फिर स्वर्ग में जाये या जगत के किसी भी कोने में जाये। सद्गुण के अलावा कहीं सुख है नहीं, जब कि अवगुण के साथ दुःख अविनाभावीरूप से जुड़ा हुआ है। धर्म के प्रकरण में सुख-दुःख का हिसाब ऐसा है। जगत के प्रकरण में दूसरी बात है। जगत में पैसे और संपत्ति हो वहाँ सुख और गरीबी व शरीर की अशाता में दुःख ऐसा हिसाब है। वह संपत्ति और शाता में सुख का नापदंड यहाँ नहीं चलता। संपत्तिवान दुःखी देखे जाते हैं और शरीर तंदुरस्त व शाता के उदय सहित हो वे भी बेचैन और दुःखी देखे जाते हैं।

मुमुक्षु :- यहाँ की तो दुनिया ही पूरी अलग है !

पूज्य भाईश्री :- अलौकिक विषय कहा है ! इसीलिए इस विषय को लौकिक दृष्टि से अलग, विशिष्ट, अलौकिक गिना जाता है !!

इसलिए (यहाँ कहा कि) उसको सुख वहाँ से लेना है। धर्मी को गुण से उत्पन्न सुख चाहिए, उन्हें बाह्य पदार्थमें से सुख नहीं लेना है। इसलिए जो (धन, वैभव मिलने पर) बाग-बाग हो जाते हैं, 'परंतु कण्डे और धनादि में कोई अंतर नहीं।' देखो ! ज्ञानी की दृष्टि में पैसे से सुख माननेवाला कण्डे में सुख माननेवाले गरीब जैसा है !! उनकी दृष्टि में वह श्रीमंत नहीं अपितु वह गरीब है !!

गुरुदेवश्री तो कहते थे, भावनगर के महाराजा कृष्णकुमारसिंहजी सोनगढ़ पधारे तब कहा था कि देखो, दरबार ! हमारी तो बात पूरी अलग है, जो थोड़ा माँगे वह छोटा भिखारी, ज्यादा माँगे

वह बड़ा भिखारी ! आपको साल में एक करोड़ रुपया चाहिए इसलिए आप हमारी नज़र में तो बड़े भिखारी हो। क्योंकि आपकी खुशामत करके हमें कोई पैसा चाहिए, ऐसी व्यापार की दृष्टि धर्म में तो नहीं हो सकती। मानो कहीं है तो वह धर्म नहीं रहा दुकानदारी हो गई। अगर पैसा इकट्ठा करने के लिए श्रीमंतों की या राजाओं की जहाँ प्रशंसा की जाती है, वहाँ तो फिर दुकानदारी हो गई। फिर वह धर्म का स्थान नहीं रहता।

हमें अपना आत्मा क्यों दिखता नहीं ? ऐसा एक प्रश्न आता है। तो कहते हैं कि बुद्धि में तो खामी नहीं है। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव है इसलिए बुद्धि की कमी तो नहीं कह सकते। जगत के अनेक चातुर्यताभरे कार्य तो जीव करता ही है, तो उसमें बुद्धि की कमी तो नहीं कह सकते। (अर्थात्) बुद्धि तो है। अब, ज्ञान में बुद्धि का उघाड़ होने के बावजूद भी व आत्मा के बारे में कह रहे सत्शास्त्र, सत्पुरुष आदि मिलने पर भी ज्ञान में अपना आत्मा भासित क्यों नहीं होता ? कि, इसका यह स्पष्ट कारण है कि जब तक जीव को जगत के पदार्थों की महत्ता है तब तक उसे आत्मा भासित नहीं होता। यह बात स्पष्ट है। जगत के पदार्थों की महत्ता पूर्ववत् रहा करे और शास्त्र पढ़ने से उसे आत्मा समझ में आ जाये, भासित हो जाये, ऐसा कभी नहीं बनता।

श्रीमद्जी ने तो एक (जगह) बहुत ही स्पष्ट लिखा है ! लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक मान, कुल, जाति इत्यादि संबंधित मोह या विशेषत्व मानना हो; विशेषत्व मानना मतलब (यहाँ जो महत्ता कही वह), उसे छोड़नी न हो, अपनी बुद्धि अनुसार स्वेच्छा से अमुक गच्छादि का आग्रह रखना हो; वह भी पर में जाता है, तब तक जीव को अपूर्व गुण कैसे प्रगट हो ? नहीं

होगा। यह विचार सुगम है, कि नहीं हो सकता। (अन्य एक पत्र में) तो बहुत स्पष्ट लिखा है कि उसे (आत्मा) भासित नहीं होता। जब तक लौकिक पदार्थों की महिमा है तब तक उसका रस ज्ञानदर्पण को मलिन करता है। बुद्धि का उघाड़ भले ही हो परंतु वह मलिनबुद्धि है। अतः इसमें शुद्ध - निर्मल ऐसा चैतन्य तत्त्व भास्यमान नहीं होता है। जो आत्मतत्त्व शुद्ध, निर्मल है वह ज्ञानस्वभावी है। ज्ञान में ज्ञान का स्वभाव ही भासित नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञान का स्वभाव भासित होने में बाधक ज्ञान से विरुद्ध ऐसे जड़ तत्त्व का जो ज्ञान में रस है उस रस को नहीं टाला - ऐसा है। श्रीमद्जी ने मुमुक्षुओं के लिए बहुत मार्गदर्शन दिया है।

(यहाँ कहते हैं) 'एक बार आत्मा के वैभव का दर्शन करे, तो बाह्य वैभवों की निर्मूल्यता भासित हो जाए।' ऐसा है। एक बार देखे तो निर्मूल्य भासित हो और विचार से निर्मूल्य करे तो देखने में आये। क्योंकि दोनों एक साथ होता है। अलग-अलग करने का प्रश्न नहीं। आत्मा की पहचान करने के प्रयास में विचार की स्थिति में निर्मूल्यता विचारपूर्वक लगनी चाहिए, विचारपूर्वक आनी चाहिए।

विचारपूर्वक मतलब वैसे विचार किया तो जाता है, विचार ही नहीं किया जाता है सो बात नहीं है। लेकिन मूल्य छूटता है कि नहीं यह सवाल है। इसकी कोई कीमत नहीं है, इसकी कोई कीमत नहीं है, इसकी कोई कीमत नहीं है - ऐसा विचार करने पर भी वास्तव में इसकी कीमत छूटती है कि नहीं, यह देखना है। अंतरंग से छूटती है कि नहीं यह देखना है।

अगर इसकी कीमत छूट जाये; जब कि ऐसी कीमत आने के पीछे मूल कारण सुख है। सुख की भ्रांति के कारण इसकी कीमत

आ गई है, तो इसके लिए विचार की सही रीत कैसी होनी चाहिए ? कि, जहाँ-जहाँ उसे सुख का अनुभव हो; यद्यपि वह वास्तव में सुख नहीं सुखभास है, जहाँ-जहाँ ऐसे सुख का अनुभव हो, जिस-जिस परिणाम में हो, जिस-जिस संयोग में, इष्ट संयोग - अनिष्ट वियोग वह उसके सुख का कारण है। इसमें (जीव ने) इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना की है। वास्तव में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है और हकीकत में वहाँ सुख है या सुखाभास है ? (इस) अनुभव को पकड़कर, अवलोकन द्वारा इसका मूल्य छोड़ना चाहिए। मूल्य छोड़ना चाहिए, इसकी कीमत छोड़नी चाहिए। जहाँ अच्छा लगा वहाँ महत्ता आयी, वहाँ उसका मूल्यांकन हो गया कि यह अच्छा है। जगत में कोई जड़ पदार्थ चैतन्य के लिए अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। ऐसा जो सत्य है, परम सत्य है, वह किस प्रकार सही है ? वह अनुभव से किस प्रकार सही है ? विचार में सही होना पर्याप्त नहीं है अनुभव में किस प्रकार सही है ? इसके लिए प्रयास चलना चाहिए।

अगर इस प्रकार विचारपूर्वक निर्मूल्य किया होगा तो ज्ञान में मलिनता नहीं रहेगी, उस भूमिका के योग्य। और इस ज्ञान में स्वयं का ज्ञानस्वभाव क्या है ? कैसा है ? ऐसा प्रतिभास होने का अवसर आये और एकबार यदि वह अपने निधान को देख ले, कि मेरा स्वरूप तो केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय मंडित है, तो उसे जगत के कोई भी पदार्थ मूल्यवान भासित नहीं होंगे। निर्मूल्य भासित होंगे। पूरी दृष्टि तब से बदलती है।

(इसलिए कहते हैं कि) एक बार आत्मा के निधान को देख लिया तो इतनी महत्ता आयेगी, इतनी महत्ता आयेगी कि एक पलड़े में खुद का आत्मा, तराजू के एक पलड़े में अपना आत्मा और

दूसरे पलड़े में तीन काल, तीन लोक को (रखा जाये तो) वह पलड़ा उछल पड़ेगा ! पूरा पलट जाएगा वह पलड़ा ! यह पलड़ा वजन के कारण ज़ोर से बैठ जाएगा। इसका तोल किया जाये तो आत्मा का पलड़ा बैठ जाएगा और दूसरा पलड़ा उछल जाएगा ! आत्मा ऐसा अनंत महिमावंत है !! (जिसके आगे) बाह्य वैभवों की निर्मूल्यता जीव को भासित हुए बिना रहेगी नहीं। यह १०० नंबर पूरा हुआ।



परिणामका अवलोकन करनेका कहा जाता है। उसमें भी पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाये, ऐसा विपर्यास नहीं होना चाहिए। यह खास ध्यानमें / लक्षमें रखने योग्य है। अवलोकन द्वारा परलक्षका अभाव करानेका हेतु है। तदुपरांत, स्वभावको पहचाननेके लिए ज्ञान निजावलोकनरूप अनुभवमें आनेवाले भावोंका परिचय करके, स्वभावका निर्णय करे, यह हेतु है। परिचयकी प्रक्रिया (Process) निज भावोंके अवलोकनके सिवा, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकती। परन्तु सिर्फ परिणामको ही देखते रहनेमें, यदि स्वभावका निश्चय करना छूट गया, तो पर्यायके एकत्वरूप मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। ऐसा विपर्यास नहीं हो जाये, यह अवलोकनमें प्रवेश करते वक्त ही लक्षमें होना चाहिए। अवलोकन करनेका कहनेमें आये या अन्य कुछ भी करनेकी बात कही हो, (लेकिन) किसी भी पर्यायकी मुख्यता रहनी / होनी नहीं चाहिए। परन्तु (स्वरूप लक्षसे) सहज वैसा हो जाता है - ऐसा समझने योग्य है।

- पूज्य भाईश्री (अनुभवसंजीवनी - ८१९)



प्रश्न :- आत्मा को जानने का प्रयत्न करने पर भी वह जानने में क्यों नहीं जाता ?

उत्तर :- सच्चा प्रयत्न तो किया नहीं, उल्टी ही कोशिश करता है। पुण्य में एकता करता है, राग में एकत्व कर लाभ मानता है, व्रतादि से लाभ मानकर अभिमान करता है। इन सभी विपरीत बुद्धिओं को छोड़कर ज्ञायक मूर्ति आत्मा के सम्मुख देखे तब ही आत्मा जानने में आता है। १६२.



प्रवचन - ६, दि. २८-१-१९८३

(परमागमसार) १६२ वाँ बोल।

‘प्रश्न :- आत्मा को जानने का प्रयत्न करने पर भी वह जानने में क्यों नहीं आता ?’

प्रश्नकार का अभिप्राय ऐसा मालूम होता है कि हमारा प्रयत्न तो है फिर भी प्रयत्न का फल क्यों नहीं ? यह समाधान नहीं हो रहा है। प्रश्न में असमाधान ऐसा है कि, हमारा प्रयत्न तो है,

कोशिश नाम प्रयत्न, परंतु इसका फल आत्मा का ज्ञान जो होना चाहिए, अनुभव होना चाहिए, वह क्यों नहीं आता है ? यह प्रश्न है।

‘उत्तर :- सच्चा प्रयत्न तो किया नहीं, उल्टी ही कोशिश करता है।’ ठीक !

मुमुक्षु :- (पूज्य) बहिनश्री (चंपाबहिन) ने जिसे प्रमाद कहा।

पूज्य भाईश्री :- प्रमाद कहा, और कहते हैं कि जीव के परिणाम जब स्वरूप में नहीं लगते हैं, एकाग्रतापूर्वक स्वरूप में नहीं लगते हैं, तो अन्यत्र कहीं तो लगे हैं ही ! अब, निवृत्ति लेकर इस प्रकार की इच्छापूर्वक जो भी प्रवृत्ति करे इसमें शुभ योग व शुभउपयोग भले ही विशेषरूप से हो, लेकिन वह भी तो अटकन का स्थान ही हुआ न ! बाहर में शुभउपयोग व शुभयोग हो, अशुभयोग न हो - व्यवसाय या अन्य प्रवृत्ति न हो बल्कि शुभयोग जैसे - शास्त्र स्वाध्याय, चर्चा-वार्ता आदि हो तो ऐसे शुभयोग में भी परिणाम लगे रहते हैं जब तो ज्ञायक में नहीं आते हैं न ! अर्थात् शुभयोग में भी अटके नहीं और ज्ञायक में लगे, ऐसा तथारूप प्रयत्न होना चाहिए, वही सच्चा प्रयत्न है और ऐसे प्रयत्न का अभाव, वह गलत और विपरीत प्रयत्न है !! ऐसे लेना है।

उल्टे प्रयत्न में ऐसा कहना चाहते हैं कि, प्रायः जीव को शुभ की रुचि रह जाती है। क्योंकि कषाय की मंदतारूप परिणाम में (उसे) ऐसा लगता है कि मेरे भाव और (मेरी) भावना बहुत अच्छे चल रहे हैं। इस प्रकार ऐसे परिणाम पर जो (ज़ोर) - शुभ परिणाम पर जो ज़ोर और शुभ परिणाम का अपनेरूप में अनुभव कि, ‘ये भाव मेरे’ ‘मुझे हुए ऐसे भाव’ ‘मैंने किये हुए भाव’ और ‘अच्छे भाव’ (ऐसा ज़ोर रह जाता है)। क्योंकि दूसरे अनेक परिणाम भी जीव

को ही हो रहे हैं अतः उसे अनुभव तो इन दो जाति के परिणाम का ही है। तीसरी जाति का अनुभव नहीं है। दृष्टि नीचे की ओर होने से उसे वैसा लग जाता है और अटक जाता है, वहाँ अटक जाता है। वास्तव में उसे असंतोष रहना चाहिए कि चाहे जैसे परिणाम हो, भले ही पूर्व की अपेक्षा अच्छे भी हो, फिर भी मुझे उन हलके परिणामों से इन परिणामों की बराबरी नहीं करनी है। मुझे तो परिणाम की ऊर्ध्वता न हो तब तक ऐसे परिणाम क्यों ? यह परिस्थिति चाहिए। असंतोष रहना चाहिए, तीव्र असंतोष रहना चाहिए, ज्यों-ज्यों काल बीतता जाये उतना।

जैसे कोई मनुष्य प्रयत्न करे और उसका फल नहीं मिलने पर उसे आकुलता होती है कि, मेरी मेहनत बेकार गई, मेरा प्रयास व्यर्थ गया। ऐसा कैसे चले ? मेरे प्रयास का फल तो आना ही चाहिए, फिर इसके दुःख सहित जो (परिणाम) उत्पन्न होंगे उसमें जोर रहेगा। (हमें) ऐसा जोर क्यों नहीं आता ? क्योंकि हम ऐसे जो परिणाम करते हैं, उस परिणाम की हमें रुचि है। ऐसी शुभ की रुचि जिसको है उसे शुद्धात्मा की रुचि नहीं है। जिसे शुभ की रुचि है, पुण्य की रुचि है उसे जड़ की रुचि है, उसे चैतन्य की रुचि नहीं है, ऐसा है।

अतः शुभभाव हो जाये इसकी दिक्कत नहीं है, लेकिन इसका ममत्व हो कि यह ठीक है, अच्छा है, मेरा है और अच्छा है, ये परिणाम मेरे हैं और अच्छे हैं, ऐसा इसका ममत्व हो व रुचि हो, तब जो उसका प्रयत्न होता है उस प्रयत्न को गुरुदेवश्री उल्टी दिशा का प्रयत्न कहते हैं। वह प्रयत्न उसका यथार्थ प्रयत्न नहीं है। क्योंकि वैसे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के पुरुषार्थ की पर्याय, उसके वीर्यगुण के परिणाम में पुरुषार्थ की जो पर्याय है, वह प्रयोजनभूत

कार्य करने के लिए समर्थ है और जहाँ-जहाँ उसे प्रयोजन लगता है वहाँ-वहाँ वह ठीक तरह काम भी कर लेता है। इसलिए पुरुषार्थ नहीं है सो बात नहीं है। सवाल है सिर्फ पुरुषार्थ की योग्यता और अयोग्यता का ही। पुरुषार्थ तो है ही परंतु पुरुषार्थ अयोग्य स्थान में है। उसे योग्य स्थानरूप करना है। इतनी बात है। फिर वह पुरुषार्थ का फल आये बिना रहेगा नहीं। नगद फल ही मिलता है। धर्म के प्रकरण में फल उधारी में नहीं आता। उसका फल उस ही काल, उसी समय नगद मिलता है। ऐसा यह शुद्धोपयोग का व्यापार एकदम नक़दी है। इसमें पीछे से आशा रखकर बैठना पड़े सो बात नहीं है। इसलिए उत्तर में वह बात ली है।

‘सच्चा प्रयत्न तो किया नहीं, उल्टी ही कोशिश करता है।’ सच्चा प्रयत्न नहीं किया मतलब उल्टी कोशिश की है, यह बात थोड़ा ध्यान खींचे ऐसी है। वरना (मुमुक्षु) कहते हैं कि कोशिश तो हमारी सच्ची है परंतु अल्प है। यह बात थोड़ी ध्यान में लेने जैसी है कि, कहीं तुझे शुभ की रुचि तो नहीं हो गई ? इसका ममत्व तो नहीं हो गया ? जो परिणाम तू करता है, व्यवहार की दृष्टि से भले ही वे कितने भी उच्चकोटि के गिने जाते हो, फिर भी उन उच्चकोटि के परिणाम की यथार्थता और सुंदरता तब ही है कि जब तत्संबंधित भीतर में अहम् का सेवन न हो। वरना उन उच्चकोटि के परिणाम में ममत्व होने से अहंभाव का जो दूषण उत्पन्न होता है वह इसकी सांगोपांग सुंदरता को रहने नहीं देता।

इसमें एक प्रकारांतर का विचार करने जैसा है कि, कोई जीव (ऐसा है जो) अभी अनुभव में नहीं आया लेकिन अनुभव के कारणभूत परिणाम का उन्नति क्रम - बढ़ती हुई परिणाम श्रेणी में वर्तता हो, जब कि अभी शुद्धता की शुरुआत नहीं हुई हो इसके पहले शुभ

परिणाम होते हैं, फिर भी वह प्रकार ऐसा है कि जिसमें वर्तमान परिणाम में संतोष नहीं होता। ये परिणाम इतने अच्छे हैं ऐसा जोर व ऐसा ध्यान तक उसका नहीं जाता। उसका ध्यान जो ध्येय (निज शुद्धात्मस्वरूप) पर है उस ध्येय को पकड़ने के लिए उग्र हुए परिणाम, ऊर्ध्व श्रेणी के परिणाम की स्थिति से लक्ष को हटा देता है। (यानी कि) परिणाम अपनी वर्तमान स्थिति को लक्ष में ही नहीं लेते। परिणाम ध्येय को ही लक्ष्य में रखते हैं। अतः वर्तमान हो रहे परिणाम 'अच्छे हुए' ऐसे जोरपूर्वक इसमें अहम् उत्पन्न ही नहीं होता है। जिसके कारण बिना अटके उत्तरोत्तर ऊर्ध्व परिणाम की श्रेणी द्वारा ध्येय तक पहुँच जाता है। जीव की (ऐसी) कोशिश उल्टी नहीं है। ऐसी इसकी कोशिश उल्टी नहीं होने से उसका फल भी तुरंत मिल जाता है।

जिस किसी जीव को काफ़ी लंबा समय लग चुका, तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने के पश्चात् लंबा समय बीत चुका, उसे गुरुदेवश्री के ये वचन एक चेतावनी दे रहे हैं, सावधान कर रहे हैं कि, देख भाई ! यह तेरी उल्टी कोशिश चल रही है। जीव को ऐसा लगता है कि हम इसमें उल्टा क्या कर रहे हैं ? सनातन मार्ग में प्रसिद्ध आचार्यों के जो शास्त्र हैं, उसीका तो अध्ययन करते हैं और आत्मा कैसा है और कैसा नहीं ? ऐसी आत्मा के स्वरूप संबंधित स्वरूप विचारणा व स्वरूप-चिंतन ही तो करते हैं। इसमें विपरीत क्या है ? और सत् के निमित्त से क्या उल्टा होगा ? ये तो सत्शास्त्र है। वाणी सुनते हैं, गुरुदेव की टेप सुनते हैं, प्रत्यक्ष हो तो प्रत्यक्ष सुनते हैं इसमें उलटा क्या है ? हम कहाँ दूसरी जगह जाते हैं ? (यहाँ कहते हैं) नहीं ! यहाँ भी अगर यह जीव यथायोग्य पुरुषार्थ के क्रम में आकर स्वानुभव तक न

पहुँचे और समय व्यतीत कर ले तो उसका अटकने का (पुरुषार्थ चलता है) ! पुरुषार्थ तो उसका है ही (परंतु) अटकने के लिए पुरुषार्थ चलता है ! इस पुरुषार्थ को विपरीत पुरुषार्थ व उलटा प्रयत्न कहा जाता है।

स्पष्टरूप से बाहर से विपरीतता न लगे, परंतु फिर भी उसमें विपरीतता है जिसके कारण अटक गया है, यह बात नक्की है। यहाँ इसमें किसी के भी लिए छूट नहीं रखी। यह तो वस्तु की स्थिति ही है। इसलिए खुल्लम-खुल्ला यह बात कही है।

इस उलटी कोशिश में क्या करता है कि, **‘पुण्य में एकता करता है...’** देखो ! उसी विषय को लिया। अनुसंधान में जो विषय लिया है वह यही है कि जीव शुभराग में यानी कि पुण्य में एकता करता है। एकता करना मतलब उसे भला जानना। उन भावों को - पुण्यभावों को अच्छा जानता है। या ऐसे भावों से मुझे लाभ हुआ। राग में एकता करना मतलब उसमें लाभ मानता है कि ऐसा करते.. करते... करते... ये लाभ के परिणाम उन (शुद्धता के) परिणाम तक पहुँच जायेंगे ! इसतरह वे परिणाम अच्छे (लगते हैं), जिसके कारण इसमें अहम्पना, ममत्व और इसकी रुचि होती है। जब कि ये परिणाम आत्मा की जाति के नहीं हैं, आत्मा की स्वभाव जाति के तो नहीं परंतु स्वभाव से विरुद्ध जाति के हैं, वीतराग स्वरूप से विरुद्ध ऐसी राग की जाति के हैं, जिसमें उसने लाभ माना है। यानी कि दुश्मन को साथ दे रहा है ! पक्ष तो करे दुश्मन का और आशा यों धरे कि मेरा हित हो ! तो कहते हैं कि ये तेरे दुश्मन तो अनादि से तेरा घात कर ही रहे हैं। इसको साथ देने से तुझे क्या लाभ होगा ? इसको साथ देने से लाभ तो कुछ नहीं होगा परंतु नुकसान होगा।

‘राग में एकत्व कर लाभ मानता है, व्रतादि से लाभ मानकर अभिमान करता है।’

मुमुक्षु :- दुश्मन को दुश्मन देखे जब तो लाभ न माने।

पूज्य भाईश्री :- लाभ माने जब तक कैसे दिखे ? यह तो श्रीगुरु कहते हैं कि भाई ! ये तेरे स्वभाव से विरुद्ध जाति के हैं, फिर तेरे दुश्मन नहीं तो क्या हुआ ? बिलकुल प्रतिपक्ष है। राग और वीतरागता एकदम प्रतिपक्ष है। आमने-सामने है। अब, तू अगर उसमें लाभ मानता है तो इसका अर्थ कि तुझे इसकी पहचान नहीं है। उसका स्वरूप कैसा है - इसकी तुझे पहचान ही नहीं है। ऐसा है।

‘व्रतादि से लाभ मानकर अभिमान करता है।’ ऐसा अभिमान हुए बिना रहेगा नहीं। जब कोई क्रिया मार्ग पर विकास करने जाता है तब वह बाह्य त्याग करता है। व्रत, नियम, संयम इत्यादि ग्रहण करने का विचार आता है और ऐसे परिणाम में उसको कुछ महत्ता भासित होती है ! यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, क्या अनुभव होने के पहले हमें ये सब नहीं करना ? (तो कहते हैं कि) शुद्ध में भी तुझे तो पुरुषार्थ करना है और शुभ में भी पुरुषार्थ ही करना है, जब तुझे खर्च ही करना है तो अच्छा माल ही क्यों नहीं लेते ? ऐसा कहते हैं। पैसे से घास भी मिलता हो और हीरा भी मिलता हो, जब दोनों चीज़ मिलती हो तो तुझे घास का क्या काम है ? घास की तो कोई कीमत नहीं है; हीरे की तो कीमत है, वह कीमती चीज़ है। फिर वहाँ क्यों खर्च न करें ? इतनी सी बात है, बस !

दूसरा, व्रत करे इसमें कोई बाधा नहीं है। सहजरूप से कषाय की मंदता में परिणाम असंयमित नहीं होते हो तो जबरदस्ती उसे

असंयमित करने का तो कोई नहीं कहता। क्योंकि आखिर में यह तो निर्दोषता का मार्ग है। लेकिन होते हो तब साथ-साथ इतनी सावधानी रहनी चाहिए कि अगर मुझे किंचितरूप से भी इसका ममत्व या अभिमान हो गया तो यह एक बड़े अटकाव का स्थान है। वह यदि इतनी सावधानीपूर्वक चले जब तो व्रत ग्रहण करनेवाले को भी अभिमान या रुकावटरूपी दूषण उत्पन्न नहीं होगा। लेकिन अंदर में बहुत जागृति होगी तब ही जीव इस मार्ग में प्रवेश कर पाएगा वरना इस मार्ग पर नहीं चढ़ सकेगा, क्योंकि सिर्फ व्रतादि परिणामों का ही अभिमान हो, ऐसा नहीं है।

शास्त्र (स्वाध्याय के विषय में) भी ऐसा ही है। जब उस दिशा में क्षयोपशम बढ़ जाये और शास्त्र की जानकारी करके उस विषय में विशेषज्ञ हो जाये तब भी उसे लगता है कि मुझे ज्ञान हुआ ! क्रियावाले को चारित्र का अहम्भाव आता है जब कि इसको ज्ञान का अहम्भाव हो जाता है।

अतः मोक्षमार्ग के जो मुख्य दो पहलू हैं 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' ऐसा लिया है न ? दो पहलू लिये हैं। 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' (कहा है) तो कोई क्रियामार्ग पर आगे बढ़ता है तो कोई ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़ता है। या कोई दोनों मार्ग पर आगे बढ़ता है जैसे संयम सहित ज्ञान करे ! (क्योंकि) 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' कहा है। फिर भी वे बाह्य पदार्थ आश्रित (परिणाम हैं)। बाह्य पदार्थ आश्रित परिणाम (इसलिए कहा क्योंकि उसे लगता है कि) त्याग के परिणाम में मैंने इतने पदार्थों का त्याग किया। वैसे बाह्य पदार्थ आश्रित परिणाम और ज्ञान में (ज्ञानमार्ग में) यह शास्त्र ऐसा कहता है, वह शास्त्र ऐसा कहता है, उस शास्त्र में ऐसा कहा है - ऐसे जो शास्त्र आधारित ज्ञान के परिणाम

(हैं) इसमें कहीं भी अगर उसे ममत्व हो गया तो अटकाव के सब से बड़े कारण को उसने आमंत्रित किया है ! यह परिस्थिति आये बिना रहेगी नहीं। जिसे गुरुदेवश्री ने यहाँ 'उल्टा पुरुषार्थ' कहा।

गुरुदेवश्री ऐसा कहते हैं कि यह तेरा उलटा पुरुषार्थ है। इस संभवितता को देखते हुए, मतलब प्रायः अधिकांश जीवों को इस प्रकार अटके हुए देखकर चेताया गया है कि ध्यान रहे ! परिणाम तो ऐसे होंगे, संयम के परिणाम का अवधारण करने का भी विकल्प तो आयेगा और व्रतादि का ग्रहण होगा। शास्त्रस्वाध्याय के परिणाम का विकल्प भी आयेगा व शास्त्रस्वाध्याय आदि होगा भी। इस मार्ग पर आनेवाले को दोनों प्रकार के परिणाम हो सकते हैं तब साथ-साथ चेतावनी देते हैं कि इसमें अटकने का अवकाश भी काफ़ी है। यह पहलू आप सँभाल लेना तो अटकना नहीं होगा और आपको यथार्थ लाभ होगा, जैसा लाभ होना चाहिए वह होगा, वरना लाभ के बजाय नुकसान होगा। यह परिस्थिति है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि 'व्रतादि से...' आदि में सब प्रकार ले लेना। आदि में शास्त्रज्ञान का प्रकार भी ले लेना चाहिए। 'व्रतादि से लाभ मानकर (जीव) अभिमान करता है। इन सभी विपरीत बुद्धिओं को छोड़कर...' ऐसा कहते हैं। 'वह सब विपरीत बुद्धि है' ऐसा कहते हैं, (राग से) लाभ मानना, ममत्व करना, भीतर में रुचना - वह सब विपरीत बुद्धि है। 'इन सभी विपरीत बुद्धिओं को छोड़कर ज्ञायक मूर्ति आत्मा के सम्मुख देखे तब ही आत्मा जानने में आता है।

यहाँ शब्द का जो प्रयोग है वह दिशासूचक है। 'आत्मा के सन्मुख देखे' ऐसा कहा। तेरे सत्शास्त्र में (लगे हुए) परिणाम भी परपदार्थ आश्रित हैं। सत्शास्त्र के ज्ञान में भी परपदार्थ आश्रित

(परिणाम) हैं और तेरे व्रतादि में भी परपदार्थ आश्रित परिणाम हैं। उस दिशा से पलटकर, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- वे जड़ आश्रित हैं ?

पूज्य भाईश्री :- जड़ आश्रित हैं, पर आश्रित हैं और अंतःतत्त्व स्वरूप जो ज्ञायकआत्मा, वह ज्ञायकमूर्ति जब आत्मा के सन्मुख देखे - परिणाम की दिशा पलटकर अंतर्मुख होवे तब आत्मा जानने में आता है। तब तक आत्मा जानने में नहीं आता।

क्या कहते हैं ? कि मेरा आत्मा ऐसा ! मेरा आत्मा ऐसा ! मेरा आत्मा ऐसा ! ऐसे विकल्प के काल में विकल्प जो है वह तो स्पष्टरूप से उदय के अनुसार हो रहा जीव का परिणाम है, पराश्रित परिणाम है। भले ही बाहर में कोई शास्त्र का या दूसरा निमित्त न हो तो भी। स्वरूप चिंतवन का विषय ले ले कि, मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा, मैं ज्ञायकमूर्ति, मैं आनंदस्वरूप, मैं परिपूर्ण स्वरूप - (ऐसे) जो विकल्प हैं वह कर्म के उदय का आश्रयपूर्वक उत्पन्न हुआ भाव है। ऐसे पराश्रित परिणाम परसन्मुख परिणाम हैं जिसका विषय ज्ञायक नहीं है। उस विकल्प का विषय ज्ञायक नहीं है। ऐसा है। इसलिए ऐसा कहते हैं कि, ऐसे विकल्प में - मैंने आत्मा का यह जो विकल्प किया वह अच्छा किया - ऐसा विकल्प का ममत्व इसकी एकताबुद्धि को प्रसिद्ध करता है !! वह तो नुकसान की प्रवृत्ति हो गई।

इसलिए ऐसा कहा कि राग और ज्ञान भिन्न है। स्वरूप-चिंतवन के समय भी स्वरूप संबंधित उत्पन्न हुआ विकल्प, वह राग है और ज्ञान इससे अलग ही चीज़ है, अलग ही जाति का भाव है। एक अनात्मभाव है; परभाव है और दूसरा स्वभाव है। इस स्वभाव में अहंपने का पुरुषार्थ होना चाहिए जिसमें ज्ञायकमूर्ति (आत्मा के सन्मुख

देखे) मतलब अंतर्मुख होना। अंतर्मुख होना मतलब ज्ञान को ज्ञान के वेदन का अनुभव होना। ज्ञान में ज्ञानवेदन का अनुभव होना - उसे अंतर्मुखता या स्वसन्मुखता कहते हैं। तब उसने राग से भिन्नता की ऐसा कहा जाता है। ऐसा उसको अभ्यास करना चाहिए, भीतर में ऐसा भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

यह बात कल पूज्य बहिनश्री ने ली थी कि, भेदज्ञान के अभ्यास में पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिए। भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा पुरुषार्थ को बढ़ाना चाहिए। भले ही तब विकल्प उठे, तब राग उत्पन्न होता है कि मैं आत्मा ऐसा ! मैं आत्मा ऐसा ! परंतु वह विकल्प है सो मैं नहीं। विकल्प का (स्व के रूप में) स्वीकार नहीं आना चाहिए। जब विकल्प का स्वीकार तक नहीं हो तो फिर इसमें ममत्व करने का तो प्रश्न ही नहीं है। अलबत उस विकल्प से भिन्न मैं ज्ञायकमूर्ति हूँ - ऐसा एक प्रयत्न होना चाहिए जिसे भेदज्ञान का प्रयत्न कहते हैं। इस भेदज्ञान के प्रयत्न में एकताबुद्धि तोड़कर राग की उत्पत्ति ही न हो ऐसे ज्ञायक में अहम्पने के तीव्र परिणाम पुरुषार्थ सहित करने चाहिए। जिसमें अनादि की एकत्वबुद्धि टूटकर एक बार निर्विकल्प स्वानुभव हो जाये फिर चाहे विकल्प में आये तो भी विकल्प से छूटकर (इससे भिन्न) इसकी ज्ञानधारा निरंतर चलती रहे और खुद भिन्न ही भिन्न रहे। पूर्ण वीतरागता के अभाववश भले ही अवस्था में रागांश की उत्पत्ति हो फिर भी खुद भिन्न रह सकेगा। खुद भिन्न रहेगा तो भिन्न रहकर अपना साधन कर सकेगा। परंतु अगर राग की एकता में जुड़ा रहा और लगा रहा तो इसमें स्वरूपसाधन बिलकुल नहीं होता, यह परिस्थिति है।

प्रश्न :- मिथ्यादृष्टि को रागधारा चालू ही है, ज्ञानधारा क्यों चालू नहीं होती ?

समाधान :- मिथ्यादृष्टि को जब तक सम्यग्दर्शन सहित मिथ्यात्व का अभाव न हो तब तक भिन्न ज्ञानधारा उत्पन्न नहीं होती। लेकिन उसे स्वयं मात्र ज्ञानस्वरूप है ऐसा राग से भिन्नता का और ज्ञायक में अभेदता का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जिसकी तैयारी खुद के आत्मा संबंधित उत्पन्न हुए राग से भी हटने की है, वह न तो बाहर में पंचेन्द्रिय के विषय में और उदय के राग में अटकेगा नहीं उसमें उसे रस आयेगा। वरना क्या है कि जीव को जड़ में सुखबुद्धि है, वह निर्णय बदलना चाहिए। (क्योंकि) वरना तब तक उसे उदय के समय रस आता है। ये रसयुक्त परिणाम जो हैं, वे बहुत नुकसानकारक परिणाम हैं। जीव को अपना (आत्महित करने का) बल उत्पन्न नहीं होने देते। क्योंकि वहाँ शक्ति का खर्च है। जब रस लेता है - परभाव में रस लेता है तब वहाँ उसकी शक्ति का खर्च होता है। इसलिए उसकी स्वरूप-शक्ति काम नहीं करती (है)। (यानी कि) स्वरूप सन्मुख होने के लिए उसके पुरुषार्थ की जो शक्ति है वह काम नहीं करती है। जीव को चैतन्यरस को जागृत करना चाहिए। इसी रस की तो बात चली है।

(बोल - १५९) 'चैतन्यतत्त्व में रस लेने से आत्म-संस्कार पड़ते हैं, संस्कार दृढ़ होते हैं।' यह संस्कार भेदज्ञान के प्रयत्न से संप्राप्त होते हैं। इसलिए वह बात इसमें ले ली है कि, 'भेदज्ञान के संस्कार दृढ़ होते-होते एकदम से स्वानुभव हो जाता है।' यह ऊर्ध्व (श्रेणी के) क्रम की बात ली। बढ़ती हुई श्रेणी में - उन्नति के क्रम में परिणाम की स्थिति कैसी होती है, यह विषय वहाँ चला है।

(यह चलते हुए बोल में) कोई जीव जब अटक जाता है (अर्थात्) वैसे परिणाम नहीं करता है फिर भी बाहर में सत्शास्त्र अनुसार

ज्ञान के परिणाम और व्रतादि अनुसार संयम के परिणाम - ऐसे दोनों प्रकार के परिणाम करता हुआ मालूम पड़ता है, फिर भी इसका फल क्यों नहीं आता ? (तो कहते हैं) वह जीव वहाँ अटका हुआ है। उसने वहाँ अहंबुद्धि की है। स्थूल या सूक्ष्मरूप से उसने अभिमान किया है। दूसरे अर्थ में कहें तो उस अभिमान का पाप किया है। मिथ्यात्व है वह पाप ही तो है ! अर्थात् इस जीव की कोशिश व प्रयत्न उलटी दिशा में चल रहे हैं। इसका फल कोई सुलटा आये यह असंभवित है। जीव को पूरी-पूरी दिशा बदलनी चाहिए। शास्त्रज्ञान और संयम के परिणाम होना पर्याप्त नहीं है। जीव को दिशा पलटनी चाहिए, दिशा पलटे बिना दशा बदल जाये वह नामुमकिन है।

प्रश्न :- चैतन्यरस को उत्पन्न करने के लिए क्या करना चाहिए ?

समाधान :- चैतन्यरस की उत्पत्ति हेतु सच्चे सुख की तृषा व पिपासा उत्पन्न होनी चाहिए। जब तृषा लगती है तब एक क्षण ऐसी आती है कि पानी बिना नहीं चलता। सामान्य तृषा हो जब तक आदमी चला सकता है (क्योंकि) उतनी तकलीफ नहीं होती, परंतु अगर पानी मिले ही नहीं, तृषा लगने के बाद भी पानी मिले ही नहीं तो परिस्थिति बिगड़ती है और तब परिस्थिति इतनी हद तक बिगड़ती है कि प्राण छूट जाते हैं ! उस स्थिति में ऐसा कहा जाता है कि प्राण छूट जाते हैं ! उस परिस्थिति में ऐसा कहा जाता है कि अब पानी बिना नहीं चलेगा। वैसे यहाँ (सच्चे सुख की) तृषा लगनी चाहिए।

हालाँकि श्रीमद्जी तो ऐसा ही कहते हैं कि यह विषय इतना मूल्यवान है कि जिसको यह तृषा नहीं लगी हो इसके लिए इस विषय में परिश्रम करना व्यर्थ है। 'तृषातुर को पानी पिलाने की

मेहनत करना' ऐसा एक वचन लिखा है। इसका अर्थ ऐसा है कि जिसको तृषा न लगी हो इसको यह जबरदस्ती पिलाने का कोई (परिश्रम मत करना)। इसका कोई फल नहीं आयेगा। क्योंकि वह लेगा ही नहीं, पियेगा ही नहीं, ऐसी परिस्थिति है। मतलब अगर तृषा लगे और वह तृषा बढ़े तब शुद्धात्मतत्त्व-चैतन्यतत्त्व के संस्कार पड़ते हैं। वास्तव में उसे तीव्र रस लगा तब वह स्थिति पैदा हुई है। वरना तब तक यह परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती।

सम्यग्दर्शन होना मतलब परमात्मा की पर्याय में पधरावनी होती है। इस परमात्मा के आगमन के पूर्व परमात्मा के सानुकूल आँगन तो साफ होना चाहिए कि नहीं ? पर्याय तो उसका आँगन है। लौकिक में कोई नजदीकी रिश्तेदार आनेवाले हो तो घर को व आँगन को एकदम साफ रखते हैं और इसमें भी राजा-महाराजा या प्रधानमंत्री आनेवाले हो जब तो विशेष शोभा बढ़ायेंगे। धर्मी आनेवाले हो तो भी घर को सुशोभित करते हैं। हम सबका यह अनुभव है उसे ही देखो न ! कि गुरुदेव पधारनेवाले हैं या कोई भी धर्मी पधारनेवाले हैं तो भी कितना कुछ करते हैं ! तो क्या परमात्मा के आगमन पर यथायोग्य तैयारी नहीं करेंगे ? फिर तो यह बात सुसंगत नहीं रहेगी।

इसलिए (यहाँ कहते हैं) 'इन सभी विपरीत बुद्धिओं को छोड़कर ज्ञायकमूर्ति आत्मा के सम्मुख देखे तब ही आत्मा जानने में आता है।' तब वास्तव में आत्मा जानने में आता है। सन्मुख हो फिर आत्मा न दिखे ऐसा नहीं बनता। परंतु परसन्मुख (रहकर) जब तक परभावों का स्व-रूप अनुभव करता रहे तब तक स्वसन्मुखता हरगिज़ नहीं होगी।

यह आत्मभाव है और यह परभाव है - भीतर में भावों की

छँटाई में - भेदज्ञान के प्रयास में उतरना चाहिए। स्वकार्य की इतनी उत्कंठा व लगन होगी जब ही इस कार्य का अंतरंग में प्रारंभ होता है। वरना प्रारंभ नहीं होता। भले ही सुना हो कि यह कर्तव्य है, परंतु जीव भीतर में कर नहीं सकता है। क्योंकि इसकी उत्कंठा नहीं है और अगर तुझे इसकी उत्कंठा नहीं है ऐसा तेरा कहना है तो अवश्य दूसरे-दूसरे कार्य करने की तेरी उत्कंठा है, वह उत्कंठा अभी बदली नहीं।

प्रश्न :- मुझे मेरा सच्चा सुख मेरे स्वभावमें से ही मिलेगा ऐसा पहले दृढ़ निर्णय करना है ?

समाधान :- दृढ़ निर्णयपूर्वक भीतर में राग से भिन्न होने का (प्रयत्न करना चाहिए)। जीव को प्रतिक्षण, प्रसंग-प्रसंग पर राग होता है कि नहीं ? उदय तो धारावाहिरूप से चल ही रहा है। उदय का प्रसंग कब नहीं है ? इसलिए सर्वकाल हमें यह सावधानी रहनी चाहिए कि ये जितने भी उदय संबंधित राग होते हैं इसमें 'मैं पना' साथ ही साथ क्यों होता है ? जिसमें से अहंपना मिटाना है उसमें अहंपना हो रहा है, यह जो नुकसान हो रहा है उसे कब तक चलने देना ? घी बहता जा रहा हो उसे कब तक देखता रहूँ ? घर में चोर घुसा, तिजोरी खोलकर एक के बाद एक गहने उठा रहा है, यह तू कब तक देखता रहेगा ? कोई कहेगा कि आप सो रहे हो लेकिन घर में यह चोर घुसा है। आवाज़ कर रहा है आपको पता नहीं ? ये कहता है पता है आवाज़ कर रहा है। लेकिन अरे ! आवाज़ के साथ-साथ चोरी कर रहा है, क्या यह भी पता है ? ये कहता है, वह भी मुझे पता है। फिर तो कहना होगा कि क्या पता है, पता है कर रहे हो ? यह क्या आपको पता है ? घर का सदस्य तो ऐसा ही कहेगा कि

क्या 'मेरा सर पता है' ? ये आप देख क्या रहे हो ? ऐसा ही कहेगा। ये चोर सब लूट रहा है, ले जा रहा है !

प्रश्न :- वहाँ तो प्रत्यक्ष लगता है कि यह सब खाली हो जाएगा, पूरा घर खाली हो जाएगा। यहाँ ऐसा लगे जब तो ?

समाधान :- यहाँ भी लगना होगा। यह एकत्वबुद्धि का नुकसान अनंत परिभ्रमण व अनंत जन्ममरण का कारण है। कैन्सर से अधिक भयंकर रोग है। अनंत कैन्सर की खान है ! यह बात जब दिखेगी तब ही इसकी भयंकरता भासित होगी और तब ही सहीरूप से इसका ममत्व छूटेगा। वरना मूलमें से इसका ममत्व नहीं छूटेगा, ऐसा है।

(इसलिए यहाँ) कहते हैं कि (आत्म)सन्मुख होने पर आत्मा जानने में आएगा। यानी कि परसन्मुखता छोड़ने पर ही आत्मा जानने में आएगा। यह १६२ बोल पूरा हुआ।





.....



.....



• स्वयं अंतर में नहीं उतर पाता, इसका कोई कारण
• तो होना चाहिए न ? अनंत गुणयुक्त अपार महिमावंत
• प्रभु है, उसकी अनुभूति न होने का कोई कारण तो
• होगा न ? - या तो पर का अभिमान या राग का
• अभिमान या स्वयं कहाँ अटका है उसकी अनभिज्ञता
• आदि कारणों से अंतर में नहीं उतर पाता। १६८.



.....



.....



प्रवचन - ७, दि. ५-२-१९८३

(परमागमसार) १६८, 'स्वयं अंतर में नहीं उतर पाता, इसका कोई कारण तो होना चाहिए न ?' समयसार के २३८ कलश पर हुए (पूज्य गुरुदेवश्री के) प्रवचनमें से यह १६८ नंबर का बोल है। कहते हैं कि कोई जीव सत्शास्त्रों द्वारा अनेक विधप्रकार से व्यवस्थितरूप से पद्धतिसर ज्ञानाभ्यास करता हो और वस्तु के स्वरूप को समझता हो, साथ ही साथ बाहर में कषाय की मंदता आदि योग्य व्यवहार में भी वर्तता हो; सत्शास्त्र से समझे, सत्गुरु से समझे, अनुभवी ज्ञानी से समझे। बाहर में व्यवसायादि से निवृत्ति लेकर सत् समझने के लिए (निवृत्ति में रहे), क्योंकि ये सारी बातें तो

सोनगढ़ में चली है और वहाँ तो प्रायः यही प्रकार रहा है ! (अतः गुरुदेवश्री को) पता था कि कुछएक लोग बाह्य प्रवृत्ति छोड़कर, निवृत्ति लेकर समझने के लिए यहाँ रहते हैं, निवास करते हैं।

यहाँ की प्रवृत्ति में सुबह उठते ही पूजा, भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय व्याख्यान आदि जो प्रवृत्तियाँ हैं, इसमें कोई पाप प्रवृत्ति तो नहीं है। सुबह से शाम तक शुभोपयोग की प्रवृत्ति होने के बावजूद भी और सबकुछ व्यवस्थित समझ में होने पर भी (आत्महित नहीं हो रहा है)। समझते-समझते विद्वता आ जाये यहाँ तक समझ लेते हैं ! समझते-समझते विद्वता आने लगे, यहाँ तक समझे। खुद जो समझे वह दूसरों को भी समझा सके इतनी हद तक समझ हो जाये ! परंतु फिर भी खुद अंदर में तो नहीं जा पाता है ! क्या कहते हैं ? खुद अंतर में नहीं जा सकता, यानी कि अंतर्मुख होकर अनुभव नहीं कर पाता है 'इसका कोई कारण तो होना चाहिए न ?' ऐसा कहते हैं। कितना-कितना विषय गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है !! प्रवचन देते-देते काफ़ी बातें स्पष्ट की हैं।

'स्वयं अंतर में नहीं उतर पाता, इसका कोई कारण तो होना चाहिए न ?' कारण बिना कार्य बन जाये - ऐसा तो नहीं बनता। समझ में भी आता है ऐसा कहेगा, गुरुदेव जितना कुछ कह रहे हैं वह सब समझ में आता है, नहीं समझ में आता है ऐसा भी नहीं लगता। प्रायः सबको यही अनुभव है। जिन लोगों ने बराबर बुद्धि को Apply करके इसे समझना चाहा है, जैसे (हम) यहाँ समझने के लिए आये हैं। ऐसी समझने की बुद्धि से आनेवाले को समझ में तो आता है, नहीं समझ में आता सो बात नहीं है।

अब कहते हैं कि समझाने के बावजूद भी... यहाँ इसकी चर्चा करनी है कि समझाने के बावजूद भी खुद अंतर में नहीं जा पाता

है इसकी कोई वज़ह तो होगी न ? इसमें होता क्या है कि, (यह समझनेवाले को) Theory समझ में आती है। व्याख्यान के दौरान जो भी व्याख्याएँ हो वह समझ में तो आती हैं। व्याख्याओं के समूहरूप वचनों को व्याख्यान कहा जाता है। इसीलिए उसका नाम व्याख्यान हुआ। यह व्याख्यान मतलब Theory तो समझ में आती है परंतु प्रयोग कैसे करना ? यह प्रयोग समझ में नहीं आता है। उसवक्त फिर समझ हुई है ऐसा भ्रम होता है! क्या होता है ? समझ के बारे में एक भ्रम पैदा होता है कि समझ में तो सब आता है ! किन्तु अनुभव में नहीं आता है। इसलिए समस्या बनी रहती है, यह प्रश्न खड़ा रहता है कि, ये समझ में सबकुछ आने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता ? फिर खुद ही समाधान करता है कि, पुरुषार्थ नहीं उठ पाता है इसलिए अनुभव नहीं हो रहा है !!

लेकिन यह पुरुषार्थ क्यों नहीं उठता ? यह भी तो समझना होगा कि नहीं ? जब तो सब समझ में आया है ऐसा माने ! या तो समझ में आने के बावजूद भी अनुभव क्यों नहीं होता ? यह प्रश्न भी न रहे तब तो सब समझ में आया माने ! प्रश्न खड़ा रहे तब तक सब समझ में आ गया यह बात अस्थान में है। अतः इस विषय को भी गुरुदेवश्री ने स्पष्ट किया है। ऐसी बातें अनेक बार आ जाती हैं। ध्यान जाये जब तो ख्याल आये वरना बात ऊपर-ऊपर से चली जाये।

(यहाँ) कहते हैं कि इसका भी कोई कारण तो होना चाहिए न ? 'अनंत गुणयुक्त अपार महिमावंत प्रभु है, उसकी अनुभूति न होने का कोई कारण तो होगा न ?' क्या कहते हैं ? कि अनंत गुण जिसमें भरे हैं, अनंत गुण भरे हैं, अनंत गुण से जो सभर

है, आत्मस्वरूप अनंत गुण समृद्ध है। वह अपार महिमावंत है, महिमाधारी है (यानी कि) अपार महिमा का जो धारक है। थोड़ा-बहुत नहीं परंतु जिसकी कोई मर्यादा नहीं - सीमा नहीं, ऐसा महिमाधारी पदार्थ है। पूरा का पूरा अखण्ड सिद्धपद अंदर में - देह देवल में बिराजमान है ! ऐसा महान सिद्धपद है फिर भी इसमें नहीं जाने का कोई कारण तो होगा न ? इसमें क्यों नहीं जाता ? जरूर इसका कोई कारण होगा इसलिए नहीं जाता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय से आत्मस्वरूप को द्रव्यानुयोग के मूल वस्तुस्वरूप के प्रकरण से समझा जाये तो आत्मद्रव्य में अनंत महान गुण हैं, अनंत दिव्यगुण हैं !! और यह अनंत दिव्यगुणों का धारक पदार्थ, महासत्ताधारी चैतन्य पदार्थ कैसा है ? कि साक्षात् सिद्धपद जैसा है वैसा अंतर में आत्मपद है।

अब ऐसा पद होने के बावजूद भी - (ऐसा) स्वयं होने के बावजूद भी इसका अनुभव खुद को क्यों नहीं होता है ? यह सवाल है। खुद का ऐसा स्वरूप है, निजपद है फिर भी इसका अनुभव खुद को ही क्यों नहीं ? यह प्रश्न है। इसका भी कोई कारण तो होना चाहिए न ? (समाधान ऐसा है कि) जिसका अनुभव जीव को करना चाहिए, उसका अनुभव नहीं करके वह अन्यद्रव्य और अन्यभाव का अनुभव करने में अटकता है, इसलिए उसे अनुभव नहीं होता।

वरना ऐसा तर्क उठेगा कि हमारी इच्छा तो बहुत है। अरे...! हमारी भावना भी बहुत है कि, हम सम्यग्दर्शनपूर्वक हमारे शुद्ध आत्मपद का अनुभव करे और इसी भावनावश बाह्य निवृत्ति लेकर शास्त्र-स्वाध्याय आदि की प्रवृत्ति, समझने की प्रवृत्ति, सत् समागम में रहने की प्रवृत्ति करते हैं। फिर भी अनुभव नहीं हो रहा है इसका क्या

करें ? (तो कहते हैं कि) रागादि परिणाम प्रतिक्षण, हर समय जो उत्पन्न होता है - 'वैसा - उतना ही मैं' ऐसा उसे अनुभव हुआ करता है। परभाव में विशेष - तीव्र एकाग्रता होने पर उन परभावों के विषयभूत पंचेन्द्रिय के विषय हैं उनका मुझे अनुभव हो रहा है - ऐसा अनुभव भी चलता है। स्पर्शेन्द्रिय का विषय (ले ले)। मुझे ठण्ड का अनुभव हो रहा है, गर्मी का अनुभव हो रहा है। (घ्राणेन्द्रिय में) सुगंध-दुर्गंध का अनुभव हो रहा है। इस प्रकार जीव को परपदार्थ का भी अनुभव हो रहा है। पर में तीव्र एकत्वबुद्धि होने पर राग और राग के विषय का भी स्व के रूप में अनुभव करता है और जब तक ऐसे विपरीत अनुभव का प्रकार मिटे नहीं तब तक जीव को शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव नहीं होता - ऐसी परिस्थिति है। यह इसका कारण है।

'अनंत गुणयुक्त अपार महिमावंत प्रभु है, उसकी अनुभूति न होने का कोई कारण तो होगा न ?' इसमें एक बात क्या है ? कि दीनता के - विभाव के परिणाम में रहते हुए भी एक जागृति का प्रकार आये। समझ में ऐसा समझा है कि यह विभाव-विकार दुःखमय है, वर्तमान दुःखमय है, भविष्य में भी वह दुःख का ही निमित्त होता है, ऐसा कर्मबंध का निमित्त होता है। वर्तमानभाव भी नये कर्मबंध का निमित्त है। अतः भविष्य में भी दुःख का ही निमित्त है। यानी कि यह आत्मा को वह नुकसान का कारण है। तब समझ एक ऐसी स्थिति है कि जीव को नुकसान से बचने की प्रेरणा हो, प्रेरित करे।

यदि समझ के काल में 'गंभीरतापूर्वक' समझ की हो, लाभ-नुकसान की गंभीरता समझ में आयी हो तो जीव को वर्तमान चल रहे विभाव परिणाम में जागृति आये बिना नहीं रहती। यह जागृति

है वही 'मुमुक्षुता' का लक्षण है। मुमुक्षुमण्डल की फीस भर देना यह तो मुमुक्षुता का लक्षण नहीं है, परंतु वास्तव में तो पूजा, भक्ति और स्वाध्याय करना यह भी मुमुक्षुता का लक्षण नहीं है। अंदर में चल रहे विभाव परिणाम के वक्त जागृति आये कि यह नुकसान का कारण है तब उसकी मुमुक्षुता प्रगट हुई, ऐसा कहा जाता है। यह इसका भावलक्षण है बाकी सब बाहर के द्रव्यलक्षण हैं। द्रव्य और भाव से गिनना चाहिए न ? द्रव्य से ऐसा और भाव से ऐसा (है)। (जागृति आने पर) उसका विभावरस मंद होता है। अगर विभावरस मंद हो तो उसकी समझ विशेषतः काम करती है और समझ में जीव को अपना ही ज्ञानस्वरूप, आत्मस्वरूप जो है वह समझ में आता है। समझ में आना मतलब प्रतिभास आना। प्रतिभास मतलब पहचान आये और ऐसी पहचान होने पर तो अनंत गुणभण्डार जो है इसकी महिमा आये बिना रहे नहीं।

श्रीमद्जी लिखते हैं - जब कोई मुमुक्षुजीव की परिणति ऐसी दशा को प्राप्त करे कि जिसमें जो भी मायिक सुख है; मायिक सुख मतलब जगत में जो सुख कहलाता है वह, ऐसे (मायिक सुख के) प्रसंग प्राप्त होने के बावजूद भी ऐसे अनुकूलता के प्रसंगों में उत्पन्न परिणाम में उसे अकुलाहट हो। जब जगत के माने गये सुख में, सुख होने के बजाय अकुलाहट होती है तब ऐसे जीव की मति गुण से उत्पन्न सुख के प्रति जाती है। यह बहुत सुंदर विषय है ! अवगुण के काल में जो सुख लगे उसमें अच्छा लगने के बजाय आकुलता हो।

(यह) उन्होंने बहुत अच्छा विषय खोला है। कोई भी मनुष्य, कोई भी जीव जब उलझन में आता है तब वह इसका रास्ता खोजता है। जब तक उलझन में नहीं आयेगा तब तक रास्ता नहीं खोजेगा।

रास्ता खोजने का यह एक अंतिम चरण है। रास्ता ढूँढ़ने का सामान्य विचार जब तक होगा, तब तक रास्ता नहीं मिलेगा तो भी जीव को पुसाता है। (मुमुक्षुजीव को जब तक) सामान्य जिज्ञासा है तब तक ऊपर-ऊपर से प्रश्न पूछता रहेगा और समाधान सुनता रहेगा। ठीक है, अच्छा है, यूँ ही चलता रहेगा। लेकिन अगर अंदर में उलझन होगी (तो रास्ता खोजेगा)। जैसे किसी की नाक दबाने पर उसे इतनी घबराहट होती है कि मुँह खुल जाता है, तब अगर मुँह को भी दबा दिया हो तो क्या दशा होगी ? कि चाहे जैसे भी श्वास लेना होगा वरना प्राण छूट जायेंगे ! अब नहीं चलेगा। वैसे ही (जब) जीव को उलझन होती है तब सुख का सुखरूप अनुभव नहीं होता। परंतु उसकी वृत्ति - उस जीव की वृत्ति गुण से उत्पन्न होनेवाले सुख के प्रति जाती है। जब इस विभाव के काल में उसका विभावरस फीका हो तब स्वभावरस उत्पन्न होने का अवकाश होता है। साथ ही अनंत गुण भण्डार जो आत्मा है, उन अनंत गुणों की महिमा उसे आती है, तब जीव को पहचान होती है, पहचान के साथ ही उसकी महिमा आती है और इसकी महिमा आते ही अन्यभाव और अन्यद्रव्य की महिमा छूटती है, तुच्छता मालूम पड़ती है, तब जाकर शुद्धात्मा के अनुभव का - सम्यग्दर्शन का प्रसंग प्राप्त होता है। इसके पहले वह अवसर प्राप्त नहीं होता।

(यहाँ) कहते हैं कि (महिमावंत आत्मा में नहीं जाने का) कारण क्या है ? कि, 'पर का अभिमान...' पर का अभिमान (हो) फिर आत्मा की महिमा कैसे आये ? जिसको पर का अभिमान है उसको स्वाभिमान नहीं है, स्व-अभिमान नहीं है। ऐसा (कहना है)। लोग नहीं कहते हैं कि, कम से कम स्वाभिमान तो होना चाहिए। परंतु जब परभाव और परपदार्थ में दीन, हीन होकर तू परिणाम कर

रहा है, इसमें तुझे तेरे स्व की महिमा नहीं रहती। तू अपनेआप को पामररूप अनुभव करता है। पर के अभिमान में तू पामररूप परिणमन कर रहा है।

इस जगत में - जितने भी मान के प्रसंग हैं, अवसर हैं, इसमें जीव अटकता है। पैसेवाले को पैसे का मान रहता है, मकानवाले को मकान का मान रहता है, अनेक प्रकार की अनुकूलताओं के साधन प्राप्त हो तो इसका मान रहता है। भले ही और कुछ भी न हो परंतु अगर जगत मान देवें तो 'लोग मेरी इज्जत करते हैं' ऐसे मान में वह राचता है। ऐसा जो पर का अभिमान है इसमें खुद दीन होकर फिरता है ! क्या करता है ? खुद इसमें दीन होकर फिरता है।

जब तक खुद ऐसी दीनता को प्राप्त है तब तक अनंत गुण भण्डार ऐसा जो खुद का आत्मा - साक्षात् सिद्धपद स्वरूप ! परमात्मपद - परमेश्वरपद ! वास्तव में इसकी जीव को महिमा है ही नहीं। जब तक इसकी महिमा नहीं है तब तक दर्शन होने का प्रश्न ही नहीं है। यानी कि इसकी पहचान ही नहीं है। जब तक निजस्वरूप की पहचान नहीं है तब तक इसका अनुभव होने का कोई अवसर हो नहीं सकता।

श्रीमद्जी तो 'पर का अभिमान' - इस विषय में बहुत कुछ लिखते हैं कि जगत में जिससे बड़ाई मानी जाती है, उस बड़ाई संबंधित अभिमान के परिणाम 'प्रत्यक्ष ज़हररूप न भासित हो' ऐसा शब्द लिखा है। प्रत्यक्ष ज़हररूप भासित न हो तब तक जीव की वृत्ति वहाँ से हटने का नाम नहीं लेती है और तब तक अपने स्वरूप का निर्णय जीव को नहीं हो पाता। भले ही उघाड़ चाहे कितना भी क्यों न हो लेकिन निर्णय भी नहीं होगा ! यह स्थिति

होती है। निर्णय हुए बिना कोई कार्य हो; जैसा स्वरूप है उसका स्पष्ट निर्णय हुए बिना हित की दिशा में कोई कार्य हो यह नामुमकिन है। इस तरह वह भी अटकने का कारण है।

(अब दूसरा कारण कहते हैं) 'या राग का अभिमान...' या तो पर का अभिमान या राग का अभिमान। (राग का अभिमान ऐसे कि) 'मेरे परिणाम बहुत अच्छे चल रहे हैं, मुझे जो भाव आते हैं, वे बहुत अच्छे हैं।' जब कि होता है केवल राग ! फिर चाहे शास्त्रस्वाध्याय का राग हो, पूजा का राग हो, भक्ति का राग हो, व्रतादि का राग हो, दान का या दया का राग हो या यात्रा का राग हो - चाहे कोई भी प्रकार का राग का परिणाम हो, लेकिन वह अच्छा है, 'मेरा है और अच्छा है।' - इसमें जीव को इसका अभिमान वर्तता है। वहाँ उसने परपद में स्वपद को स्थापित किया, अतः अपने स्वपद को चूक जाता है। इतना विपरीत है। इस प्रकार या तो पर का अभिमान या राग का अभिमान करता है।

मुमुक्षु :- राग की एकता में पर का अभिमान हो ही जाये ?

पूज्य भाईश्री :- हो ही जाये। जहाँ एकता होती है वहाँ (अपनत्व हो जाता है)। अभिमान मतलब क्या ? कि, अपनी स्थापना वहाँ करना। खुद जहाँ है वहाँ नहीं रहता। वहाँ नहीं रहता मतलब वहाँ अपना अनुभव नहीं करता परंतु जहाँ अपना स्थान नहीं है वहाँ कल्पनावश अपने स्थान को सही मानता है - वह जीव का अभिमान है।

'मैं' ऐसा 'मैं' ऐसा बोलनेवाला लीजिए, ठीक ! यहाँ इसने भाषा की पुद्गल वर्गणा जो है उसमें अपने स्वरूप को स्थापित किया। भाषा के रजकणरूप आत्मा हो तो नहीं सकता फिर भी जीव ने वहाँ अपने स्वरूप को स्थापित किया इसलिए इसे मिथ्या अभिमान

कहा जाता है।

'शरीर से मेरी शोभा' जब कि आत्मा शरीररूप है नहीं। वह तो रजकणों का बना है फिर भी अपनेआप को (इसमें) स्थापित किया। वहाँ से लेकर फिर जितने भी साधन हैं - आबरू-कीर्ति, पैसा, गहने, मोटर-गाड़ी, मकान, सगे-सम्बन्धी, कुटुंब-परिवार से लेकर जितना भी ले लो, इन सबका स्वामी मैं - यह सारा जीव का मिथ्या अभिमान है। इन सबमें से अभिमान छोड़कर जब शुभराग में आये तो लगता है 'मैं वैसा' तो वहाँ अभिमान कर लिया। 'इन सबका त्याग करनेवाला मैं,' - 'मैं त्यागी' तो वहाँ त्याग का अभिमान कर लिया ! अरे...! मैं अभिमानी नहीं मैं तो नरम... नरम... नरम... स्वभाववाला - नम्रतावान ! तो वहाँ नम्रता का अभिमान कर लिया। मान इतना धोखेबाज है कि पता ही न चले कि मुझे कहाँ मान हो रहा है ? मुझे ऐसा अवगुण होना ठीक नहीं ऐसा मानकर नम्रता द्वारा मान को पुष्ट करेगा, ऐसे वहाँ भी मान के विषय में धोखा खाता है।

इसीलिए श्रीमद्जी ने 'आत्मसिद्धि' में गाया कि, -

'मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।

जातां सद्गुरु चरणमां, अल्प प्रयासे जाय।।'

अपनेआप इस मान को छोड़ने जायेगा, फिर त्यागी होकर जंगल में भी अगर चला जाये तो वहाँ त्यागीपने का अभिमान होगा। अरे...! मान कर्तव्य नहीं है ऐसा जानकर नम्रता के सेवन में, मैं तो नरम... मैं तो नरम.. मैं तो नम्रतावाला, मैं तो नम्रतावान... ऐसा मान कर बैठेगा !! ऐसे परिणाम में भी जीव को मान होगा। क्योंकि वह अपने स्वच्छंद द्वारा छोड़ने से नहीं छूटता। जैसे ही गुणवान सत्पुरुष का मिलना हो, गुणवान ज्ञानी का मिलना हो कि जहाँ जीव को

बहुमान आये कि (अरे !) मेरे में ऐसे गुण प्रगट नहीं हुए, ऐसे गुण अभी मुझे प्रगट नहीं हुए हैं ऐसा भासित हो, तब अपनी अवस्था का जो अभिमान चलता था वह अल्प प्रयास मात्र से छूटता है। वरना (मान) बहुत बड़ा दुश्मन है। विभाव बड़ा रीपु है। विभावों में भी खासकर मान बड़ा रीपु है। वह भी एक सत्पुरुष के चरण में (गया कि) चुटकी बजाये इतने अल्प प्रयास से छूटता है। इसीलिए सद्गुरु का - सत्पुरुष का आश्रय बार-बार करने को कहा है। (क्योंकि) इतना बड़ा अवगुण खुद के किसी भी प्रयास से न छूटे, वह अल्प प्रयास से वहाँ छूटता है।

अभी तीन-चार दिन पहले पूज्य बहिनश्री को (एक मुमुक्षु ने) प्रश्न किया था कि, ये जो कुछ समझना होता है सो तो ठीक है; समझ में तो बराबर आता है लेकिन इसके बावजूद भी ज्ञान क्यों नहीं चढ़ता ? ज्ञान का परिणमन क्यों नहीं होता ? इसका क्या कारण है ? (पूज्य बहिनश्री ने कहा) कि जीव को ज्ञानी की जितनी महिमा आनी चाहिए, उतनी महिमा नहीं आ रही है। मतलब एक तो भक्ति के परिणाम में खामी है, दूसरी वैराग्य की खामी है। ज्ञान यदि वैराग्य एवम् भक्ति के परिणाम सहित कार्य करे तो वह ज्ञान (अवश्य) ज्ञानरूप परिणमन करे, वरना ज्ञान ज्ञानरूप परिणमन नहीं करता। बाहर में सत्पुरुष की भक्ति एवम् महिमा जो है, वह अंदर में सत् की महिमा आने में निमित्तभूत है। (क्योंकि जिन्हें) आत्मगुण प्रगट हुए हैं उनकी महिमा जो है !! तब निश्चय से उसे आत्मा की महिमा आयेगी। शुभराग की स्थिति में भी जब तक ऐसा प्रकार उत्पन्न न हो, तो भीतर में आत्मा की महिमा आने की तो परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं होती। क्योंकि वैसे ज्ञानी से ज्ञान का श्रवण तो करता है फिर भी ज्ञान चढ़ता क्यों नहीं ?

यह प्रश्न था।

ज्ञान ज्ञानी की ओर से मिलने के बावजूद भी ज्ञान चढ़ता क्यों नहीं ? (तो कहते हैं) कि जीव को ज्ञानी की महिमा जितनी हद तक आनी चाहिए उतनी हद तक नहीं आती। यानी कि उस ज्ञान का जो आदर होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में ज्ञानी के आदर में वहाँ ज्ञान का ही आदर है ! ज्ञान का तो जब आदर होगा तब अंगीकार होगा न ? ज्ञान का अंगीकृतपना होना है वह ज्ञान के आदरपूर्वक है। जहाँ ज्ञान का आदर नहीं है, वहाँ स्वतः ज्ञानी का भी आदर नहीं रहा सो बात है। ऐसा प्रकार है। प्रश्न तो उन्होंने इस प्रकार किया था।

श्रीमद्जी एक जगह लिखते हैं - जो हमने 'ज्ञानामृत' पुस्तक में अलग से छाँटा है कि, ज्ञानी के सान्निध्य में प्रायः ज्ञान की माँग नहीं करनी। क्या ? प्रश्न तो उन्होंने ऐसा पूछा था कि ज्ञानी के सान्निध्य में ज्ञान की चाहना मत करना परंतु ज्ञानी के प्रति महिमा व भक्ति का सेवन करना। ज्ञान माँगने की जरूरत नहीं है, ऐसा क्यों लिखा है ? (तब) बहिनश्री ने बहुत अच्छा खुलासा किया। कि सामान्यतया जीव ज्ञानी के इतने आदर में आये बिना प्रश्न पूछते हैं। वह इस हेतु से कि खुद को ज्ञान मिले ! ज्ञान की इच्छा व्यक्त करते हैं न ? यह समझाईये, यह समझाईये, हमें ये समझाईये ! परंतु वह समझ उसे चढ़ती नहीं है। क्यों नहीं चढ़ती ? क्यों नहीं चढ़ती ? क्योंकि उसे इतना आदर नहीं है इसलिए। यदि आदर को वृद्धिगत करे, पहचानपूर्वक इसकी महिमा आये, पहचान के कारण महिमा आये तो; उनका हृदय तो आत्मामय है, उनका परिणमन तो आत्मामय है, इसलिए वाणी में तो आत्मा आये बिना रहेगा नहीं। इसलिए स्वतः बिना माँगे ही (मिल जाता है) !

क्योंकि वह तैयार होकर बैठा है। जो जीव ज्ञानी की महिमा में बैठा है वह तैयार होकर बैठा है। (उसको ऐसा भासित होता है कि) यह तो एक तिरने का सर्वोत्तम निमित्त है ! कब वे क्या कहेंगे ? इसे ग्रहण करने के लिए वह बेसब्र हुआ है ! महिमापूर्वक ! अतः जैसे ही वचन खिरते हैं, ज्ञानी के श्रीमुख से वचन निकले कि उसे पकड़ने की इसकी योग्यता हो जाती है - महिमा के कारण !! जब कि दूसरा माँगे तब वचन निकलेगा, परंतु उसे ग्रहण नहीं होगा, उसका असर नहीं आएगा। क्योंकि उसने तैयारी की नहीं है।

अतः जीव की (ज्ञानी के प्रति बहुमान की) स्थिति अनिवार्यरूप से उत्पन्न हुए बिना (ज्ञान चढ़ता ही नहीं)। ज्ञानी को अपेक्षा नहीं है (परंतु) खुद की ऐसी स्थिति अनिवार्यरूप से उत्पन्न हुए बिना ज्ञानी के ज्ञानमें से जो कुछ प्रगट होता है इसे ग्रहण करने का अवसर ही नहीं आता। यह परिस्थिति बराबर समझनी चाहिए वरना किसी भी तरह, चाहे कितने ही समय सुनता रहे फिर भी इसका कोई असर नहीं आयेगा।

(अब कहते हैं) 'या स्वयं कहाँ अटका है उसकी अनभिज्ञता,...' समझ में तो सब आता है, परंतु अटकना कहाँ होता है ? इसकी खुद को ही खबर नहीं होती ! अब मैं कहाँ अटका हूँ ? मेरी अधिकता कहाँ चल रही है ? आत्मा के अलावा अन्यत्र अधिकता रहने से आत्मरस उत्पन्न नहीं होता, चैतन्यरस उत्पन्न नहीं होता है और पररस यों का यों अनादि से बना हुआ चालू ही रहता है। यह परिस्थिति है। इसकी जीव को खुद को भी खबर नहीं रहती। स्वयं कहाँ अटका है इसकी खुद को ही खबर नहीं रहती। इत्यादि अनेक कारण हैं। विभिन्न प्रकार की योग्यतावाले जीवों के

(विभिन्न कारण होते हैं)। परंतु यह तीन बात तो मुख्यरूप से ले ली कि, पर में अटकता है, राग में अटकता है या तो कहाँ अटकता है इसकी खुद को ही खबर नहीं रहती। इतनी (परिणमन में) स्थूलता आ जाती है। अटकने का स्थान तो स्व को छोड़कर कोई न कोई पर या राग है, और तो कोई है नहीं। इत्यादि अनेक प्रकार से जीव अंतर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं।

‘आदि कारणों से अंतर में नहीं उतर पाता।’ अंतर्मुख जो होना है, स्वसन्मुख होना है इसके लिए जो कुछ करना आवश्यक है वह नहीं होता मतलब कि कुछ दूसरा तो होता ही है। वह जो होता है इसका कारण क्या ? क्यों होता है ? इसे मिटाने के लिए वहाँ से हटने की तैयारी जीव को पहले कर लेनी चाहिए।

भेदज्ञान में यही तैयारी होती है कि भीतर में उत्पन्न हुआ राग - मंदराग, वह मंदराग है सो मैं नहीं। इस तरह वह मंदराग के, मंदकषाय के रस में भी जिसको अटकना नहीं है या तो सूक्ष्म विकल्प में भी जिसको दुःख और आकुलता लगती है। कितनी धीरज से अंदर प्रवृत्ति करता (है) कि, यह ज्ञान, (और) ज्ञान के साथ-साथ विकल्प का जो उत्थान (होता है), वह आकुलतारूप भाव है। इसका नकार न आये तब तक जीव को उसमें रस है। रस है तब तक वह छूटेगा नहीं। चिकनाहटभरी चीज़ है - राग है वह चिकना है। जब तक इसकी चिकनाहट, रुखावट को प्राप्त न हो तब तक वह नहीं छूटता। इतनी धैर्यतापूर्वक अंदर में काम करे साथ ही उग्रतापूर्वक पुरुषार्थ करे, ऐसा (कहना है)।

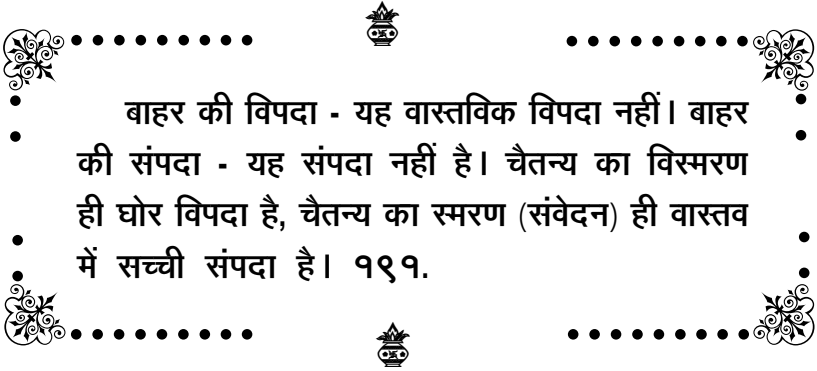
मतलब (कहना) क्या है ? कि यह राग जो है वह तो नास्ति का पद है जब कि अस्ति का पद अपना शुद्धात्मा है। इस शुद्धात्मा की महिमा में उग्रता आये... उग्रता आये...! इतना घुट-घुटकर,

घुट-घुटकर घुटाता रहे...!! दूसरी ओर राग का निषेध इतना बढ़े ! इस प्रकार एक ही साथ - एक ही समय में दोनों कार्य चलते रहें तो जरूर उसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का, अनंतभवनाशक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त हुए बिना न रहे। परंतु ऐसा अंतरंग में कार्य न करे तो अंतर में नहीं जा सकता बल्कि बाहर की बाहर के कार्य और क्रिया व राग करता रहेगा, जो कि अटकने के स्थान हैं - इसमें कहीं आत्मा का पता लगनेवाला नहीं है। यह बहुत मुद्दे की बात १६८ वें बोल में की है। यहाँ तक रखते हैं।



देहात्मबुद्धि तीव्र होने पर चिंताके कारण जीव ज्योतिषादिके प्रति झुकावमें आता है, जो कि आत्मभावनासे विरुद्ध है । आत्मार्थीको देहादि संयोगकी ऐसी चिंता नहीं होती कि जिसके कारण आत्मभावनाका नाश हो ।

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - ४)



बाहर की विपदा - यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा - यह संपदा नहीं है। चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है। १९१.

प्रवचन - ८, दि. १७-३-१९८३

परमागमसार, पन्ना : ३८, १९१ बोल है। 'बाहर की विपदा - यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा - यह संपदा नहीं है।' संपदा और विपदा का स्तर लौकिक में और अलौकिक में बिलकुल अलग है। बाहर में प्रतिकूलता आये उसे विपदा कहते हैं। शरीर में रोग होना, निर्धनता आनी, कुटुंब-परिवार में हानि पहुँचना, अनेक प्रकार के बाहर में आधि-व्याधि-उपाधि के जितने प्रसंग हैं, उसे जगत में विपदा कहते हैं। सारा जगत - सभी संसारी जीव उसे विपदा कहते हैं। भगवान कहते हैं कि, वह वास्तव में विपदा है ही नहीं। वह वास्तव में विपदा नहीं है।

जिस-जिस प्रकार के अनिष्ट संयोग-वियोग होते हैं, संयोग भी अनिष्ट होता है और वियोग भी अनिष्ट होता है। जहाँ अनुकूलता की कल्पना की है, उसका जब वियोग होता है तब उसे अनिष्ट वियोग कहते हैं। जो प्रतिकूल संयोग हैं, जिसको नहीं चाहते हैं, जिसे चाहा नहीं जाता - ऐसे अनिष्ट प्रकार के संयोगों को अनिष्ट संयोग कहते हैं। अनिष्ट संयोग और अनिष्ट वियोग - ऐसी दो प्रकार की विपदा हैं। बाहर की संपदा मतलब अनुकूलताएँ। धन-दौलत को संपत्ति कहते ही हैं परंतु शरीर सुदृढ़ व सुंदर हो तो उसे भी शरीर संपत्ति कहा जाता है। ठीक वैसे ही बाहर में कुटुंब-परिवार, आबरू, सगे-सम्बन्धी, मित्रों का समूह बड़ा हो तो उन सबको भी अनुकूल संपत्ति गिना जाता है।

संक्षेप में कहे तो सारे जगत में अनुकूलता-प्रतिकूलताओं का जो खेल है, वह अस्ति-नास्ति पर आधारित है। (इसका मतलब) कुछ एक प्रकार के संयोगों की मौजूदगी और कुछ एक प्रकार के संयोगों की गैरमौजूदगी होना, फिर इस पर से जगत के जीवों ने (अनुकूलता - प्रतिकूलता का) एक नापदंड निश्चित किया है। खुद की अनेक प्रकार की विभावभावों में उत्पन्न हो रही इच्छाएँ, उन इच्छाओं की पूर्ति व इसमें हो रही कषाय की तीव्रता-मंदता, आकुलता का बढ़ना और कम होना, इस पर अनुकूलता व प्रतिकूलता का स्तर निश्चित किया गया है। पूरा जगत ऐसे ही चलता है कि अनुकूल संयोगों के मिलने पर सुख मिलता है और उन्हीं कहनेमात्र अनुकूल संयोगों की हानि से दुःख है। फिर चाहे आज से दस हजार साल पहले जिसका जन्म हो तो भी उसने ऐसे ही सोचा है और अभी आनेवाले एक लाख-पचास हजार साल बाद भी संसार का जीव ऐसे ही नक्की करेगा। इस क्षेत्र में जिसका

जन्म हुआ वह भी ऐसे ही सोचता है और अन्य क्षेत्र में जिसका जन्म हुआ हो ऐसा संसारी जीव भी ऐसे ही विचार करता है। रशिया और अमेरिकावाला भी कोई संयोग में सुख नहीं है, ऐसा विचार नहीं करता। उसकी दौड़ भी संयोग के सुख के पीछे है। जिस जड़ रजकण में नाममात्र सुख भी नहीं है, सुख का अंश भी नहीं है, अरे...! सुख की गंध तक नहीं है ! ऐसे पुद्गल रजकण में बहुत सुख है और वहाँ से सुख मिल सकता है, इसीके पीछे पूरे जगत की दौड़ है और सारी धमाल व घर्षण या लड़ाई के पीछे कोई कारण है तो यही है।

एक जीव को पूरा जगत कम पड़ता है ! एक जीव की इच्छा को Enlarge किया जाये, तो पूरा जगत उसे कम पड़े ऐसा है। जगत में अनंत जीव हैं, सबको पूरा जगत चाहिए, फिर इसमें घर्षण नहीं होगा तो और क्या होगा ? पूरे देश में प्रधानमंत्री की कुर्सी तो एक ही है, लेकिन उम्मीदवार तो बहुत-से हैं। कुछ एक तो बाहर में प्रसिद्धरूप से दिखते हैं लेकिन आम जनता में देखा जाये तो कोई ना करनेवाला नहीं है ! फिर इस स्थिति में घर्षण न हो तो और होगा भी क्या ?

हमारे एक मित्र थे। वैसे थोड़े सज्जन आदमी थे। 'रविन्द्रनाथ टागोर' की जन्मजयंती आयी तब उन्होंने (मुझे कहा) कि आज पूरे विश्व में रविन्द्रनाथ टागोर की जन्मजयंती मनायी जाएगी। उन्हें लोग 'गुरुदेव' कहते हैं। 'शांतिनिकेतन' की स्थापना उन्होंने की है न ! सब उन्हें गुरुदेव कहते हैं।' (मुझे कहा) आज गुरुदेव की जन्मजयंती सारे विश्व में मनायी जाएगी। भले ही वे भारत के आदमी थे लेकिन देखो ! इनकी महानता ! पूरा विश्व उनकी जन्मजयंती मनायेगा। दूसरे संप्रदाय में भले ही कोई महान पुरुष

कहलाते हो, कहलाये गये हो, लेकिन क्या पूरा विश्व उनकी जन्मजयंती मनाता है ? जहाँ हुए हो वहाँ वह संप्रदाय सिर्फ मनाता है। इनकी तो देखो कितनी बड़ी ख्याति है ! बड़े पैमाने में अन्य देश के लोगों ने भी उनका स्वीकार किया है। उसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि, उन्होंने जगत को एक ऐसा सूत्र दिया, ऐसी बात प्रदान की, ऐसा बोध दिया, कि मानव-मानव के बीच प्रेम कर्तव्य है, ठीक ! मानव-मानव के बीच लड़ाई नहीं करनी चाहिए, अपितु आपस में प्रेम करना चाहिए। जिसके कारण जगत के सर्व मनुष्य एक देश और दूसरा देश, ऐसे भेदभाव का त्याग करके उनका आदर करते हैं। इस बात को लेकर उनका आदर किया जाता है। कहनेवाले भाई जैन ही थे इसलिए मैंने कहा, 'अच्छी बात है, चलो ! लेकिन मैं पूछता हूँ कि उन्होंने जो उदार, विशाल विचार प्रदान किया कि किसी भी मनुष्य को एक देश या अन्य देश के मानवी गिनकर घर्षण में - लड़ाई में नहीं आकर एक-दूसरे की हिंसा नहीं करनी चाहिए परंतु आपस में प्रेम करना चाहिए, तो इसके लिए उन्होंने क्या प्रयोग दिया है ?' (क्योंकि) यह तो एक Theory हुई, व्याख्या हुई। (लेकिन) इसके लिये प्रयोग कौन-सा है उनके पास ? (तो कहा) 'यह तो मैं नहीं जानता।' तब मैंने कहा 'ऐसे ही बिना सोचे-समझे आप जैसे लोग ही आदर करने लगते हैं। आगे-पीछे कुछ नहीं सोचते।' लेकिन इसका भी कोई प्रयोग तो होना चाहिए न !

जगत में चीज़ तो मर्यादित है और वह सबको चाहिए फिर इसका घर्षण कैसे मिटाया जा सके ? चीज़ मर्यादित है, जगत के जितने भी पदार्थ हैं, मर्यादित हैं और इसको लेनेवाले अमर्यादित हैं। इस स्थिति में प्रेम कहाँ से रहेगा ? कैसे रहेगा ? रहेगा

ही नहीं। यह बात वास्तविकता से दूर है। वास्तविकता में यह नामुमकिन है। हाँ, यह बात अवश्य है कि, अगर इसका प्रयोग समझाया जाये और ऐसा प्रयोग करने के लिए, अनुसरण करने के लिए सब लोग तैयार हो ! सिर्फ बातें करने से कुछ नहीं होता। सूत्र अपनाने के लिए तो तैयार हो लेकिन साथ ही साथ इसका प्रयोग अपनाने के लिए भी तैयार हो तो ही आपस में प्रेम रह सकेगा।

दृष्टांत ले तो, एक नल में पानी आता हो और चार किरायेदार पानी आने के समय बालटी लेकर पानी भरने आये। अब घर्षण कब होता है ? (सब ऐसा कहे कि) 'पहले मैं' ! जब तो घर्षण होगा लेकिन अगर सब ऐसा भाव रखे कि 'पहले आप' तो ? तो घर्षण नहीं होगा। हमलोग भले ही साथ-साथ आये लेकिन आप पहले भर लो ! आप अपना काम निपटाओ। ऐसा होगा जब तो सामनेवाला भी यही कहेगा कि, नहीं... नहीं... आप पहले भर लो ! मुझे क्या फर्क पड़ता है ? जब तो घर्षण नहीं होगा। परंतु वह तो तब होगा जब दिल में उदारता और त्याग का भाव होगा। परंतु वह तो तब होगा जब दिल में उदारता और त्याग का भाव होगा। जब कि यह त्याग का सिद्धांत व प्रयोग जैनदर्शन में इस प्रकार प्रतिपादित है कि, 'परपदार्थ तुझे सुख का कारण नहीं है। यह बाहर की संपदा वास्तव में संपदा नहीं है।' यह विषय यहाँ (जैनदर्शन में) है।

इतना तो नहीं इसमें (रविन्द्रनाथ टागोर ने जो सिद्धांत दिया) जैनदर्शन के सिद्धांत की अपेक्षा से तो संकुचितता है ! मानव-मानव का संहार न करे, प्रेम करे - इसको आप भले ही विशालता, विश्व की विशालता मानते हो, लेकिन हम तो इसे संकुचितता में

गिनते हैं। जैनदर्शन तो यहाँ तक कहता है कि, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत किसी भी जीव का संहार न हो ! ठीक ! (वहाँ) मानव को बचाने के लिए मछलियों को मारने का कानून घड़ने में आपको कोई दिक्कत नहीं लगती ! अभी चलता ही है न ! 'मत्स्य उद्योग' राज्य में चलता ही है। गुजरात राज्य में भी चलता है और सभी राज्यों में चलता ही है। जहाँ-जहाँ समुद्रतट होता है वहाँ हज़ारों - लाखों तो नहीं किन्तु हज़ारों टन मछलियों को मारा जाता है ! यह जाफराबाद की खाड़ी और वेरावल का जो समुद्रतट है, (वहाँ यह उद्योग चलता है)। मछलियों को मारकर रखने के लिए एकड़ों में जगह रखनी पड़ती है ! गोदाम में तो उसे रख नहीं सकते। खुली जगह में रखना पड़ता है, सुखाते हैं न ! जिसके कारण वहाँ मीलों तक हवा भी प्रदूषित रहती है। वह सब क्यों (चलता) है ? क्योंकि मनुष्य को बचाना है। मनुष्य को आहार चाहिए। जब मनुष्य को जिन्दा रहना है तो उसे दूसरे के जीने-मरने की परवाह नहीं रहती है, तो हम तो कहेंगे कि वह विचार संकुचित है। जैनदर्शन की विशालता तो इससे अनंतगुण विशिष्ट है। लाख-हज़ार-करोड़ या अरब गुण विशिष्ट नहीं अपितु अनंतगुण विशिष्ट है। ऐसे विशाल सिद्धांत जिसमें प्रतिपादित हैं ऐसे जैनदर्शन के संप्रदाय में जब आप हो, फिर भी आप ऐसी महिमा करते हो कि, गुरुदेव की जन्मजयंती कितनी विशालता से मनायी जाती है ! अब सोचिये, इस जैनदर्शन के सिद्धांतों के प्रणेता की जन्मजयंती कितनी विशालतापूर्वक मनायी जानी चाहिए ? यह विचारणीय विषय है।

(यहाँ) कहते हैं कि ऐसे-ऐसे (जितने भी) नाप हैं, वे अज्ञानतामें से जनित, जड़ रजकण में सुख की हयाती स्वीकार करनेवाले

'अंधश्रद्धालुओं' के द्वारा किया गया है !! ठीक ! जगत में 'समझदार' कहलानेवालों को यहाँ तो 'अंधश्रद्धालुओं' के खाते में गिनना पड़े ऐसा है ! किसी को पूछे कि आप तो कोई गिने-चुने आदमीओंमें से हो ! श्रीमद्जी लिखते ही हैं न एक जगह - 'अति मेघावी पुरुषों को तो जगत भी मान्य करता है।' जो बहुत बुद्धिवान हो उसे तो पूरा जगत सन्मान देता है, कि 'वाकई यह कोई बुद्धिशाली मनुष्य है। उनकी बुद्धि में जो बात आती है इसमें जरूर कुछ समझने योग्य, विचारयोग्य होता है। (अब) उसको अगर पूछा जाये कि इस जड़ रजकणों में अर्थात् अनुकूलता और संपदा में सुख है, ऐसा जो आपने अपनी बुद्धि से नक्की किया उसमें तथ्य कितना है ? कि इसमें अंधश्रद्धा है ? (क्योंकि) आप अगर सीधा उसे अंधश्रद्धालु कह दो, तब तो उसे चोट ही लग जाये ऐसा है। अरे ! मैं विचारवान आदमी, बिना विचार किये किसी भी बात का स्वीकार न करूँ ! लेकिन यह क्या ? जन्म हुआ तब से ही शाता में सुख, अनुकूलता में सुख (मानता रहा हूँ) ! जीव का बचपन से विकास, मनुष्य पर्याय मिली तब से विकास ही ऐसे हुआ है। क्योंकि अनादि के संस्कार लेकर आया है। अनादि से चार संज्ञा तो निगोद के जीव को भी है।

मुमुक्षु :- आहार, भय, मैथुन, परिग्रह !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उन चारों संज्ञा, संज्ञा मतलब इच्छा। इन चारों प्रकार की इच्छाओं में दूसरी सभी इच्छाओं का समावेश हो जाता है। इच्छा की अनुकूलता होने पर उसे सुख लगता है, ऐसा जो उसका अनुभव है, ऐसा जो उसका मंद आकुलता को सुख कहने का - सुख मानने का - सुखरूप अनुभव करने का जो अनुभव का प्रकार है, उसे मूलमें से यहाँ पर पलटाते हैं ! वाक्य

तो इतना-सा है किन्तु अंदर बात बहुत भर दी है। 'बाहर की विपदा - यह वास्तविक विपदा नहीं। बाहर की संपदा - यह संपदा नहीं है।' बात तो इतनी-सी है लेकिन उसमें बहुत कुछ भरा है।

एक तर्क हो सकता है कि, शरीर में अशांता की वेदना शुरू हो तब उसे विपदा न कहे तो और क्या कहे ? यह प्रश्न हो सकता है कि नहीं ? पीड़ा शुरू हुई, वेदना उत्पन्न हुई, Accident होता है, रोग होता है, अनेक प्रकार होते हैं कि नहीं ? किसी न किसी कारण से शरीर में अगर पीड़ा शुरू हुई तो उसे विपदा नहीं कहेंगे तो (और) क्या कहेंगे ? क्या वास्तव में वह विपदा नहीं है ? यह प्रश्न होना संभवित है। यदि (ऊपर जो कही वह बात) सिद्धांत है तो वह यहाँ किस प्रकार लागू होता है ? वह ऐसे कि, वास्तव में वह पीड़ा और वेदना की सत्ता जीव के मूलस्वरूप में नहीं है। अब, अगर जीव के स्वरूप में नहीं है (तो हकीकत) क्या है ? कि, वह पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है। हकीकत में तो वह पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है।

जैसे वातावरण में रहे शीत परमाणुओं का अनुभव शीतरूप होता है, उष्ण परमाणुओं का अनुभव उष्णतारूप होता है, यानी कि उसका ज्ञान होता है। शीत-उष्ण का जीव को ज्ञान होता है। लेकिन जहाँ यह ज्ञान हुआ, (यानी कि) जीव को ज्ञान हुआ, जिस पर्याय में इसका ज्ञान हुआ वहाँ वह ज्ञान शीत या उष्णरूप परिणमन नहीं करता है। भले ही कोई जीव ऐसा कहे कि मुझे ठंडा लगा, मुझे गरम लगा; (लेकिन) वस्तुस्थिति अनुसार तब जीव का या जीव की पर्याय का शीत या उष्णरूप परिणमन होना अशक्य है। ऐसी कोई शक्यता नहीं है कि जीव की पर्याय में - जाननेवाले ज्ञान में शीतपना या उष्णपना उत्पन्न हो। क्योंकि वह जो जड़ की -

(पुद्गल की) स्पर्शगुण की पर्याय है। जीव में स्पर्श नाम का कोई गुण नहीं होने से ऐसी कोई पर्याय ही उत्पन्न नहीं होती है।

जैसे शीत-उष्णरूप होना आत्मामें, जीव में अशक्य और असंभवित है, वैसे ही वेदना (अशाता) की जो पर्याय है वह भी जड़ की अशाता प्रकृति का स्वाद है। वह भी जड़ की अशाता प्रकृति का स्वाद है। तत्संबंधित जीव को ज्ञान होता है। परंतु इस अशाता की हयाती, पीड़ा की हयाती, वेदना की हयाती का ज्ञान की हयाती में प्रवेश नहीं हो सकता - वहाँ उसका प्रवेश नहीं है। वहाँ इसका स्पर्शमात्र नहीं है !! ज्ञान को वह वेदना स्पर्श नहीं कर सकती। ज्ञान में मालूम भले ही हो (किन्तु स्पर्श नहीं कर सकती)। देखो ! यह वेदना है वहाँ ज्ञान नहीं है, और ज्ञान है वहाँ ज्ञान की सत्ता में वेदना नहीं है। इस वेदना की सत्ता में ज्ञान नहीं है और ज्ञान की सत्ता में वेदना नहीं है। चाहे जिस प्रकार से वेदना उत्पन्न हुई हो, फिर भी उन दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। अतः यह वेदना जो है वह वास्तव में विपदा नहीं है।

वेदना है वह विपदा नहीं, लेकिन यह मृत्यु जो होती है वह तो विपदा है कि नहीं ? (हमलोग) वेदना से थोड़े आगे चले, तो क्या (वह भी विपदा) नहीं ? लेकिन सारी दुनिया के आगे आपका मत कितने प्रतिशत में ? क्या बहुमत से नक्की नहीं करना पड़ेगा ? दुनिया में तो यही नापदंड है कि सब बहुमत से नक्की करना ! (यहाँ) कहते हैं कि सत्य-असत्य को प्रतिशत लागू नहीं होता। 'रत्नकंड श्रावकाचार' में भगवान समंतभद्रस्वामी तो ऐसा कहते हैं; वहाँ श्रावक का अधिकार लिया है, खुद तो मुनिदशा में है फिर भी अपना अधिकार नहीं लिया, अपितु श्रावक का अधिकार लिया है। फिर मुनि के लिए तो कहने की आवश्यकता भी नहीं रहती है। श्रावकाचार

है न ! श्रावकाचार लिखा है। मुनिराज स्वयं तो आचार्य हैं। (उन्होंने) श्रावकाचार लिखा है कि, श्रावक को - गृहस्थ को भी आयुष्य पूर्ण होने का समय आता है। जिसे आमलोग मृत्यु कहते हैं और जिसके नाम से भी भड़कते हैं, जिसकी बात करने के लिए भी कोई राजी नहीं है ! मोत व मृत्यु की बात करने के लिए भी कोई तैयार नहीं होता, इतना तो उसे अशुभ गिना गया है। 'अशुभ समाचार' ऐसा लिखते हैं कि नहीं ? अशुभ पत्र लिखते हैं। समंतभद्राचार्य कहते हैं कि वह तो साधक का 'मृत्यु महोत्सव' है। 'मृत्यु महोत्सव' ! सिर्फ उत्सव नहीं उसे 'महा उत्सव' कहा है। देखिये ! क्या कहा ! वह तो शुभ प्रसंग है, ऐसा कहते हैं। महोत्सव को तो अशुभ कहे या शुभ ! नापदंड ही पूरे अलग हैं। लौकिक और अलौकिक में गिनती का प्रकार उलटा-सुलटा है। क्योंकि एक संसारमार्ग के प्रति ले जाता है जब कि दूसरा मोक्षमार्ग के प्रति ले जाता है। इस तरह दोनों के बीच बड़ा अंतर है, जबरदस्त फ़र्क है। ('मृत्यु महोत्सव' कहा है) क्योंकि ऐसे मृत्यु के प्रसंग में सम्यग्दृष्टिश्रावक साधक जो हैं वे विशेष आत्मिक पुरुषार्थ करते हैं। शुद्ध चैतन्य की हयाती का अधिक बलपूर्वक वेदन और अनुभव करते हैं।

पूज्य सोगानीजी लिखते हैं कि, कोई-कोई साधक तो शुद्धोपयोग में देहत्याग करते हैं। ठीक ! 'मृत्यु के लिए तैयार रहना।' आता है न ? २-४ बोल लिखे हैं। मृत्यु के लिए तैयार रहना ! अभी से उसके परिणाम में इतनी सावधानी है कि किसी भी समय, किसी भी क्षण में देहत्याग का प्रसंग आ जाये, तो एकदम एक सेकन्ड में अंतर सावधानी में आकर, पुरुषार्थ को एक सेकन्ड में इतने जोर से प्रगट कर लेता है, वह भी सहजरूप से ! प्रगट करना

मतलब कृत्रिमता से नहीं, सहजरूप से प्रगट होता है, वह ऐसे कि कुछ एक साधक तो शुद्धोपयोग में देहत्याग करते हैं। ठीक ! कैसी बात ली है ! 'मुझे कुछ सुनाईये' यह बात भी उन्हें नहीं रहती। ठीक ! ऐसे लिया है। तुम दूसरे का लक्ष्य क्यों करता है ? कि मुझे आप धर्म सुनाओ ! धर्मी ऐसा जो आत्मा, अनंतगुण निधान, वह तो स्वयं तू ही हो, तेरे पास ही है, उसे सँभाल न ! उसकी सँभाल में धर्म है। अतः वास्तव में तो मृत्यु के काल में जैसी जिस साधक की योग्यता (हो वैसी साधना में वह आ जाता है)। योग्यतावान जीव को तो प्रत्येक प्रतिकूलता अनुकूलता समान ही हो जाती है। प्रतिकूलता, प्रतिकूलता नहीं रहती अपितु अनुकूलता हो जाती है।

श्रीमद्जी एक जगह ऐसा कहते हैं कि इस काल में मुमुक्षु जीव को प्रतिकूलताओं का उत्पन्न होना, यह तो संसार से तिरने के बराबर है। ऐसा लिखा है ! ठीक ! जगत के जीव ऐसा चाहते हैं कि वर्तमान में मुझे सब अनुकूल रहे, और मेरे भविष्यकाल में आनेवाले सभी प्रसंग अनुकूलता में व्यतीत हो ! निर्विकल्परूप से सबका ऐसा अभिप्राय है। विचार किया हो चाहे नहीं किया हो। यहाँ पूरी Line दूसरी है। यहाँ तो कहते हैं कि मुमुक्षु जीव को इस काल में प्रतिकूलताओं का उत्पन्न होना, यह तो संसार से तिरने के बराबर है। क्योंकि संसार का सही स्वरूप उस वक्त देखने का अवसर प्राप्त होता है।

प्रतिकूलता में होता क्या है कि, तब अनुकूल चलनेवाले भी प्रतिकूल चलने लगते हैं। जिसके प्रति जीव को ममत्व हो वह कितना निरर्थक था, यह स्पष्ट समझने का तब अवसर प्राप्त होता है। जो बहुत नज़दीकी संबंध रखता हो, जैसे कुटुंब-परिवार में

लड़का, लड़की, पिता, माता, पति, पत्नी जो बहुत नज़दीक हो, वे जब प्रतिकूल होने लगते हैं तब जीव को लगता है कि मैं व्यर्थ ही ममता कर रहा हूँ। जो ममता कर-करके मैं भवभ्रमण बढ़ाता हूँ, यह कितनी मूर्खता है, यह तब उसकी समझ में आता है। यह (समझने का) अवसर प्राप्त होता है। इस निमित्त से अवसर मिलता है।

वरना अनुकूलता की कल्पना तो जीव को इतनी हद तक है कि अनुकूलता की जबरदस्त इमारतमें से एक ईंट भी हिल जाये, यह जीव को नहीं पुसाता है ! अनुकूलता के महल में एक खूँटी भी इधर से उधर लगनी नहीं चाहिए - ऐसी जीव की इच्छा है। उसमें अनंत अनुबंध करनेवाले चारों कषाय मौजूद हैं - अनंतानुबंधी के चारों कषाय मौजूद हैं। संपदा की जितनी वांछा है इसमें अनंतानुबंधी के चारों कषाय समाविष्ट हैं। एक भी कषाय बाकी नहीं है।

यहाँ गुरुदेवश्री कहते हैं कि भाई ! वह (बाहरी) विपदा हकीकत में विपदा नहीं है और (बाहरी) संपदा भी हकीकत में संपदा नहीं है। फिर ये (संपदा और विपदा) क्या चीज़ है ? यह एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। यहाँ तो 'नहीं है' ऐसा कहा। नास्ति अर्पित की है इसमें से अनर्पितरूप से क्या निकलता है ? यह भी तो सोचना होगा कि नहीं ? अर्पितरूप से तो नास्ति कह दी कि ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन ऐसा नहीं है तो क्या है ? (तो कहते हैं) कि अनुकूलता के जितने भी प्रकार हैं और प्रतिकूलताओं के जितने भी प्रकार हैं, सब ज्ञान का ज्ञेय है। वीतरागभाव में यानी कि साम्यभाव में दोनों एक-से मालूम होते हैं। एक-से लगे उसे साम्य कहते हैं न ? अभी तो दुनिया में पूरा

एक साम्यवाद प्रसिद्धरूप से चलता है। साम्यवाद का ही तो झगड़ा है।

साम्यवादी लोगों का कहना है कि यह धर्म की अंधश्रद्धा ने - यानी जिसे हम धर्म - Religion कहते हैं, उसने ही दुनिया का सर्वनाश किया है ! धार्मिक लोगों ने दुनिया के सर्वनाश को न्यौता दे रखा है ! Moscow की दीवार पर बहुत बड़े अक्षरों में यह बात लिखी हुई है। Moscow से यह बात चली है न ? क्योंकि उन लोगों का इसमें ऐसा विचार है कि देखो भाई ! कोई ऊँचा-नीचा नहीं होना चाहिए। (जब कि) वह सब तो पूर्व पुण्य के कारण है। पैसेवाले पूर्व पुण्य के कारण पैसेवाले हैं। तो उन लोगों का कहना है ऐसा बिलकुल नहीं चलेगा, सब समान होने चाहिए। सबकी संपत्ति एक-सी होनी चाहिए। सबके संयोग समान होने चाहिए। फिर तो सबके चेहरे भी एक-से होने चाहिए क्यों ? सबके बेटे-बेटी, कुटुंब-परिवार एक-से होने चाहिए, ऐसा कुछ नहीं और सिर्फ संपत्ति एक-सी होनी चाहिए वही साम्यपना ? लेकिन ऐसी भी एक कल्पना उन लोगों ने की है।

इसके (साम्यवाद के) एक नेता - बड़ा आदमी मिल गया था। मैंने कहा, आप लोग धर्म के बारे में ऐसा जो विचार रखते हैं, तो एक प्रश्न पूछना चाहूँगा कि ऐसी (धर्म की) मान्यतावाले को आप अंधश्रद्धावान कहते हो लेकिन हम तो कहते हैं, धर्म के क्षेत्र में रहनेवाले ऐसे हम तो ऐसा कहते हैं कि, अभी सारे जगत की दौड़ जड़ रजकण की मानी गई अनुकूल पर्याय के पीछे, उसकी प्राप्ति के पीछे - उसके Achievement के पीछे, इसमें सुख है ऐसी श्रद्धा चल रही है वे लोग पंद्रहसौ साल पहले यज्ञ करके, प्राणियों का वध करके हवन करते थे उन अंधश्रद्धावान जितने ही अंधश्रद्धावान

हैं ! ठीक ! पहले तो उन्हें पंद्रहसौ साल पीछे रख दिया ! बुद्धिशाली आदमी था। बुद्धि में तेज आदमी था इसलिए लगा कि इसे थोड़ा सबक सिखाया जाये ! सर पर जैसे कोई हथौड़ा पटक दे, वैसी बात कह दी ! कि आप लोग, १५०० साल पहले अंधश्रद्धा में एक प्रक्रिया चलती थी कि बारिश लानी हो तो करो यज्ञ और इसमें बकरा, भैंसा या अन्य पशुओं की बलि चढ़ाओ तो ऊपर जो वरुणइन्द्र हैं वे प्रसन्न होंगे और बारिश करेंगे ! वह बात जितनी बालिश व मूर्खताभरी थी, इतनी ही यह बात भी बालिश है ! (उसने कहा) यह बात आपने कोई गज़ब की कर दी ! (हम अंधश्रद्धावान) कैसे ? मैंने कहा, आप इसमें सुख है (ऐसा मानते हो) जब कि आप लोग तो Materialistic लोग (कहलाते हो) ! क्योंकि वे लोग अपनेआप को Materialistic मानते हैं !! Materialism में मानते हैं, ऐसा कहेंगे। (हमने पूछा) इसमें आपने कैसे Materialize किया ? आप जड़ रजकण में सुख को कैसे Materialize करते हो ? (प्रश्न सुनते ही) वह सोच में पड़ गया ! बुद्धिशाली आदमी था। (मुझे कहा) 'आप लगते तो हैं व्यापारी लेकिन बात विज्ञान की करते हो !' (मैंने कहा) इसमें क्या हो गया ? व्यापारी को विज्ञान की समझ नहीं हो, ऐसा तो नहीं है। (फिर उसने कहा) 'बात तो आपकी ठीक है, मैंने यह कभी सोचा ही नहीं है।' (मैंने कहा) 'मैंने तो ऐसा सुना है कि आप बहुत बुद्धिशाली हैं और दुनिया के सभी धर्मों का साहित्य आपने पढ़ा है। तो यह बात कहाँ तक सही है ?' तो उसने कहा 'बात तो सही है कि मैंने बहुत से वर्तमान संप्रदायों का व धर्ममतों का साहित्य पढ़ा है, लेकिन मेरी कमनसीबी से मैंने जैनदर्शन का साहित्य ही नहीं पढ़ा है !' फिर तो बात ही पूरी हो गई। यह विषय तो जैनदर्शन में है, जो दुनिया के

अन्य धार्मिक साहित्य में यह विषय प्रतिपादित नहीं हुआ है।

यहाँ क्या कहते हैं ? कि वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञानी के ज्ञान में बाहर में कहलानेवाले अनिष्ट संयोग और वियोग या इष्ट संयोग और वियोग, सब ज्ञान का ज्ञेय है, ऐसा साम्यभावरूप ज्ञानसहित अनंतगुण का वीतरागी परिणमन साधक को वर्तता है, उन्होंने इस सिद्धांत को अपनाया है और ग्रहण किया है। अब जिसके लिए वह सुख का भी कारण नहीं है और दुःख का भी कारण नहीं है, उसे इसके ग्रहण-त्याग की पकड़ कितनी रहेगी ? (कहते हैं) कि उसके ग्रहण-त्याग की कोई पकड़ उन्हें नहीं रहती। वे जगत में, जगत से निराले होकर रहते हैं और अपने में मस्त रहते हैं। वीतरागभावरूप मोक्ष की मस्ती में वे निमग्न हैं। जिन्हें जगत के ग्रहण-त्याग से कोई लेना देना नहीं है। इस तरह बाहर की संपदा और विपदा को ज्ञानियों ने 'मात्र ज्ञेय' के खाते में निश्चित किया है।

फिर इनके लिए विपदा और संपदा जैसा कुछ है क्या ? (कहते हैं) कि हाँ, वे भी मानते हैं। (बोल में) दो बात ली हैं। 'नहीं है' और 'है'। यहाँ नास्ति और अस्ति दोनों स्थापित की है। वह ऐसे कि '**चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है, चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है।**' जिसमें चैतन्य के सुख की हानि हो, वही विपदा है। जब चैतन्य के सुख का अभाव होता है तब चैतन्य को दुःख होता है। इसे विपदा क्यों कहते हैं ? कि आत्मा में सुख नाम की एक शक्ति है, ४७ शक्तियों में ५ वीं शक्ति का वर्णन है - 'अनाकूल उपयोगमयी सुखशक्ति' समयसारजी के परिशिष्ट में प्रतिपादित ४७ शक्तियों के विवरण में एक 'सुखशक्ति' का वर्णन है। तो कहते हैं कि (आत्मा में)

एक सुखगुण है। सुखशक्ति है, यानी कि वह त्रिकाल गुण है, त्रिकाली शक्ति है। आत्मा में अनादि-अनंत तीनों काल जिसका अस्तित्व है, ऐसी वह शक्ति है कि जिसका सामर्थ्य अनंत है। जिसका सुख देने का सामर्थ्य अनंत है, अपरिमित है, अमर्यादित है, जिसे कहीं भी कोई सीमा लागू नहीं होती। ऐसी जो सुख शक्ति है इसका परिणमन भी तीनों काल होता है। किसी भी काल में किसी भी पदार्थ का कोई भी गुण परिणमन बिना रह नहीं सकता - रहता ही नहीं। सर्व गुणों की यह स्थिति है।

वस्तुविज्ञान का विचार किया जाये तो कोई भी पदार्थ का - कोई भी वस्तु का एक भी गुण किसी एक समय के लिए भी परिणमन बिना का नहीं हो सकता। अतः आत्मा की सुखशक्ति, सुख-गुण भी सदा ही परिणमन कर रहा है। परंतु जब वह विकृतरूप से, विकारीरूप से, विभावरूप से परिणमन करता है तब वह दुःखरूप परिणमन करता है। उसका अनुभव सुखरूप नहीं अपितु दुःखरूप (होता है) - उलटा अनुभव होता है। संक्षेप में, दुःख है वह सुखगुण की उलटी पर्याय है। दुःख है सो सुखगुण की उलटी पर्याय है। वह विपदा कौन-सी है ? कि चैतन्य का विस्मरण है वह।

जब यह आत्मा अपने ही मूलस्वरूप को - निजस्वरूप को भूला हुआ है, इसकी असावधानी में - इसके स्मरण बिना, सावधानी रहित परिणमन करता है तब उसका सुखगुण दुःखरूप परिणमन करता है। यह दुःख का अनुभव ही उसकी विपदा है। फिर चाहे लखपति हो चाहे अरबपति हो चाहे जगत का राजा हो या कोई भी Lord, King, Emperor हो, शहंशाह हो ! फिर भी ये सारे चैतन्य के विस्मरणवाले दुःखी हैं !!

गुरुदेवश्री तो यहाँ तक कहते थे कि 'वे सब दुःख के पहाड़

के नीचे दबे हुए हैं ! प्रवचन सुनने के लिए सामने कोई करोड़पति बैठा हो तब क्या कहते थे ? कि 'आप सेठलोग सब दुःख के पहाड़ नीचे दबे हुए हो !' (मतलब) आप लोग कम दुःखी नहीं हो, परंतु बहुत दुःखी हो ! फिर कभी मुस्कराते हुए ऐसा भी कह देते थे कि, बड़ी लंबी-लंबी गाड़ी में बैठते हैं, Imported Air-Conditioned गाड़ियाँ आती हैं न ! (फिर पूछेंगे) कितने की है ? (तो कहेंगे) दस लाख की है, पचास लाख की है। गाड़ी में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर बैठा हो, लोग ऐसे देखते हैं कि भाई सुखी है, लेकिन (गुरुदेव कहते थे) 'वह गाड़ी में तो नहीं बैठा, गाड़ी उसकी छाती पर बैठी है ! क्योंकि इसकी उपाधि जो उसने धारण की है वह सब उसे है ! गाड़ी में कहीं थोड़ा सा नुकसान भी न हो इसकी उपाधि उसने धारण कर रखी है। उसे Maintain करने की जो उपाधि है वह सब उसे है ! अतः वह खुद तो गाड़ी में नहीं बैठा, गाड़ी उसकी छाती पर बैठी है। वह उपाधि जो है ! इसलिए।

इसलिए कहते हैं कि 'चैतन्य का विस्मरण ही घोर विपदा है।' इसमें दुःख का परिणमन होने से इसे घोर विपदा गिनते हैं। विस्मरण में क्या लिया ? कि संसारी मिथ्यादृष्टि जीव संपूर्णतया - पूरा का पूरा आत्मा को भूलकर प्रवर्तता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' बनारसीदासजी ने गाया है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' सदा मतलब कब ? कि तीनों काल, अभी भी। ऐसा जो खुद का निजपद है उसका विस्मरण करना, इसे भूल जाना, बिना ऐसे भान में और मैं मनुष्य हूँ या किसी न किसी पर्याय को प्राप्त हूँ, ऐसी पर्यायरूप खुद को मानकर - ऐसी सभानता में बड़ी विपदा खड़ी होती है। इसमें चार गति का परिभ्रमण निहित है। इसमें

सर्व काल दुःख, दुःख और दुःख ही है। किसी भी काल में दुःख नहीं है, ऐसा नहीं। अतः वही बड़ी विपदा है, जब कि चैतन्य का स्मरण जिन्हें आया वही वास्तव में सच्ची संपदा है।

यहाँ (चैतन्य का) स्मरण का मतलब सिर्फ रट लगाना, सुनकर रट लगाना या माला फेरना, नामस्मरण जिसे कहते हैं न ? ऐसा नहीं है। (परंतु) अंतर सावधानीपूर्वक भीतर में अभेद अनुभव द्वारा (चैतन्य का) स्पर्श करे या इसके भान में रहे (उसे स्मरण कहते हैं)। देखिये ! भान एक ऐसी चीज़ है कि जिसे स्मरण नहीं करना पड़ता। स्मरण इसके आगे कम पड़ता है। मैं मनुष्य हूँ - इसका स्मरण करना पड़ता है ? मेरा नाम यह है - इसका स्मरण करना पड़ता है ? ऐसा-ऐसा मैं हूँ - यह स्मरण करना पड़ता है क्या ? काला हूँ, गोरा हूँ, ऊँचा हूँ, नीचा हूँ, ऐसा कुछ भी स्मरण करना पड़ता है क्या ? कुछ नहीं करना पड़ता। इसका भान जो रहता है वह स्मरण से भी अधिक है। वैसे चैतन्य का भान है वही वास्तविक संपदा है। 'स्मरण' यहाँ 'भान' के अर्थ में है। यह भान कभी विस्मृत नहीं होता। भान को स्मृति-विस्मृति की अपेक्षा नहीं होती। अतः ऐसा कहा जाता है कि इसकी विस्मृति नहीं होती है। परंतु वास्तव में तो स्मृति-विस्मृति की अपेक्षा इसमें नहीं है।

वैसे तो स्मृति-विस्मृति है वह मतिज्ञान के भेद हैं। मतिज्ञान के जो पाँच भेद हैं उसमें 'स्मृति' है वह मतिज्ञान का भेद है। इसलिए यह जातिस्मरण को भी मतिज्ञान के भेद में लिया है, श्रुतज्ञान के भेद में नहीं। स्मृति का भेद है न, मतलब वह मतिज्ञान का उघाड़ है। जातिस्मरण है वह मतिज्ञान का उघाड़ है।

यहाँ तो जो 'भान' है इसमें सिर्फ ज्ञान ही नहीं, परंतु भान में तो श्रद्धा भी है, भान में तो ज्ञान भी है और भान में

स्वरूपाचरणचारित्र भी है, स्वरूप भान में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एकसाथ होने से, यह धर्मी को जो होता है न स्वरूप का भान ! इसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन होने से, वह स्मृति से बलवान पर्याय है, विशेष ताकतवर पर्याय है। ऐसा जो कहा वह भी तीन मुख्य गुण है इसलिए कहा। भगवान को जो अनंत चतुष्टय प्रगट हुए हैं इसमें चारित्र तो साधकदशा का भेद होने से, चारित्र को बदलकर सुख कहा है। भगवान को अनंत ज्ञान है, अनंत दर्शन है, अनंत सुख है - ऐसा लिया है। अनंत चतुष्टय में अनंत चारित्र है ऐसा नहीं कहा जाता, चौथा अनंत वीर्य लिया है। वह भी मुख्य गुण है। वैसे (यहाँ धर्मी को) 'भान' में भी अनंत पुरुषार्थ लिया है। आत्मा के स्वरूप-भान में अनंत पुरुषार्थ है। वैसे यह बात साथ में है। (इसलिए) चार गुण लेने चाहिए।

जिसको यहाँ स्मरण कहा है कि, 'चैतन्य का स्मरण (संवेदन) ही वास्तव में सच्ची संपदा है।' तो इसमें चैतन्य की संपत्ति में सम्यग्दर्शन की पर्याय है, सम्यक्ज्ञान की पर्याय है, सम्यक्चारित्र की पर्याय है यानी कि सम्यक्सुख की पर्याय है और सम्यक्पुरुषार्थ की पर्याय है - चारों हैं, इसमें चतुष्टय है इसलिए वह सच्ची संपदा है। जीव की जो गुण संपत्ति है वह गुण निधानमें से उत्पन्न हुआ परिणमन है। जीव का ऐसा परिणमन तो गुण निधानमें से उत्पन्न हुआ गुणवान परिणमन है। निर्दोष व पवित्र परिणमन है। वह जीव की सच्ची संपत्ति है, जिसे संपदा कहते हैं। फिर भले ही वह एकाकी हो, निर्धन हो, बाहर में कोई उसे पहचानता न हो, कोई बुलाता न हो, अरे..! कोई तिरस्कारवृत्ति से उपेक्षा करता हो, फिर भी वह सच्ची संपदा का धारक है। श्रीमद्जी एक जगह लिखते हैं न ! जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु लोकदृष्टि में है,

ऐसा कहकर शुरुआत की है न...! कुछएक वचनामृत तो उन्होंने बहुत अच्छे लिखे हैं। लोकसंज्ञा ! लोकदृष्टि नहीं परंतु लोकसंज्ञा है। लिखावट में गंभीरता बहुत है !!

लोकसंज्ञा माने क्या ? कि, दूसरे लोगों की नज़र में मेरा अमुक दिखाव रहे। मेरी अमुक प्रकार से गिनती (स्थान) हो, मैं जैसा अपने आपको दिखाना चाहता हूँ ऐसा स्थान दूसरे की नज़र में बना रहे तो अच्छा ! इसे लोकसंज्ञा कहते हैं। फिर इसमें पैसेवाला पैसे की गिनती करता है, मानी मान की गिनती करता है, शिष्यों का गुरु ऐसी गिनती करता है कि मैं गुरुपद में रहूँ तो अच्छा ! इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से लोगों के बीच अपना स्थान समझा है। ऐसी दृष्टि रहा करे, यानी कि वह स्थान बनाये रखने का सर्व प्रकार से जाने-अनजाने में प्रयत्न हुए बिना रहता नहीं। ऐसी जो परिणामन की प्रकृति उसे ज्ञानी लोकसंज्ञा कहते हैं। यह लोकसंज्ञा का अर्थ है, भाई ! ठीक !

प्रश्न :- मन ही मन में ऐसे परिणाम होते हैं ?

समाधान :- मन ही मन उसके ऐसे ही परिणाम रहते हैं कि, मुझे लोग इस नज़र से देखें तो अच्छा, मेरी कहीं बुराई न हो तो ठीक, मुझे कोई हीनरूप से न देखे तो ठीक। मुझे धर्मी के रूप में देखे तो अच्छा ! मुमुक्षु के रूप में ही लो (न) ! हम हमारी बात ही क्यों न ले ? पैसेवाले की (बात) एक तरफ (रखो) ! मुझे मुमुक्षु समझे तो अच्छा, धर्मी समझे तो अच्छा, ज्ञानी समझे तो अच्छा ! कहते हैं कि भाई बहुत बड़ी क्षति है। यह लोकसंज्ञा उसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु हो जाता है यानी कि ध्येय बन जाता है। जो ध्येय के स्थान में हो उसे लक्ष्यबिंदु कहते हैं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि अगर तुझे मुमुक्षु की गिनती में आना

हो, अगर तुझे मुमुक्षु की पंक्ति में बैठना हो, तो ज्ञानी का यह आदेश है कि तू अपनी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु परिपूर्ण निर्दोष होने का - मोक्ष का ध्येय निश्चित कर लेना। कौन-सा ध्येय ? पूर्णता का लक्ष्य ! परिपूर्ण निर्दोष होना है ऐसा जो ध्येय है वह जिंदगी का लक्ष्यबिंदु होना चाहिए, इसके बजाय लोकसंज्ञा जिसकी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है। नास्तिकों से अस्तिकों को समझाया कि यह नहीं होना चाहिए तो क्या होना चाहिए ? वह जिंदगी चाहे जैसी श्रीमंतता से भरी है, चाहे जैसी सत्ता से सज्जित हो, या चाहे कितना बड़ा कुटुंब-परिवार इत्यादि हो, आदि की संख्या बड़ी हो, चाहे कैसा भी योग हो फिर भी एकांत दुःख का ही हेतु है। इसमें दुःख मिटने का और सुख मिलने का कोई अवसर या प्रकार नहीं है।

आत्मशांति मतलब आत्मिक सुख, आत्मिक संपत्ति जिसको गुरुदेवश्री यहाँ पर संपदा कहते हैं। हरएक की भाषा अपनी मौलिकतापूर्ण आती है। विषय जो है वह तो एक ही है। आत्मशांति जिस जिंदगी का लक्ष्यबिंदु है वह जिंदगी चाहे एकाकी हो (यानी कि) अकेला हो, किसी का संग उसे न हो, कोई उसे साथ न देता हो, ऐसा कहते हैं। वह एकाकी हो, निर्धन हो, निर्वस्त्र हो, नग्न दिगंबर होते हैं - जंगल में मुनिराज होते हैं न ! फिर भी वह परम समाधि का स्थान है। ऐसा आत्मशांति का जिसने ध्येय बनाया है वह आत्मा की परम समाधि अवस्था में (रहता है)। जहाँ साम्य है वहाँ समाधि है और जहाँ समाधि है वहाँ साम्य है। 'साम्य है वह जीव के मोह-क्षोभ विहीन परिणाम है।' प्रवचनसार (७वीं गाथा में) साम्य की (ऐसी) परिभाषा की है। जैनदर्शन का यह साम्यवाद है !! कि, जीव के मोह-क्षोभ विहीन, मोह विहीन परिणाम और चंचलता, अस्थिरता, क्षोभ विहीन-अविक्षिप्त ऐसे स्थिर उपयोग के

परिणाम, आत्म-स्थिरता के परिणाम वास्तव में साम्य के परिणाम हैं, वे परम समाधि के परिणाम हैं। वह जीव की खरी संपत्ति है जिसमें आत्मशांति समाहित है। जगत की संपत्ति की उसको कोई गरज नहीं है, उसको जगत की संपत्ति की कोई गरज नहीं है।

श्रीमद्जी ने गाया है, 'वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो' मुनि को ऐसा होता है, इतना ही प्रतिपादन नहीं है। मैं साधक हूँ और उस स्थिति की मैं भावना भाता हूँ, 'अपूर्व अवसर' गाया है न ! 'अपूर्व अवसर' में ऐसा गाया है कि ऐसे जो मुनिराज हैं, जंगल में ध्यानस्थ अवस्था में बिराजमान हैं, ऐसे में चक्रवर्ती सेना लेकर निकले और दिखने में आ जाये कि अरे...! वहाँ पेड़ के नीचे मुनिराज ध्यान में बिराजमान हैं ! तो हाथी की सवारी से नीचे उतरकर साष्टांग नमस्कार करें !! फिर भी वे सामने तक नहीं देखते !! लोग उनके नमस्कार को बड़ा सन्मान गिनते हैं। वीतरागी मुनि के लिए (वह) ज्ञान का ज्ञेय है। उनको तो कोई पत्थर मारनेवाला - उपसर्गकर्ता हो चाहे कोई चक्रवर्ती वंदनकर्ता हो दोनों एक-से ज्ञान के ज्ञेय हैं। उनको यह अच्छा है और मेरा है, मुझे माननेवाला मेरा है, ऐसी संकुचितता वीतराग भाव में नहीं होती। वहाँ ऐसी भावना भायी है। श्रीमद्जी ने मुनि का वर्णन किया है वह तो एक दृष्टिकोण है जो गौण है, मुख्य दृष्टिकोण तो उस काव्य का यह है कि 'ऐसा अपूर्व अवसर मेरा कब आएगा ?' यह इसका मुख्य दृष्टिकोण है।

इसलिए ऐसा कहा है। यह उन्होंने लिया है - ३४ वें वर्ष की यह बात है। देखिये ! ३४ वें वर्ष में उनका देहांत है और आखिर में (पत्रांक - ९४९में) यह बात लिखते गये हैं। एकदम सूत्र जैसा वाक्य है ! जगत के संयोगों के पीछे दौड़ रहे प्राणियों

को Break लगा दे (रोक ले) ऐसा यह वाक्य है कि भाई ! चाहे जितनी श्रीमंतता, सत्ता और कुटुंब-परिवार तुझे मिल जाए ! (परंतु) तेरी जिंदगी का लक्ष्यबिंदु अगर उलटा है तो वह तुझे दुःख का कारण होगा। वर्तमान दुःख का कारण (है और) भविष्य में इसकी परंपरा भी अनंत दुःखमय है। वह वास्तविक संपत्ति और संपदा नहीं है। उस भ्रामक अनुकूलता के पीछे दौड़ने जैसा नहीं है।

प्रश्न :- जाने-अनजाने में लोकसंज्ञा रह जाती है ऐसा कहा, तो क्या अनजाने में भी लोकसंज्ञा रह जाती है ?

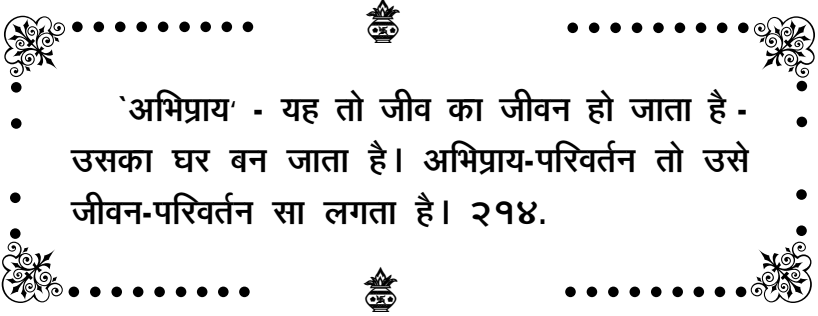
समाधान :- विचार कर लेना कि हमने ऐसा स्पष्ट विचार तो नहीं किया कि, मुझे कोई इस नज़र से देखे तो अच्छा ! कोई ऐसी नज़र से देखे तो अच्छा, ऐसे देखे तो अच्छा, परंतु मुमुक्षु कहलाते हो फिर भी जब तक आत्मशांति का ध्येय, परिपूर्णता का ध्येय जीव निश्चित नहीं करता है, क्योंकि दूसरे का तो इसमें पता (लगना) मुशिकल है, यह देख लेना चाहिए कि मुझे ऐसा भाव रहता है कि नहीं ? ऐसा मुझे अंदर में रहता है कि नहीं ? कि लोग मुझे इस नज़र से देखे तो अच्छा ! दूसरों की इतनी (दिक्कत नहीं है) - अनजान लोगों से मतलब नहीं है, (परंतु) जो लोग मुझे जानते हैं, वे मुझे ऐसा जानते हैं, ऐसा अच्छा मुझे जानते हैं, ठीक जानते हैं, इसमें फेरफार न हो तो अच्छा - इतना तो रहता है कि नहीं ? जाने-अनजाने में यह बात भीतर में है कि नहीं ? इसको यहाँ लोकसंज्ञा कहते हैं।

सबको अच्छा लगे इसके लिए शक्य हो उतना प्रयत्न करता है परंतु इसमें इसकी मर्यादा है। इसमें वह पूरा सफल नहीं हो सकता (क्योंकि) किसीको बुरा लगे ऐसी नौबत भी आती है, परंतु फिर भी सामान्यतया जीव के अभिप्राय की यह स्थिति है। उसके

सोचने पर या बिना सोचे भी अभिप्राय की ऐसी स्थिति है कि जो मुझे जानते हैं, उनमें मेरा जो स्थान है वह बना रहे तो अच्छा ! उस स्थान से मैं Degrade न हो जाऊँ तो अच्छा ! लोगों की नज़र में Degrade न हो जाऊँ तो अच्छा ! उस स्थान में मैरी बढ़ाती हो और लोग मुझे ज्यादा से ज्यादा अच्छा गिनते रहें, ऐसी इच्छा तो है ही । जीव की ऐसी स्थिति है, जिसे ज्ञानियों ने 'लोकसंज्ञा' कही है।

इस लोकसंज्ञा में अनंतानुबंधी के चारों कषाय निहित हैं, जो जीव को दुःख का, महादुःख का, अनंत दुःख का, अनंत परिभ्रमण का कारण है। यह बड़ी विपत्ति है। भीतर में स्वरूप का भान रहना (कि) जिसमें लोकसंज्ञा का अभाव है, इसके लिए यहाँ 'स्मरण' शब्द इस्तेमाल किया है। अंतर सावधानी जो है वह जीव की वास्तव में सच्ची संपत्ति है और वह लोकाग्र तक पहुँचने का मार्ग है। वह सिद्धपद में पहुँचने का मार्ग है। यहाँ तक रखते हैं।





‘अभिप्राय’ - यह तो जीव का जीवन हो जाता है -
उसका घर बन जाता है। अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे
जीवन-परिवर्तन सा लगता है। २१४.

प्रवचन - ९, दि. ११-४-१९८३

(परमागमसार, बोल) २१४। ‘‘अभिप्राय’ - यह तो जीव का जीवन हो जाता है...’ यानी कि ‘उसका घर बन जाता है।’ यह शब्द घरेलू है। Idiomatic है। ‘घर बन जाता है।’ जैसे रोग घर कर जाता है, उसके स्थान से हटता नहीं है; वैसे अभिप्राय अनुसार जीव का परिणमन घर कर लेता है।

कहते हैं कि रोज स्वाध्यायादि की प्रक्रिया का व्यवहार क्यों है ? कि अभिप्राय बदलने के लिए। पहले अभिप्राय बदलता है बाद में इसकी श्रद्धा बदलती है। क्योंकि अभिप्राय समझ व ज्ञानपूर्वक बदलता है फिर इसका फल श्रद्धागुण में आता है।

अतः ऐसा कहते हैं कि अभिप्राय तो जीव का जीवन हो जाता है और यह अभिप्राय है वह उसका पूर्वग्रह है। लोगों में ऐसा

नहीं कहते हैं कि, आप इन्हें क्या मानते हो ? इसके (लिए) मेरा ऐसा अभिप्राय है, यह मेरा मत है - (ऐसा हम कहते हैं)। अभिप्राय कहो - मत कहो - पूर्वग्रह कहो, (सब एकार्थ हैं)। उसने जिसके लिए ग्रहण करके नक्की किया कि यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है - तो वह उसका अभिप्राय हो गया न ! फिर उसी नज़र से उसे देखेगा। महान ज्ञानी और संत हो, परंतु यदि अभिप्राय ऐसा बना ले कि इसमें कुछ (नहीं है); फिर वे तिरने के लिए सोने जैसी (उत्तमोत्तम) बात करेंगे तो भी रुचेगी नहीं, उसका ध्यान नहीं जाएगा, लक्ष्य नहीं जाएगा, उन्हें समझ नहीं सकेगा। जबकि कोई अज्ञानी होगा, मिथ्यात्व को दृढ़ करता होगा लेकिन फिर भी उसमें महानता की कल्पना की हो ! कुलगुरु के विषय में ऐसा ही तो होता है - ये हमारे गुरु हैं इसलिए महान हैं ! फिर इनकी कोई भी बात बिलकुल साधारण होगी तो (भी) जीव को लगता है कि आहा...! क्या कहते हैं ये !! क्या कहते हैं, देखो तो सही ! ब्रह्म वाक्य लगेगा ! यह अभिप्राय इस प्रकार जीव में घर कर चुका है।

इसीलिए सर्व ज्ञानियों की मुमुक्षु के लिए प्रथम शिक्षा ऐसी है कि तमाम प्रकार के पूर्वग्रह छोड़कर या सरल भाषा में कहे तो एकदम कोरी पाटी (स्लेट) करके एक बार तुम सुनो ! हालाँकि कोरी पाटी होना इतना आसान नहीं है। पूर्वगृहीत बात को छोड़ना इतना आसान नहीं है। वह भी काफी पुरुषार्थ, भारी असमंजस व बहुत मंथन के बाद छूटती है। लेकिन जीव हलकापन महसूस कर सकता है। उस पूर्वग्रह के दौरान, अगर पूर्वग्रह की पकड़ थोड़ी ढीली हो, यानी कि कुतूहल और जिज्ञासा से थोड़ा अवकाश पैदा हो कि, चलो ! देखे तो सही क्या कहते हैं ? वे जो कहते

हैं वह ठीक है, सही है या गलत है ? यह जाँच तो करे ! ऐसा जानकर भी अपनी योग्यता की जाँच करें, लेकिन पूर्वग्रह छोड़कर ! - गलत ही कह रहे हैं, ऐसा मानकर नहीं (परंतु) निष्पक्षतापूर्वक यदि जाँच करें तो जरूर सत्य-असत्य का विवेक कर सके, इतना मिथ्याज्ञान होने पर भी अवकाश - जगह है।

इसी ग्रंथ में ('परमागमसार') पीछे एक बोल लिया है। १००७ देखो ! १००८ वाले आखरी बोल के पहलेवाला।

'जिज्ञासु जीव को सत्य का स्वीकार होने के लिए अंतर-विचार में...' क्या लिया ? यह अभिप्राय का स्थान है। अंतर विचार का स्थान है वह अभिप्राय का स्थान है। उसे खाली कर देना, ऐसा कहते हैं। जिज्ञासुजीव को यदि सत्य का अभिप्राय बनाना हो, देखो ! यहाँ दूसरी बात नहीं ली, जिज्ञासावान (जीव) ले लिया। उसे विशेषण दे दिया - 'जिज्ञासु'। उसे **'अंतर-विचार में सत्य समझने का अवकाश अवश्य रखना चाहिए।'** इस बात के पीछे क्या है ? ये तो गुरुदेवश्री प्रवचन करते थे तब ऐसे सूत्र निकल जाते ! उसे किसीने पकड़ लिया तो प्रसिद्ध हो गये !!

कहते हैं कि क्या तुझे सत्य मिल गया है ? एक (बात) नक्की कर तू ! परम सत्य तुझे उपलब्ध है ? प्राप्त है ? मिल चुका है ? नहीं भाई ! अभी तक तो मुझे परम सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है। यह बात तो स्पष्टरूप से एकरार करने जैसी है। तो अब एक काम कर तू ! भले ही तुझे नहीं मिला हो, तू एक काम कर भाई ! कि तेरे अंतर-विचार के स्थान में - अभिप्राय में 'यही सत्य है' वह पकड़ अभी छोड़ दे ! जब तक तुझे सत्य की अनुभूति न हो; अपरोक्ष, साक्षात्, प्रत्यक्ष अनुभूति न हो, तब तक अंतर-विचार के स्थान में सत्य के लिए तुम अवकाश जरूर

रखना, ऐसा कहते हैं। वरना कहीं न कहीं तू इतनी पकड़ में आ जाएगा, इतनी पकड़ में आ जाएगा कि फिर पता नहीं लगेगा। अनंत जन्म-मरण का अंत लाना हो तो परम सत्य जो है इसके लिए अभिप्राय में यानी कि अंतर-विचार के स्थान में इसे समझने के लिए अवकाश रखना चाहिए। है कि नहीं ? देखो कैसी-कैसी बातें आयी हैं !!

अनेक आगमों की सारभूत बातें ले ली हैं। इसे 'परमागमसार' नाम देने का यही कारण है। अनेक परमागमों पर (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा हुए प्रवचनोंमें से चुन-चुनकर ये सारे वचनामृत लिए हैं)। जंगल में रहकर देहातीत दशा में जिन आचार्यों व संतों ने कि जिन्हें आहार, कपड़ों की कोई परवाह नहीं ! दिगंबर हैं ! आहार के विषय में तो, महीने-महीने तक के उपवास हो जाये (तो भी) ध्यान न रहे कि खाया है या नहीं खाया ! कितने दिन से आहार नहीं लिया, यह भी ध्यान नहीं रहता है, ऐसी तो जिनकी दशा है !! ऐसे संतों ने - महात्माओं ने जंगल में रहकर सत्य को अक्षरदेह का रूप दिया, जिन्होंने अक्षरदेह प्रदान किया है। सत्य का यह अक्षरदेह है। इस पर गुरुदेवश्री जैसे समर्थ महात्मा ने जो प्रवचन किये, उसमें भी Total लगा-लगाकर जहाँ-जहाँ सिद्धांत सूत्र जैसी बातें लिखी हो उसे चुन-चुनकर ली हैं ! इतना लक्ष्य में रखा था। पूरे प्रवचन का कस (सत्त्व) कहाँ है ? एक प्रवचन में, एक गाथा के एक प्रवचन में सारे प्रवचन का कस कहाँ पड़ा है ? इसको पकड़ा है। इसीलिए तो विस्तारपूर्वक काफी बातें आयी हैं। ये सब सिद्धांत जैसी बातें हैं।

(कहते हैं कि) 'अभिप्राय - यह तो जीव का जीवन हो जाता है। ध्यान रहे भाई ! उस अनुसार तेरा जीवन (चलेगा) - अभिप्राय

अनुसार चलेगा। छोटी-बड़ी सब बात में, जिस-जिस विषय में जो अभिप्राय बना लिया, बस ! फिर उसके परिणाम की चाल उस पर आधारित है। बाहर में भी ऐसा ही नहीं होता ? कि घर जाना हो तो नक्की तो कर लिया कि घर जाना है, फिर बातें करता हुआ, इधर-उधर देखता हुआ, कैसे भी चले न ! वह घर ही पहुँचता है। क्या कारण है ? कितने ही विचार रास्ते में करेगा, हजारों लोगों का व वाहनों का Traffic रास्ते में मिलेगा, दो-चार व्यक्ति साथ में हो तो आपस में कई सारी बातें भी चलती होगी, फिर भी वह घर की दिशा में ही चलता है ! उसका अभिप्राय देखो क्या काम करता है ? एक सामान्य बाबत में भी निर्णय अनुसार, अभिप्राय अनुसार बिना विकल्प किये इतनी प्रवृत्ति होती है ! (वैसे यहाँ अगर) उसका परम सत्य का अभिप्राय बन जाये, परम सत्य उसके अभिप्राय में बस जाये तो उसकी परिणति असत्य को छोड़कर, असत्यरूप जन्म-मरण को भी छोड़कर उसे सिद्धालय तक पहुँचाती है ! इस तरह परम सत्य का स्थान वहाँ ऊपर है लेकिन इसका मूल यहाँ पड़ा है। जीव के इस सत्य अभिप्राय को शास्त्र की परिभाषा (में) सम्यग्दर्शन कहा गया है। जिसको सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान है उसका अभिप्राय Guaranteed (निश्चितरूप से) सत्य है। दूसरे की भूल संभवित है (कि) भाई ! यह तो जिसने शास्त्र पढ़ा हो वह ऐसा ही कहेगा न ! (परंतु) ऐसा नहीं चलता। उसका अभिप्राय (यथार्थ) बन जाना चाहिए। वरना जब तक ऐसी दशा प्रगट नहीं होती तब तक किसी भी जीव की गड़बड़ रहती है।

वह जीव का जीवन हो जाता है, अभिप्राय अंदर में घर कर जाता है फिर वह नक्की किया हुआ अभिप्राय जब बदलने का

प्रसंग आता है, तब उसे पूरा जीवन बदलना पड़ता हो ऐसा लगता है। आदमी व्यवसाय बदल नहीं सकता। लोहे का व्यापार करता हो उसे कहा जाये कि तू हीरा का व्यापार कर, तो कह देगा अपना काम नहीं, मैं नहीं कर पाऊँगा। क्या है कि, जीव को जो आदत हो चुकी हो (उसे छोड़कर) नया (करने का आये) तो पूरा बदलना पड़े ऐसा लगे। नया कुछ करने में पूरा बदलना पड़ता हो ऐसा लगे। यानी कि एक भव में दो भव करने जैसा लगे। (वह यही कहेगा) मुझे नहीं जमेगा। यहाँ तो अनादि से जीव को असत्य का अभिप्राय घर कर चुका है उसको छोड़ना है। उसे बदलना मतलब जीवन बदलने की नौबत (आयी हो ऐसा लगता) है।

परंतु जिसने ऐसा निश्चय किया है, जो कृतनिश्चयी हुआ है कि मुझे मेरा जीवन बदलना ही है। अभी यह जीवन जिस तरह चल रहा है वैसे नहीं जीना है, परंतु जीवन ऐसे जीना है कि जिसके फल में जन्म-मरण मिटे और जिसके फल में आत्मा की अनंत शांति हमेशा बनी रहे, शाश्वत रहे - ऐसा जीवन जीना है। ऐसा जिसने निर्णय कर लिया है, दृढ़ संकल्प कर लिया है, दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसके लिए वह अभिप्राय बदलना भी इतना कठिन नहीं है। वह आसानी से अभिप्राय बदल सकता है। एक न्याय से अभिप्राय बदलना कठिन है फिर भी किसी एक न्याय से अभिप्राय बदलना आसान भी है। दोनों बातें हैं।

जब वह खुद इसमें से हटना नहीं चाहता है, जो अभिप्राय उसने नक्की किया है उस अभिप्राय को बदलने का अभिप्राय नहीं है, अभिप्राय बदलने का अभिप्राय नहीं होगा तब वह ऐसा बहाना पकड़ेगा कि यह बदलना नामुमकिन है, यह नहीं हो सकता। इस

भव में तो ऐसा कोई फेरफार अब नहीं हो सकता। उसको अपनी अशक्ति की मुख्यता हो जाती है। मेरी ताकत से बाहर की बात है (ऐसा लगता है)।

जिसने ऐसा निश्चय किया कि, इस भव में जन्म-मरण का नाश करने का कारण-मार्ग मुझे मिल ही जाना चाहिए। वरना फिर चारगति में जीव के लिए कहीं भी जन्म-मरण के कारण को मिटाने का इतना अवकाश नहीं है, इतनी सुविधा नहीं है, इतनी शक्यता नहीं है, इतनी संभवितता नहीं है जितनी यहाँ पर है। मतलब यह अच्छा मौका है। जैसे व्यापार में प्राप्त मौका विचक्षण व्यापारी जाने नहीं देता है। जाने देगा क्या ? मिला हुआ मौका कोई छोड़ेगा ? कोई नहीं छोड़ता। मौका नहीं चुकता। वहाँ तो पूरा-पूरा लग जाता है। रात-रात भर जागना, खाना-पीना सब छोड़कर लग जाता है। वैसे यह मनुष्यपना है वह एक मौका है। जन्म-मरण मिटाना हो व परम सत्य को अंगीकार करना हो, अभिप्राय में पलटा खाना हो, उसके लिए विचार हेतु बुद्धि की मध्यस्थता ज्ञान की मध्यस्थता व राग-द्वेष का मर्यादित प्रवाह इस (मनुष्य)गति में होने से यहाँ परिस्थिति विशेष सुविधायुक्त है।

इसलिए अगर जीव निर्णय कर ले कि मुझे यह कार्य करना ही है, तो अभिप्राय बदलना आसान है वरना अभिप्राय बदलना इतना ही कठिन भी है। ऐसे दोनों न्याय लागू होते हैं (विशेष कल के स्वाध्याय में लेंगे)।



परमागमसार, पत्रा : ४१, २१४ नंबर का बोल चलता है।
बोल का विषय अभिप्राय संबंधित है।

जीव कोई न कोई अभिप्राय ग्रहण करके बैठा है और उसका जो अभिप्राय है उस अभिप्राय आधारित उसका शेष परिणमन चलता है। हालाँकि अभिप्राय में भी अनेकविध विषयक अभिप्राय है फिर भी यहाँ मूल विषय लेना चाहिए कि, मूल में अपने विषय में और पर के विषय में अभिप्राय क्या है ?

जो भी गड़बड़ है वह अपने स्वरूप को अन्यथा प्रकार से अभिप्राय में रखने से है। जैसे कि, मैं मनुष्य हूँ और मनुष्योचित मेरे फ़र्ज मुझे अदा करने चाहिए। (जब कि) अभिप्राय में ऐसा होना चाहिए कि मैं एक आत्मा हूँ और आत्मा के लिए जो उचित परिणाम हैं, आत्मा के लिए जो उचित व्यवहार है, तद् अनुरूप मेरा जीवन व परिणमन होना चाहिए। वैसे मनुष्योचित व्यवहार होना चाहिए और मानवधर्म को समझना चाहिए - यह कहना सर्वसाधारण जीव के लिए बहुत अनुकूल पड़ता है और लगता है कि बात अच्छी है। परंतु वास्तव में परमार्थ के प्रकरण में यह बात प्रतिकूल है। अनुकूल तो नहीं बल्कि प्रतिकूल है। भले ही उसमें सत्कार्य करने का विषय चलता हो किन्तु मूल में विपरीत अभिप्राय (गाढ़ होता

है) कि मैं मनुष्य हूँ. मैं मनुष्य हूँ.. मैं मनुष्य हूँ। मैं आत्मा हूँ इसके बजाय मैं मनुष्य हूँ यह चलता है।

(यहाँ) कहते हैं कि (अभिप्राय) है वह जीव का जीवन है। अभिप्राय - यह जीव का जीवन है ऐसा इसलिए कहा क्योंकि अभिप्राय अनुसार उसका जीवन चलता है। इस सिद्धांत अनुसार परिणाम नियमित हुए हैं, बंधे हुए हैं। अभिप्राय अनुसार परिणाम का होना सहज है। व्यक्तिविशेष में यह बात देखी जा सकती है कि कोई भी व्यक्ति संबंधित जो अभिप्राय बना रखा हो तदनुसार उस व्यक्ति के हरएक कार्य को मूल्य और तुल्य दिया जाता है। फिर वह अभिप्राय अगर गलत होगा तो उसका देखना सब गलत है, सारा अवलोकन गलत है। अगर अभिप्राय सही होगा तो उसका देखना या अवलोकन करना सब सही होगा। इस तरह सत्य-असत्य के (भेद) पड़ते हैं। अतः मूल में अभिप्राय ठीक करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में एक दृष्टांत दिया है कि, चोर चोरी करता है तब उसे इतना विचार तो जरूर आता है कि यह चोरी नहीं करनी चाहिए। चोरी करूँगा व पकड़ा गया तो राजा या राज्य की ओर से दंड मिलेगा। परंतु जब तक वह चोरी करने का अभिप्राय बदल नहीं लेता तब तक शायद भयवशात्, राज्य के भयवशात् चोरी करना बंद भी कर ले तो भी वह कब चोरी कर लेगा, कुछ कह नहीं सकते। उसने चोरी करना जरूरी है, मेरे लिए तो चोरी करना जरूरी है, मेरी आवश्यकता है, करनी ही चाहिए - ऐसा अभिप्राय जो नक्की कर रखा है इसमें राज्य के भयवशात् क्षणिक - थोड़े काल तक वह रोक लगा पाएगा, लेकिन मौका मिलते ही वैसे परिणाम किये बिना रहेगा नहीं। अभिप्राय

का विषय प्रवृत्ति से विरुद्ध हो तो भी प्रवृत्ति को न देखते हुए अभिप्राय को देखना चाहिए।

लौकिक व्यवहार में भी विचक्षण लोग पहले ऐसा नाप लगाते हैं कि भाई, वह क्या कहता है ? क्या बोल रहा है ? कैसे वर्तता है ? यह मत देखो। उसका भीतर में अभिप्राय क्या पड़ा है ? यह देख लो, फिर दिक्कत नहीं है। (वैसे) अभिप्राय को पहले देख लेना पड़ता है। फिर सामनेवाले के अनुकूल-प्रतिकूल रुख का सही अंदाजा लगता है, वरना गलत रास्ते पर चढ़ना हो जाएगा। यह एकदम स्वाभाविक है।

अतः यदि अभिप्राय सम्यक् हो (अर्थात्) अपने स्वरूप विषयक खुद का सही अभिप्राय बने, तो वैसा जीवन उसका बनता है और वह अभिप्राय फिर घर कर लेता है यानी कि उतना मूलमें से परिणमन (बदलता है)। सिर्फ ऊपर-ऊपर से (नहीं बदलता, परंतु) अभिप्रायपूर्वक जो परिणमन है वह मूलमें से बदलता है। अभिप्राय बिना परिणमन ऊपर-ऊपर से बदलता है। ऊपर-ऊपर से जो परिणमन चलता है उससे कोई संतोषकारक फल नहीं आता। इसमें शक्ति नहीं होती है, ऊपर-ऊपर के कार्य में कोई शक्ति नहीं होती है।

(अब कहते हैं) **'अभिप्राय-परिवर्तन तो उसे जीवन-परिवर्तन सा लगता है।'** जीव को उलटा अभिप्राय जो अनादि से है उसे बदलने में बहुत शक्ति की जरूरत पड़ती है। अभिप्राय बदलने में बहुत मंथन चलता है। खुद ने जो कुछ पकड़ रखा है, सोच रखा है, मान रखा है तदनुसार उसका अभिप्राय जो घर कर चुका है, इसमें फेरफार करने में, इसके विरुद्ध जाने में जीव को तकलीफ़ होती है। पूरा जीवन परिवर्तन करना हो ऐसी परिस्थिति होती है।

या ऐसा कहे कि, जिस जीव का अभिप्राय बदलता है उसका

अभिप्राय वास्तव में बहुत मंथनपूर्वक बदलता है। 'आपने कहा इसलिए मैंने मान लिया, चलो अब से ऐसा मानेंगे' ऐसे इतनी जल्दी से अभिप्राय नहीं बदलता। उसमें तो पूरा भविष्य का जीवन अर्थात् परिणामन बदलने जैसा है और वह बदल भी जाता है। अगर अभिप्राय पलटे तो जीवन पलट जाये। परंतु जैसे जीवन बदलना उतना आसान नहीं है (वैसे अभिप्राय बदलना भी आसान नहीं है)। एक सामान्य कार्यपद्धति का तरीका बदलना हो तो भी आदमी बदल नहीं सकता है। यह तो देखा जाता है कि नहीं ? (कोई कहे कि) भाई ! आप ऐसे कर रहे हो, लेकिन इसी कार्य को हमलोग इस प्रकार करते हैं। आपकी पद्धति से हमारी पद्धति अच्छी है' तो ये कहेगा, आपका हाथ बैठ गया होगा, हम तो नहीं कर सकते।

अभिप्राय में ऐसा है कि आदमी को मध्यस्थता जब आती है तब उसमें पकड़ नहीं होती। मध्यस्थता में उतना ही लक्ष्य उसने रखा है कि जो योग्य है, जो अच्छा है, सच्चा है इतना ही ग्रहण करना है। जो अयोग्य है, गलत है, उसे छोड़ने में मुझे बिलकुल हर्ज नहीं होना चाहिए। मुझे इसमें तनिक-सी भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। यह सब सोचकर रखना चाहिए। इस तरह क्या करना है, क्या नहीं करना है ? इसका एक मूलभूत अभिप्राय बना लेना जरूरी है। फिर जब भी कोई फेरफार करना आवश्यक होगा, तब पकड़ नहीं होगी, जिद नहीं होगी, हठ नहीं होगा; परंतु सरलता रहेगी कि, ठीक है यह बात योग्य है, ऐसा कर लेते हैं। यह बात योग्य लगती है तो अब ऐसा ही करें वरना जीव को पकड़ हो जाती है - ऐसा नहीं, ऐसे ही करना चाहिए। आपकी बात भले ही ठीक होगी, परंतु मैं जो कहता हूँ इससे कोई खास फ़र्क नहीं पड़ेगा इसलिए मैं जो कहता हूँ वैसा ही करना चाहिए। ऐसे

कोई न कोई, कोई न कोई असरलता के परिणाम होते ही रहते हैं। यह एक परिस्थिति है।

प्रश्न :- ऐसे कोई प्रसंग बने ही न हो तो कैसे नक्की करना ?

समाधान :- वास्तव में क्या है कि पूर्वकर्म अनुसार चित्र-विचित्र प्रकार के जो उदय है वह उपस्थित हुए बिना नहीं रहते। पूर्वकर्म अनुसार किसी भी उदय का आना हो, यह जीव के हाथ की बाज़ी नहीं है। बाहर में कैसे-कैसे संयोग-वियोग होंगे, किस प्रकार के प्रसंगों का उदयमान होना, यह कोई जीव के अधिकार की बात तो है नहीं। अब विवेक तो जीव को इतना ही करना है कि इसमें योग्य क्या है ? और अयोग्य क्या है ? सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ? बस ! निर्दोष होना है न ! आखिर में तो खुद को निर्दोष होना है। तो उसका पूरा झुकाव निर्दोषता के प्रति होना चाहिए न ? फिर कोई तकलीफ नहीं है। फिर सरलता भी आ जाएगी, असरलता नहीं रहेगी। ऐसा है।

दूसरा क्या है कि, आत्मा को परिणाम में जो शुद्धि का प्रयोजन है उस शुद्धि के साथ कितना संबंध है ? यानी कि प्रयोजन को कोई भी बात कितना स्पर्श करती है ? (बाह्य) प्रसंग का प्रयोजन के साथ कितना नाता है ? यथार्थ लक्ष्य के साथ जीव को इसका अंदाजा रहता है। अतः उस पर से वह मूल्यांकन करता है, उस पर इसकी छूट का आधार है। जो Adjustment करना रहता है वह इस मूल कीमत को कायम रखने के बाद है। इसलिए फिर तो कहीं भी उसे तकलीफ नहीं होती है।

यहाँ क्या है कि, धर्म का विषय है और धार्मिक क्षेत्र में, धार्मिक विषय में भी इस जीव ने अनेक प्रकार के पूर्व में अभिप्राय बना रखे हैं। बिलकुल कोरी पाटीवाला तो कोई नहीं है। किसी भी

संप्रदाय में जीव का जन्म होना इसका मतलब ही यही है कि उस संप्रदाय की अनुमोदना के परिणाम उसने पहले किये हैं। जैसे कि हमारा खुद का दृष्टांत लेते वैष्णव में जन्म हुआ, तो वह जो धर्म चलता है वह ठीक है, बराबर है, योग्य है, कर्तव्य है - ऐसे परिणाम किये बिना वैसा कर्मबंधन और इसका फल आ गया हो, वैसा नहीं बनता। वर्तमान स्थिति पूर्वकृत भूल को प्रसिद्ध करती है, जाहिर करती है। जो वर्तमान फल है, जो कुछ भी अभी बन रहा है वह पूर्व में किस प्रकार की भूल, किस प्रकार का दोष किया था, उसे साबित करता है और वह जाहिर-प्रदर्शित होता है कि पूर्व में ऐसी भूल हुई थी जिसका यह फल है। हकीकत तो ऐसी है। अब, अभिप्राय तो इसके साथ है ही। इतना बड़ा फल आया हो, तब अभिप्राय नहीं है सो बात नहीं है। जब पूरा भव किसी एक संप्रदाय में जन्म से ही मिलता है तो उसवक्त अभिप्राय तदनुसार नहीं हो, सो बात नहीं है। अब यदि इस पूरे अभिप्राय को बदलना हो, सम्यक् अभिप्राय बनाना हो, तब पूरा जीवन बदलने जैसा कार्य, इतना बड़ा कार्य करना होता है। तब बहुत ही मंथन चलने के पश्चात् जीव का अभिप्राय बदलता है, इसके पहले अभिप्राय नहीं पलटता।

अभिप्राय - यह विचार और मंथन से संबंधित एक निश्चित हुआ निर्णय का प्रकार है, और इस निर्णय और मान्यता को निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जैसा अभिप्राय है वैसी उसकी मान्यता है, वैसा उसका मत है। वास्तव में ऐसा है। अतः ज्ञान और श्रद्धा को ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। मुख्य प्रवृत्ति ज्ञान द्वारा होती है और इसमें परिवर्तन भी ज्ञान द्वारा ही होता है। अतः जिसको श्रद्धा बदलनी है, श्रद्धा में परिवर्तन जिसको लाना है उसकी श्रद्धा

अभिप्रायपूर्वक बदलेगी, ऐसा कहते हैं। उसका जीवन तब बदलेगा जब अभिप्राय बदलेगा, वरना जीवन नहीं बदलेगा। इस दृष्टिकोण से यह बहुत ही मुद्दे का विषय है।

अभिप्राय का विषय मुद्दे का विषय है। हमें जाँच यह करनी है कि अभिप्राय में फ़र्क पड़ा है कि नहीं ? स्व और पर दोनों को बराबर नक्की करने के लिए अभिप्राय को लक्ष्य में लेना चाहिए कि अभिप्राय में क्या पड़ा है ? बस ! तद्नुसार कार्य होगा। दूसरे प्रकार से कार्य नहीं होगा।

प्रश्न :- अभिप्राय तो अनुकूलता प्राप्त करने का और प्रतिकूलता न रहे, ऐसा अभिप्राय है !

समाधान :- अभिप्राय अनुकूलता प्राप्ति का होगा तो फिर उस अनुकूलता प्राप्त करने के लिए चाहे कुछ भी क्यों न करना पड़े ! यह परिस्थिति आकर खड़ी रहेगी। अभिप्राय में ऐसा है कि सर्व प्रकार से मुझे अनुकूलता रहो। सर्व प्रकार से अनुकूलता रहो, (यह अभिप्रायवाला) अनुकूलता के लिए क्या-क्या नहीं करेगा ? सब करेगा। परंतु यह अनुकूलताएँ वास्तव में अनुकूलताएँ हैं कि नहीं ? यह विचार कर्त्तव्य है।

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि कोई भी पदार्थ तुझे अनुकूल नहीं है। कोई भी पदार्थ की कोई भी पर्याय तुझे प्रतिकूल नहीं है। फिर भी कुछएक पदार्थ के प्रति कभी तू अनुकूलता का आरोप करता है तो कुछएक पदार्थ के प्रति तू प्रतिकूलता का आरोप लगाता है - वह तेरी कल्पना मात्र है और वह कल्पना ही है, इस वास्तविकता की तू जाँच कर ले। तुझे जाँच तो इतनी ही करनी है कि क्या वह कल्पना है ? या इसमें कोई वास्तविकता भी है ? अगर जाँच करने पर तुझे ऐसा लगे कि कहनेवाले ने

सही कहा है, मेरा अभिप्राय जो अनादि से था वह गलत-झूठा था, तो फिर जहाँ-जहाँ इष्ट-अनिष्टपना होगा, परपदार्थ के संयोग-वियोग के काल में जब-जब इष्ट-अनिष्टपना होगा, हर्ष-शोक होगा, तब अगर जीव का अभिप्राय पलट गया होगा तो ज्ञान जरूर हाज़िर होगा कि, यह परिणामन मेरे अभिप्राय से विरुद्ध चलता है। परिणामन का इस प्रकार चलना ठीक नहीं है।

अभिप्राय पलटे बिना भले ही शास्त्र की धारणा हो चुकी हो, परंतु पुराना अभिप्राय जो है (वह) यूँ ही चलता हो, तो उदय में इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेष, हर्ष-शोक के परिणाम तन्मयतापूर्वक - पूरा-पूरा एकाकार होकर करेगा, तब तो जागृति रहेगी नहीं और बाद में पूरा विचार जो करेगा वह शास्त्र के अनुसार करेगा कि 'परपदार्थ है वह भिन्न है, इसमें अनुकूलता - प्रतिकूलता जैसा कुछ नहीं है, आत्मा ज्ञायक है, वह तो जाननेवाला तत्त्व है।' लेकिन अभिप्राय पलटे नहीं तब तक वह परिणाम बिलकुल कार्यकारी नहीं होते। मूल में अभिप्राय बदल जाना चाहिए। ये सब तो सूत्र जैसी बातें हैं। टुकड़ा है छोटा लेकिन सूत्र जैसी बात है !

जीव परिणाम तो देखते हैं कभी-सभी (कि) ये ऐसे परिणाम हुए, ये ऐसे परिणाम हुए, इस परिणाम में ऐसा हुआ, (परंतु) ऐसे नहीं। ऐसे परिणाम होने के पीछे जीव का अभिप्राय क्या था ? यह बात का पुनः पुनः विचारकर, मंथन में लेकर, जीव को विपरीत अभिप्राय तोड़ देना चाहिए, विपरीत अभिप्राय बदलना चाहिए और वह भी बहुत मंथनपूर्वक बदलना होता है।

श्रद्धा का पूरा पलटना इस अभिप्राय के बदलावपूर्वक होता है। अतः पूर्व की श्रद्धा तोड़ने का कार्य भी होता है। जब पूर्व की श्रद्धा टूटती है तब उसके पीछे दिया हुआ उलटा बल भी टूटता

है। उलटी दिशा में जो बल जाता है वह भी टूटता है। तब थोड़ा ऐसा भी लगता है कि यह कठिन है, जोर लगता है, अंदर में परिश्रम महसूस होता हो ऐसा लगे, लेकिन भले ही परिश्रम व जोर लगे - उसे दर्शनपरिषह कहा है। शास्त्र में उसे 'दर्शनपरिषह' कहा है। भीतर में श्रद्धा को बदलना भले ही विकट लगे, लेकिन अगर खुद के आत्मा को तारना हो तो बराबर दृढ़ संकल्पपूर्वक जीव को आगे बढ़ना चाहिए।

यह जो विचार है न ! प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समागम संबंधित ? (उस विषय में) एक विचार आया था कि सामान्यरूप से जीव की अनादि से विपरीत अभिप्रायपूर्वक बुद्धि काम कर रही है, वह बुद्धि तीव्र जिज्ञासा व तीव्र आत्महित की लगन हो तब कुछ अंश में मध्यस्थता धारण करती है। यह इसके अंतरंग परिणाम का विषय हुआ। बाहर में किसी सत्पुरुष का योग हो व उनके प्रति अहोभाव जागृत हो कि, अरे...! ये जो कुछ कहेंगे इसमें से मुझे यदि कुछ ग्रहण हुआ, वे जो कहना चाहते हैं वह यदि मैंने ग्रहण कर लिया तो भी मेरा हित होने का यह एक असाधारण प्रसंग है ! वहाँ भी यही प्रकार बनता है। ज्ञान में - बुद्धि में जो विपर्यास है वह कम हो इसका यह एक महत्त्व का पहलू है। इसी वजह से शास्त्र में सत्पुरुष की विशेष-विशेष महिमा मुमुक्षु को बतलाई गई है। यह एक प्रकार है कि जहाँ सहज ऐसा बनता है। अपूर्व लगन व अपूर्व जिज्ञासा में आने से भी यह ज्यादा सरल प्रकार है, ऐसा जानकर भी मुमुक्षु को अंगुली-निर्देश किया जाता है कि तू सत्समागम कर ! सत्समागम कर ! यह भी एक प्रकार है। क्योंकि विपर्यास अनादि से है। यह ज्ञान का विपर्यास जो (है, वह) वस्तु का अन्यथा अवधारण करता है, अन्यथा कल्पना कर लेता है। परिस्थिति थोड़ी ऐसी

है।

एक एकदम दरिद्र आदमी हो वह जल्दी से करोड़पति कहाँ से होगा ? ऊँगली फटकर खंभा थोड़ी हो जाएगा ? ऐसा कहते हैं कि नहीं ? लौकिक में ऐसा कहते हैं। भाई ! एकदम बिलकुल निराधार आदमी है, उसको किसीका आधार नहीं, जिसकी इतनी दरिद्रता हो वह करोड़पति कैसे हो ? तो कहते हैं कि वह यदि पहले थोड़ा परिश्रम करके १०-२० हजार कमा ले फिर चाहे वह करोड़ रुपया कमाने का साहस करना चाहे तो थोड़ी आसानी रहेगी, कुछ आधार मिलता है। बिलकुल खाली आदमी कैसे बड़ा साहस करेगा ? यह इसकी Practical side है कि जिसको थोड़ी शक्ति आयी, १०-२० हजार कमा लिया, फिर वह बड़ा साहस कर सकता है।

वैसे यहाँ जीव अनादि से विपरीत चल रहा है। राग की एकत्वबुद्धि और शरीर की - देह की एकत्वबुद्धि इतनी गाढ़ है कि उसका ज्ञान जो भी ज्ञेयों में जाता है विपरीतता धारण करता है। इष्ट-अनिष्टपने की ही कल्पना करता है। जानते ही ठीक है या अठीक, ठीक है या अठीक है - ऐसा भाव चल जाता है। अब तत्त्व के विषय में प्रवेश करने के बावजूद भी जीव अयथार्थ धारणा कब नहीं करेगा ? अन्यथा कल्पना कब नहीं करेगा ? और पदार्थ जैसा कहना चाहते हैं ऐसा ही कहनेवाले का आशय पकड़कर यथार्थ समझ कर लेगा ? ऐसी स्थिति कब जीव की होगी ? कि या तो वह किसी सत्पुरुष के शरण में रह जाये या किसी अपूर्व जिज्ञासापूर्वक इस विषय को, पूरी लगन के साथ समझने के लिए तैयार हो जायेगा तब। तब ज्ञान का अनादि विपर्यास थोड़ा पतला होता है।


ज्ञान में शक्ति बहुत है। ज्ञान में इतनी शक्ति है कि इसका रोज़-बरोज़ के व्यवहार में यदि पृथक्करण किया जाये तो भी उसे खयाल आयेगा कि ज्ञान में शक्ति बहुत है। इस (ज्ञान) पर से जैसे ही विपरीत अभिप्राय की पकड़ ढीली हो; क्योंकि वह एकदम दब गया है, जैसे ही यह दबाव थोड़ा कम हो; विपरीतता का दबाव थोड़ा कम हो, तो भी ज्ञान निजहित को समझने में, निजप्रयोजन को समझने में ठीक-ठीक प्रकार से अथवा पर्याप्त प्रकार से समर्थ हो जाता है। पर्याप्तरूप से जीव में अपने प्रयोजन को पकड़ने की समर्थता व योग्यता आती है। इसलिए इस विषय को भी वहाँ महत्त्व दिया गया है। बहुत ही रहस्यमय विषय है।


कहते हैं कि इस प्रकार अभिप्राय बदलना चाहिए और जीवन बदलना चाहिए। यह २१४ समाप्त हुआ।




निजावलोकनरूप प्रयोगका, परलक्ष मिटानेके लिए और स्वलक्ष प्राप्त होनेके हेतुसे अनुभवी महात्माओंने बोध दिया है। उसमें प्रगट भावोंके अवलोकनके अभ्यास द्वारा, स्वभावके अवलोकन तक ले जानेका आशय है। मुमुक्षुजीवको इस प्रकारसे मार्ग तक पहुँचनेका प्रयास कर्तव्य है।


- पूज्य भाईश्री (अनुभवसंजीवनी - ९१९)









जिसने बाहर में किसी राग में - 'संयोग में-क्षेत्र
 में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में - क्षेत्र
 में - काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहां रुककर
 समय गंवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया
 है।' २१६.







प्रवचन - ११, दि. १२-४-१९८३

(परमागमसार, बोल) २१६। 'जिसने बाहर में किसी राग में - 'संयोग में-क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में - क्षेत्र में - काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहां रुककर समय गंवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।' थोड़ी मार्मिक भाषा है। क्या कहते हैं ? कि जीव समय गवाँ लेता है। देवलोक में बहुत बड़े-बड़े आयुष्य हैं। हलकी से हलकी जाति के जो व्यंतरदेव होते हैं उसका आयुष्य कम से कम दस हजार साल का होता है। वहाँ अघाति की स्थिति ही लंबी बंधती है। कषाय की मंदता

में और तीव्रता - में दोनों में अघातिकर्म की स्थिति लंबी होती है। नीचे नरक में जाये तो वहाँ बड़ा लंबा आयुष्य और ऊपर देव में जाये तो वहाँ भी लंबा आयुष्य !

पहली नरक की पहली पृथ्वी में जघन्य आयुष्यधारक नारकियों की स्थिति दस हज़ार वर्ष की होती है। इससे कम आयुष्य किसी का नहीं होता। परंतु इन दोनों क्षेत्र में जानेवाले जीवों की यह स्थिति जो है वह अघातिकर्म की है। आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय इसमें नाम, गोत्र और वेदनीय तीनों आयुष्य के अनुपात में चालु रहते हैं। आयुष्य मुख्य प्रकृति है, अन्य तीनों इसके साथ रहती हैं।

कहते हैं कि बाहर में जो देवलोक का देव है उसका हज़ारों साल का (आयुष्य होता है)। (ऊपर जो कहा) वह तो कम से कम दस हज़ार वर्ष है। फिर तो वहाँ पत्योपम और सागरोपम के आयुष्य है ! वह जो सागरों के लंबे आयुष्य हैं वह कैसे पूरे हो जाते हैं ? कि उसे विश्राम मिल गया। उसको ऐसा लगा कि यह सब मुझे ठीक है, बहुत अच्छा है, मुझे यह सब अनुकूल है। ऐसे जब अनुकूलता में जीव विश्राम करता है, तब (उसमें) कितना काल चला गया यह पता नहीं चलता ! वहां एक नाटक चले तो उसको पूरा होने में सैकड़ों-हज़ारों साल निकल जाते हैं। नाचना-गाना और अनेक प्रकार (के मनोरंजन), क्योंकि वहाँ उन्हें कोई आहार-निहार का प्रसंग तो है नहीं। अतः उसमें ही समय बीत जाता है। कषाय की मंदता में समय का व्यतीत होना, निर्गमन होना बहुत आसानी से होता है। इससे उलटा कषाय की तीव्रता में समय निकालना मुश्किल लगता है। नरक में एक-एक क्षण बीताना बहुत विकट लगता है। ऊपर (देवलोक में) हज़ारों वर्ष कहाँ

बीत गये इसका ध्यान तक नहीं रहता। क्योंकि वहाँ (नरक में) कषाय की तीव्रता रहती है और यहाँ (स्वर्ग में) कषाय की मंदता रहती है।

अब इसी नज़र से यहाँ भी देखे तो मनुष्य जीवन में, यदि बाहर में ज्यादा प्रतिकूलताएँ न हो परंतु साधारणतया मनुष्योचित व्यवहार आसानी से चले ऐसी व्यवस्था, पूर्व पुण्य के उदयवश हो चुकी हो तो उसमें जिंदगी कैसे बीत गई पता नहीं चलता। ऐसा कहेगा - कितने वर्ष बीत गये पता ही नहीं चला ! ऐसा कहते हैं कि नहीं ? कहाँ वर्ष बीत गया और कहाँ दिन बीतते गये पता ही नहीं रहता है, इसका मतलब क्या हुआ ?

प्रश्न :- समय सापेक्ष है ?

समाधान :- नहीं, यहाँ Point इतना ही लेना है कि जीव विश्राम में समय गवाँता है। विश्राम में उसे आसरा मिल जाता है, जैसे मुझे तो यहाँ ठीक लगता है ! फिर वहाँ से चलने की बारी जब आती है - आयुष्य पूरा होने पर जीव को इसका प्रत्याघात आता है। पता चले कि शरीर की प्रकृति कोई असाधारणरूप से काम करती है, कभी ऐसी गड़बड़ी होगी कि आयुष्य पूरा हो जाएगा। ऐसा बड़ा फेरफार दिखते ही सीधा आघात उत्पन्न हो जाता है कि अरे...! (ये क्या) ? ऐसा आघात क्यों लगा ? क्योंकि वह विश्राम मानकर बेफिक्र था इसलिए आघात लगा। घर ठीक है, कुटुंब ठीक है, सगे-संबंधी ठीक हैं, बाहर की अनुकूलताएँ जरूरत के मुताबिक ठीक हैं। हालाँकि इसमें कोई न कोई आपत्ति तो होती ही है इस काल में। या घर में होगी या सगे-संबंधियों में होगी, या कोई दूसरी या सरकार की होगी। परंतु फिर भी जीव, संतोष मानकर कहीं न कहीं विश्राम करता है। सब अनुकूल न हो तो

जितना अनुकूल होगा उसमें ठीकपने की कल्पना करके (रुकता है) कि इतना तो ठीक है ! इसमें तो उपाधि नहीं है। इस प्रकार की उपाधि तो कम से कम नहीं है। ऐसा जानकर वहाँ विश्राम करता है, ऐसा कहते हैं। यह थोड़ी मार्मिक बात है।

‘कुछ ठीक सा मानकर,) वहाँ रुककर समय गँवाया है।’ ऐसा कहते हैं। समय लिया न ? उसका समय वहाँ जल्दी पसार हो जाता है। वहाँ उसे रस आता है। जीव को जहाँ रस आये वहाँ समय का - काल का निर्गमन कितना हो गया इसका खयाल नहीं रहता और काल व्यतीत हो जाये इसका खयाल नहीं रहता, यह जीव को रस आया है इसका लक्षण है। ऐसा आमने-सामने है।

इसीलिए ऐसा कहते हैं कि आत्मा को छोड़कर किसी एक प्रकार के राग में (अर्थात्) मुझे ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना चाहता हूँ, ऐसे-ऐसे अनेकविध प्रकार के रागादि भाव होते हैं उसमें जीव को रस है, ऐसा कहते हैं। तो वहाँ उसका विश्राम है।

अमुक प्रकार के संयोग मेरे बने रहे, इतने संयोग तो मेरे बने रहे, इतने लोग इतने-इतने प्रकार से अनुकूल ऐसा जो कुछ जीव को (लगता है) उसने संयोग में विश्राम लिया है कि यह ठीक है ! बस ! बात पूरी हो गई। उसने वहाँ काल गँवाया।

यह क्षेत्र मेरे लिए अच्छा है, भावनगर जैसा कोई नहीं, दूसरी जगह हमें तो नहीं जमता। भावनगर में भी जिस गली व Area (मोहल्ला) में रहता हो उसमें ही अच्छा लगे, अन्य कहीं भी नहीं। ऐसी परिस्थिति हो जाती है। घर बदलना पड़े तो भी नहीं सुहाता। घर में बिस्तर बदलना पड़े या Room (कमरा) बदलना पड़े तो

भी नहीं अच्छा लगता। अरे ! नींद तक नहीं आती ! ऐसी अनेक प्रकार की बूरी आदतें बन चुकी हैं जीव की ! उसने जो जमाया है इसकी चुनाईमें से एक ईंट इधर-उधर हो जाये, या एक कील इधर-उधर हो जाये तो उसका आत्मा पूरा इधर से उधर हो जाता है !! (यहाँ) कहते हैं कि ये सारे रूकावट के स्थान नक्की कर रखे हैं। फँस गया ! पूरा-पूरा इसीमें फँस गया, ऐसा कहते हैं। उसमें ही वह फँस गया है !

मुमुक्षु की तो ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि चाहे कैसे भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हो, मुझे नहीं चलेगा या नहीं जमेगा यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह चाहिए ही और इसके बिना नहीं चलेगा, यह बात होनी ही नहीं चाहिए, वरना फँसना हो जाएगा। वह जो फँस गया है वहाँ से निकलना मुश्किल है, ऐसा है।

इसमें जीव सोच कैसे लेता है (कि) इतना होना तो एकदम सामान्य (है), ऐसा तो होना संभव है ही ! क्योंकि हम कहाँ वीतराग हो चुके हैं ? अभी तो हम घर-गृहस्थीवाले संसारी हैं, फल्लौ हैं, इतना होगा ही, ऐसा मानकर दोष का बचाव करने जैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि इसमें तो तेरा पूरा आत्मा ही धोखा खा गया। तुने अपनेआप को धोखा दे दिया। कैसा धोखा दे दिया ? कि तेरा सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान उसमें चोरी हो गया ! ठगाई होना मतलब चोरी हो जाना। अगर सम्यग्दर्शन नहीं होगा तो केवलज्ञान नहीं होगा। नुकसान तो केवलज्ञान तक का है ! ऐसा है वास्तव में तो। सामान्य नुकसान नहीं है। अतः मुझे ऐसा नहीं चलेगा और मुझे ऐसे संयोग चाहिए, ऐसे क्षेत्र चाहिए, मुझे तो ऐसा राग नहीं करना है परंतु वैसा राग करना है - यह सब बातें होनी ही नहीं चाहिए। ऐसा है।

कब परिणाम हरजगह से समेटकर आत्मा में ला सकते हैं या आ सकते हैं ? कि ऐसे-ऐसे प्रकार में कहीं रुक न जाये तो। परंतु अगर कहीं भी विश्राम कर लिया कि, जैसे यह घर, यह कुटुंब, यह राग और यह संयोग और क्षेत्र, यह गाँव और यह मोहल्ला, यह Room ! कहते हैं कि इसमें अगर तुझे विश्राम है तो तेरा पूरा आत्मा वहाँ धोखा खा गया है ! तेरा आत्महित वहाँ चोरी हो गया व तुने उसे लुटा दिया जिसका तुझे खयाल तक नहीं रहता है !!

यह तो गुरुदेव जैसे महापुरुष ने बहुत मंथनपूर्वक सब प्रसिद्ध किया है। कितना-कितना मंथन किया ! जिसका यह दोहन है।

मुमुक्षु :- महान उपकार है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अवश्य ! जीव को एक-एक जगह से खींचकर निकाला है जैसे देख ! यहाँ मत फँसना, तू यहाँ मत फँसना, यहाँ भी मत फँसना। कोई भी राग में ठीकपना मत मानना। आखिर में राग तो राग ही है, जिसकी कोई कीमत नहीं है। कहीं भी फँसने नहीं दिया जीव को ! ऐसा ही कोई उपदेश है !! आत्महित का उपदेश चारों तरफ से आत्मा को अंतर में ले आये, ऐसा उपदेश है।

कहते हैं कि किसी भी राग में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)। संयोग-वियोग तो राग का फल है। क्षेत्र का संयोग-वियोग यह भी रागादि भावों का फल है। किसी भी जीव में, किसी भी अजीव में यानी कि किसी भी द्रव्य में, किसी भी क्षेत्र में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)।

ये मुनि जो हैं वे एक क्षेत्र में नहीं रहते हैं न ! कोई मुनि एक क्षेत्र में विहार दौरान स्थिर नहीं रहते। इसके पीछे क्या कारण

है ? क्योंकि मुनियों को किसी भी क्षेत्र का इतना राग नहीं होता कि अब यह क्षेत्र ठीक है। लेकिन क्या ऐसा नहीं होना चाहिए कि जहाँ धर्मी बसते हो वहाँ मुनि रहे तो अच्छा, क्योंकि धर्मप्रभावना बढ़ेगी, क्या मुनियों के अभिप्राय में - विचार में ऐसा नहीं होगा ? जहाँ धर्मी जीव ज्यादा हो, धर्म की भावनावाले जीव ज्यादा हो, उन साधर्मियों को उपदेश देना, उन साधर्मियों का आत्महित हो व शासन के कार्यों को प्रोत्साहन मिले - वृद्धि हो, वहाँ मुनि को स्थिर होकर नहीं रहना चाहिए ? (कहते हैं कि) नहीं। यह मुनियों की मर्यादा में नहीं है। मुनि को किसी क्षेत्र का, किसी दूसरे जीवों को - द्रव्यों का (राग नहीं होता)।

खुद को जब ज्ञान हुआ है तो मुनिपना बाद में ले ले ! पहले कुटुंबवालों को, कुटुंबियों को तो ज्ञान देकर सबका उद्धार कर ले ! उनको तिराने का काम तो पूरा कर ले, बाद में मुनिपना ले ले ! (ऐसा) कुछ नहीं होता। किसी द्रव्य से राग नहीं, किसी भी राग का राग नहीं है। (जहाँ) राग का राग नहीं होता (वहाँ) फिर राग के फल में बाहर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, इनका जो संयोग-वियोग है, इनकी पकड़ तो रहने का सवाल ही नहीं रहता। ऐसा जिसको नहीं होता उसने विश्राम ले लिया, विश्राम में काल व्यतीत किया है। आयुष्य पूरा कर देता है। मृत्यु के समीप प्रतिक्षण जाता रहता है।

दुनिया के नाप से यह नाप अलग है। गुरुदेवश्री दृष्टांत देते थे तब कहते थे कि, बच्चे के सामने माँ जब देखती है तब ऐसे देखती है कि, मेरा बेटा हररोज़ बड़ा होता जा रहा है। एक साल का हुआ, दो साल का हुआ, पाँच साल का हुआ, पचीस साल का युवान हुआ। तो (ज्ञानी) कहते हैं कि लेकिन भाई !

वह आयुष्य में छोटा होता जा रहा है। वैसे उम्र बढ़ती जा रही है लेकिन आयुष्य घटता जाता है। वह हररोज मृत्यु के समीप जा रहा है, इसका विकल्प नहीं आता ! इसका विचार नहीं आता है ! जबकि आत्मार्थी जीव का एक लक्षण है, अनेक लक्षणोंमें से एक लक्षण यह भी है कि उसे समय की बहुत कीमत होती है, उसे लगता है कि मेरे पास बहुत कम समय है और काम बहुत करना बाकी है, अतः फालतू समय मेरे पास नहीं है - यह एक उसका लक्षण है।

१७ साल की उम्र में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ था तो पूज्य बहिनश्री को लगता था कि अरे...! १७-१७ साल चले गये उम्रमें से ! फिर भी अभी धर्म की प्राप्ति, आत्मा की प्राप्ति नहीं है, कल-परसों पचीस हो जायेंगे ! अभी तो विचारधारा को शुरू हुए साल-दो साल हुए हैं, फिर भी देर हो रही है व तेज़ी से काम कर लेना चाहिए, ऐसा झुकाव, परिणमन में तथारूप झुकाव आये बिना रहता नहीं। यह परिस्थिति होती है।

पंद्रह साल की उम्र में जो सूझ आयी वह बचपन से क्यों नहीं आयी, ऐसा तब लगता था ! ठीक ! अभी तो कुमारावस्था है फिर भी देर हो गई ऐसा लगता है। यह तो जनमघूँटी में ही जैसे मिलना चाहिए था। आत्मा के संस्कार तो जैसे कोई जनमघूँटीमें से मिल जाते तो अच्छा था, यह तो बहुत देर हो गई ! जीव का शीघ्रता से - त्वरा से काम करने का यह जो प्रकार आता है, वह उसको अपने ध्येय में निष्फल नहीं होने देता। यह इसका बहुत सुंदर लक्षण है।

जो प्रमाद में काल गँवाता है (उसको तो ऐसा लगता है कि) ठीक है ! कुछ तो हम करते हैं ! एकदम कुछ भी नहीं करते

ऐसा थोड़ी है ? हररोज़ कुछ न कुछ तो करते ही हैं। इससे ज्यादा तो हम करे भी क्या ? शक्ति है उतना करते हैं। (यहाँ कहते हैं कि मुझे देर हो रही है यह प्रकार अभी उसका नहीं हुआ। उसने वहाँ विश्राम कर लिया है। प्राप्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रूककर समय गँवाया है। पूरे आत्मा को वह ठगता है ! यह परमात्मपद को ठगने की बात है !! यह प्रकार, यहाँ जिसको आत्म-प्राप्ति करनी है, उसके लिए उचित व अनुकूल नहीं है। इस पर यहाँ ध्यान दिलाया है। कहीं बोल ऐसे आते हैं जिसमें सावधान करते हैं कि देख ! तू धर्म के क्षेत्र में हो लेकिन Line ठीक कर लेना ! वरना पूरा आत्मा धोखे में रह जाएगा !! ऐसी अनेक बातें इसमें हैं। (यह २१६ बोल पूरा हुआ)।





जो बाहर की अनुकूलता को अनुकूलता मानता है,
बाह्य प्रतिकूलता को प्रतिकूलता मानता है - वह प्रगटरूप
से भगवान को (आत्मा को) शरीर-स्वरूप ही मानता
है। २२०.



प्रवचन - १२, दि. १५-४-१९८३

परमागमसार, पन्ना - ४१, २२० नंबर (का बोल)। 'जो बाहर की अनुकूलता को अनुकूलता मानता है, बाह्य प्रतिकूलता को प्रतिकूलता मानता है - वह प्रगटरूप से भगवान को (आत्मा को) शरीर-स्वरूप ही मानता है।' कैसा तात्त्विक न्याय खोला है ! सारे जगत के सर्व प्राणी बाहर की प्रतिकूलता-अनुकूलता का अनुसरण करके प्रवृत्ति करते हैं। त्रसजीव के लिए भी ऐसा कहा जाता है कि थोड़ा-सा त्रास होते ही (वहाँ से हट जाता है)। दोइन्द्रिय जीव हो, उसका ज्ञान बहुत आवरित है। एकेन्द्रिय को तो भान ही नहीं है, स्थावर-त्रस में है किन्तु भान नहीं है। परंतु दोइन्द्रिय जीव थोड़ा-

सा त्रास यानी कि बाहर में प्रतिकूलता होते ही वहाँ से हट जाता है। (इस प्रकार) त्रास का जिसको ज्ञान होता है, बाहर की प्रतिकूलता जिसको प्रतिकूलतारूप भासित होती है। वहाँ से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत के जीव बाह्य अनुकूलता और प्रतिकूलता को (यानी कि) संयोग की अनुकूलता और प्रतिकूलता को ही समझते हैं, अपने परिणाम को नहीं समझते। अपने ज्ञान-अज्ञान या राग-द्वेष मोह को जो नहीं समझते, सिर्फ बाहरी अनुकूलता-प्रतिकूलता को ही समझते हैं, उसने अपने भगवानआत्मा को अर्थात् खुद को ही शरीररूप माना है। क्योंकि यह अनुकूलता-प्रतिकूलता का नाप है शरीर आश्रित परिणाम। शरीर को क्या अनुकूल है ? शरीर को क्या प्रतिकूल है ? यहाँ 'मुझ को' अर्थात् शरीर को, ऐसा परिणमन है। मुझे क्या अनुकूल है ? इसमें मुझे अर्थात् शरीर को क्या अनुकूल है ? शरीर को क्या प्रतिकूल है ? ऐसे परिणमन कर रहा जीव भगवान को शरीरस्वरूप मानता है। चैतन्य को जड़स्वरूप मानता है। उसमें से यह न्याय खींचा है !

देखो ! कितनी विचक्षणता से यह विषय बाहर आया है ? कि सारे जगत से यह विरुद्ध विचार और विरुद्ध न्याय है। जगत के छोटे से छोटे क्षेत्र से लेकर महासत्ताओं के बीच जो घर्षण है, वह तमाम इस एक ही विपरीतता की वजह से है कि, बाहर की अनुकूलता को अनुकूलता और बाहर की प्रतिकूलता को प्रतिकूलता मानना। इसको छोड़कर और क्या है ? और इन सबका माध्यम 'पैसा' है। फिर यह पैसा चाहे रुपया-आना-पाई में हो चाहे पाउन्ड, स्टर्लिंग में हो, चाहे अमरिकन डॉलर हो, परंतु सभी साधनों की खरीदारी या लेन-देन का माध्यम धन है, जिसको धन कहा जाता है। फिर जहाँ जो चलन हो, जो भी चलन हो उसे (वहाँ

का धन कहते हैं)। वह तो एक व्यवहार का माध्यम है। सारी माथापच्ची इसीके लिए है। जितनी भी होती है उसीके लिए (होती है)। धर्म के क्षेत्र में झगड़े भी पैसे के लिए ! क्या हालत, दशा हो चुकी है ! भाई-भाई के बीच, बाप-बेटे के बीच, यहाँ से लेकर पड़ोसियों में, गाँव में, गाँव-गाँव के बीच, State-State के बीच कौन कितना समृद्ध है और कौन कितना गरीब है, किसके पास शेष क्या है, किसके पास कमी है, किस देश के पास क्या है ? यहाँ से लेकर जो भी नापदंड है वह पूरा नापदंड बाहर की प्रतिकूलता और अनुकूलता पर आधारित है। पश्चिम के देश सुखी हैं क्यों ? क्योंकि वहाँ अनुकूलताएँ ज्यादा है। दूसरे दुःखी हैं क्यों ? क्योंकि वहाँ प्रतिकूलताएँ हैं। सारे जगत का यह नापदंड है, जो कि गलत है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। जगत के सामने यह बगावत है !

गुरुदेवश्री कहते थे कि दुनिया के सामने यह एक बगावत है ! बगावत करनेवाले कम होते हैं। बगावत इसीलिए कहा जाता है क्योंकि बगावत करनेवाले मुट्टिभर लोग ही होते हैं। सामने लोग बड़ी संख्या में होते हैं। लेकिन ज़ोर इनका बहुत होता है, इसलिए इसको बगावत कहते हैं। बल देखकर इसे बगावत कहते हैं। मूल कारण तो इसका विशेष बल है। कहते हैं कि यहाँ जगत के जीवोंमें से अनेक जीवों को पलटना पड़ता है। बगावत करनेवालेमें से एक भी नहीं पलटता। जो भी नुकसान होगा बड़ी संख्यावालों को होगा। कम संख्यावालों को कोई नुकसान नहीं जाता, यह इसकी विशेषता है !

कहते हैं कि यह जो नापदंड है इसमें कोई सब से बड़ा नुकसान है तो यही है कि वह जीव ने प्रसिद्धरूप से - प्रगटरूप से, साबित करने की जरूरत न हो वैसे, प्रगटरूप से मतलब कि जिसे साबित

करने की भी जरूरत नहीं है वैसे, भगवान को ही जड़ माना है। उसने आत्मा को - निजस्वरूप को - भगवान को शरीररूप माना है, उसे जड़रूप माना है - ऐसा है, आत्मा को ही उसने देहस्वरूप माना है। खुद को ही उसने देहस्वरूप माना है।

समझने में आसान विषय है। न्याय कोई इतना कठिन नहीं है कि बुद्धिगोचर न हो। लेकिन Practice (प्रयोगाभ्यास) करने में भी यह न्याय बहुत उपयोगी है। बुद्धि से समझ लेना इतना मुश्किल नहीं है इसलिए लगेगा कि बराबर, चलो यह तो समझ में आ गया ! ऐसा संतोष पकड़ने जैसा नहीं है। परंतु वास्तव में जब-जब खुद को प्रतिकूलता बुरी लगे और जब-जब अनुकूलता में अच्छा लगे, सुहाना-अच्छापना लगे, तब हमें इस न्याय अनुसार एकदम जागृति व सावधानी आनी चाहिए। कि, अरे ! इसमें तो भगवान को ही शरीररूप मानने की बड़ी भूल हो रही है। यह प्रयोग प्रतिक्षण, हरएक प्रसंग में करे, जिसमें यह न्याय इसके काम में आये ऐसा विषय है। इसका महत्त्व तो तब है।

बुद्धिमत्ता की दृष्टि से भले ही इतनी विशिष्ट बात दिखती न हो कि ठीक है बाहर की प्रतिकूलता को प्रतिकूलता नहीं माननी चाहिए व अनुकूलता को अनुकूलता नहीं माननी चाहिए ! (बात तो ठीक है (परंतु) सिर्फ इसतरह नहीं। जब हमें अच्छा लगता है, इष्ट लगता है, अनिष्ट लगता है; ये सारा इष्ट-अनिष्टपना हमें दृष्टि के व्यामोह से होता है; और इस दृष्टि के व्यामोह में स्पष्ट बात यह है कि हमने भगवानआत्मा को देहस्वरूप कल्पना में लिया है, माना है। भले ही देहरूप होता नहीं किन्तु स्पष्ट बात यह है कि हम खुद अपने आत्मा को देहस्वरूप मानकर चलते हैं - परिणमन करते हैं। बहुत बड़ा नुकसान है। परपदार्थ में आत्मस्वरूप

की बुद्धि होना, यह परिभ्रमणदशा की प्राप्ति का कारण है।

प्रश्न :- यह बात सर्वत्र लागू होती है ?

समाधान :- सर्वत्र ! जगत में कहीं एक भी पदार्थ ऐसा नहीं कि जिसमें इष्ट-अनिष्टपना हो। जगत में (ऐसा) कोई प्रसंग नहीं है, कोई प्रकार नहीं है, कोई पदार्थ नहीं है, कोई प्रक्रियाएँ ऐसी नहीं हैं। तमाम पदार्थ पर्याय से पर्यायांतर हो रहे हैं, जिसमें ऐसा कोई प्रकार नहीं है कि जिसमें इस आत्मा को इष्ट-अनिष्टपना करना पड़े या कर्तव्य हो। यह परमार्थ है।

मुमुक्षु :- हमारा नंबर तो इसीमें आ जाएगा !

पूज्य भाईश्री :- सब इसीमें आते हैं ! एक मात्र ज्ञानी को छोड़कर, ज्ञाता-दृष्टा रहनेवाले को छोड़कर सब इसीमें आ जाते हैं, ऐसा है। कहीं (भी) यह ठीक है और यह ठीक नहीं है, यह किस आधार पर नक्की किया तुमने ? इसका आधार क्या है ? किसको ठीक है ? तुझे ठीक है ? या तुझे ठीक नहीं है ? कोई भी परपदार्थ तेरे लिए अच्छ-बुरा है, यह तूने कैसे नाप किया ? कैसे नक्की करते हो ?

तुझे आत्मशांति हो तो वह शांति तेरे परिणाम में ठीक है ! तेरे आत्मा में - परिणाम में अशांति हो तो वह बात ठीक नहीं है, यह बात ठीक हुई। लेकिन दूसरे पदार्थ के परिवर्तन से तेरी शांति और अशांति को क्या संबंध है ? वे तो कोई तेरी अशांति को उत्पन्न नहीं करते (क्योंकि) तुझे स्पर्श तक नहीं करते। तेरे में आते नहीं, तू उसमें जाता नहीं, तू उसे स्पर्श तक नहीं करता, अतः वे पदार्थ न तो तेरी अशांति के कारण हैं नाहीं तेरी शांति के कारण।

दूसरे जीवों के परिणाम विपरीत या अविपरीत होना यह उसकी

शांति-अशांति का कारण है, तेरी नहीं - अपनी नहीं। किसी दूसरे जीवों के अनिष्ट परिणाम होना वह उसकी अशांति और दुःख का कारण है। इस आत्मा के - अपने तो नहीं, जाननेवाले को तो नहीं और उसके परिणाम अगर अविपरीत हैं तो वह उसकी शांति का कारण है, इस आत्मा को नहीं।

अतः दूसरे किसी जीव की या दूसरे किसी जड़ की कोई भी पर्यायें, कोई भी प्रसंग, कोई परिवर्तन अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता का कारण बने तब वहाँ स्पष्टरूप से 'अज्ञान' प्रगट हुआ है। पूरा अज्ञान उत्पन्न हो चुका है, एकांत अज्ञान का परिणमन है, ऐसा जानना चाहिए।

परंतु सामान्यतया थोड़ी-बहुत अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति चलती रहती है कि नहीं ? वीतराग हो चुके इनकी बात कुछ और है। परंतु हम तो रहे सामान्य जीव - साधारण जीव ! (हम) तो रहे रागी, संसारी, गृहस्थी, इसमें तो यह सब चलेगा ही चलेगा तो ! (कहते हैं कि) ऐसा तो सब चलता ही रहेगा, ऐसा जानकर क्या उस दोष को दृढ़ता से पकड़ रखना है ? फिर तो यह तुने उलटा सिद्धांत ग्रहण किया है, यह फलित होता है। तुने यह उलटा पकड़ रखा है कि 'इसमें तो कोई बात नहीं, ऐसा तो चलता ही रहे।' सामान्य इष्ट-अनिष्टपना तो (हो ही जाये) ! तीव्र राग-द्वेष हम नहीं करे, तीव्ररूप से ठीक-अठीक नहीं करें, चला लें। लेकिन बिलकुल ही अंदर में ठीक-अठीकपना न हो, यह तो कैसे मुमकिन है ? एक खाने में हररोज जो बनता हो इससे हट करके कुछ हो जाये, या तो जैसे आज कुछ ज्यादा ही स्वादिष्ट बना है या कुछ ठीक नहीं बना हो, (तो भी) तुरंत इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। रोटी ठीक से पकी नहीं हो (तो भी अनिष्टपना कर लेना)।

यह ठीक है यह अठीक है, यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसा ठीक-अठीकपना (मान रखा है)।

प्रश्न :- तकलीफ हो जाये थोड़ी ?

समाधान :- क्या तकलीफ है बताइये ! समझाईये मुझे। इसमें आपको तकलीफ क्या होती है ? समझाईये। इसमें कोई तकलीफ होती हो ऐसा मुझे तो नहीं लगता। क्या तकलीफ है ? कहो तो ? कोई तकलीफ नहीं होती। तुझे ज्ञान में जैसा है वैसा मालूम होता है। तुम आत्मा हो, तुम ज्ञानस्वरूपी हो। तुझे जो जैसा है वैसा मालूम होता है, इसके अलावा तुझे क्या तकलीफ है ? वह ज्ञान में कौन-सी तकलीफ खड़ी करता है ? लेकिन क्या है कि, जीव यह भूल गया है कि मैं जाननेवाला ज्ञानस्वभावी, ज्ञानस्वरूपी हूँ; स्वरूप को भूला हूँ मतलब देहस्वरूपी हूँ - (यानी कि) भगवान जड़रूप हुआ, ऐसी भ्रांति में वह ठीक-अठीकपने की कल्पना करता है। वह कल्पित है - वास्तविक नहीं अपितु कल्पित है, ऐसा कहना है। ऐसा विषय है। वहाँ जीव को जागृत रहने की जरूरत है। यहाँ से यह बात निकलती है कि, तमाम उदय के प्रसंग में जीव को जागृत रहने की एकदम आवश्यकता है कि मैं आत्मा - सिर्फ जाननेवाला हूँ, इष्ट-अनिष्टपना जो हो रहा है वह व्यामोह है, भ्रम है। वस्तु कहाँ इष्ट-अनिष्ट है ? अगर वस्तु इष्ट-अनिष्ट होती, हकीकत में ऐसा होता तो कोई वीतराग नहीं हो सकता ! अगर सचमुच जगत का कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट होता तो कोई वीतराग नहीं हो सकता। परंतु जो वीतराग हुए हैं वे चाहे जैसे संयोगों के बीच वीतराग हुए हैं। उन्हें वीतराग होने में कोई संयोग बाधारूप नहीं हुए। चक्रवर्ती को छः खण्ड का राज्य भी बाधारूप नहीं हुआ और कितना भी दरिद्री हो उसे अपनी दरिद्रता बाधारूप नहीं हुई,

आड़े नहीं आयी। न तो जो अनुकूलता कहलाती है वह बाधारूप होती है न तो जो प्रतिकूलता कहलाती है वह बाधारूप होती है। शरीर में अति भयंकर रोग हुआ हो, आत्मा को तो नहीं होता, तो भी ऐसे जीव को वह वीतरागता में निमित्त होता है। इसके ज्ञानपूर्वक वह वीतरागता में परिणमन करता है, और अगर अनुकूलता का गंज हो तो भी वह जीव उसे वीतरागता में ही निमित्त बनाता है। उसके उपादान का ज़ोर प्राप्त संयोग को वीतरागता में ही निमित्त बनाता है। भीतर का भान होना चाहिए।

जैसे ही भान होता है, उसकी तमाम - पूरी सृष्टि बदल जाती है ! दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। उस जीव को जगत में कोई अनुकूल नहीं है, न तो कोई प्रतिकूल है। सर्वांग समाधान रहता है। कोई भी (परिस्थिति में) ऐसा क्यों ? यह आकुलता का प्रश्न मूल में नहीं रहता। ऊपर-ऊपर से होता है तो भी इसका निषेध आता है। वह समझता है कि यह इतना जो होता है वह भी उचित नहीं है, मिटाने योग्य है। चारित्रमोह का राग-द्वेष-मोह होगा तो तुरंत (जागृत हो जाएगा)। (क्योंकि) उसका ज्ञान जागृत है। इसलिए उसके परिणाम 'ज्ञानमय' है - ऐसा कहा जाता है।

देखो ! यह न्याय Practice करने जैसा है। न्याय सिर्फ समझ लेना फिर छोड़ दे, इसलिए नहीं है। परंतु यह न्याय थोड़ी Practice करने का है। प्रतिकूलता व अनुकूलता का अर्थघटन यदि ज्ञानी इसी प्रकार करते हो कि यह तो भगवान को ही शरीररूप मानना हो गया ! चैतन्यदेव को जड़ेश्वर मानने जैसा हुआ ! जड़ मानने जैसा हुआ, यह तो बड़ी भूल हो रही है ! (तो) यह छोटा गुनाह नहीं है परंतु बड़ा गुनाह है।

कहते हैं कि जब इष्ट-अनिष्टपना हो तब वहाँ ज्ञाता रहने का

प्रयत्न करना चाहिए। या इष्ट-अनिष्टपना हुआ इसमें भ्रम क्या हुआ ? यह जाँच करनी चाहिए। क्यों ऐसा भ्रम हुआ ? जिस परिणाम में वह खड़ा है, उस परिणाम के पृथक्करण हेतु गहराई में जाना चाहिए। ऐसा होने का क्या कारण है ? यह चीज़ अच्छी लगी इसमें क्या अच्छा है ? यह जाँच करनी होगी। यह चीज़ खराब लगी तो उसमें बुरा क्या है ? यह जाँच करनी होगी। जाँच करने पर यदि मालूम हो कि उसमें अच्छा-बुरा कुछ नहीं है तो जो परिणाम चले वे भ्रमणा की वज़ह से चले। इस जाँच की प्रक्रिया में जाएगा कि उसका जो दर्शनमोह है वह शिथिल हो जाएगा।

एक चीज़ को रसपूर्वक भोगा जाये, दूसरा इसके बजाय इसी चीज़ को भोगते समय जीव इसकी जाँच करने लग जाये (तो) उसके रस का टूटने का (कार्य), वस्तुस्वरूप के ज्ञान के आधार से उत्पन्न होता है। पर रस टूटना, वह भी स्वरूपज्ञान के अनुसार टूटना, वस्तुस्वरूप अनुसार ज्ञान होने से रस का टूटना, यह पद्धति 'सम्यक्' है।

अन्य प्रकार से तो वैराग्य में आकर अन्यमतियों भी पररस और परविषय के रस को तोड़ते हैं, उदास होते हैं। परमति में भी ऐसे लोग होते हैं ! अरे ! आप परिचय में आकर देखो तो ऐसा लगे कि जैसे उदासीनता की मूर्ति हो ! ऐसा लगे। उदास... उदास... उदास... उदास... कहीं रस पड़े नहीं। लेकिन उस उदासीनता का आधार क्या ? इतनी बात है। उस उदासीनता का आधार स्व-पर वस्तु के स्वरूप का ज्ञान है ? या ऐसे उदास रहने योग्य है, ऐसा एक संकल्प है जिसके आधारित उदास है ? बस ! इतनी बात है।

आदमी ऐसी कल्पना करता है कि मैं तो साधु या मैं तो साधक,

लीजिए ! साधु नहीं, मैं तो साधक हूँ और साधक हूँ इसलिए मुझे उदास रहना चाहिए। मुझे कहीं आकर्षण हो यह साधक को अनुकूल नहीं है, ऐसे विचार कर लेता है। साधक जीव को तो उदास रहना ही योग्य है और कहीं भी आकर्षित होना उचित नहीं है। ऐसे एक राग के आधार पर जो उदास होगा वह लंबा नहीं टिक पाएगा। ज्यादा से ज्यादा तद्भव तक। (ऐसे मंद कषाय के) फल में दूसरे भव में जाएगा वहाँ उसके परिणाम पलट जायेंगे। परंतु जिसने स्वभाव का आधार लिया होगा, वस्तु स्वरूप का आधार लिया होगा तो वह आधार छूटेगा नहीं। सादि अनंत काल पर्यंत नहीं छूटेगा। यह परिस्थिति उत्पन्न होती है।

अतः आत्मा को आत्मारूप मानने में और जड़ को जड़ मानने में (वीतरागता प्रगट होती है)। जड़ और चैतन्य भिन्न है। अतः वे कोई अनुकूल-प्रतिकूल (नहीं हैं)। कोई जड़ इस चैतन्य को अनुकूल-प्रतिकूल नहीं है, इतना ही नहीं दूसरे चैतन्य पदार्थ - जीव - आत्माएँ भी इस चैतन्य पदार्थ आत्मा से सर्वथा भिन्न होने से, वे भी अनुकूल-प्रतिकूल नहीं हैं, ऐसा अनुभव करके वीतराग होना उचित है। स्वयं का जो स्वरूप है, उसरूप रहना उचित है। इस स्वरूप को छोड़कर विपरीतपने, स्वरूप से विरुद्ध जाकर परिणमन करने से परिणाम में दुःख उत्पन्न होता है व बाहर में परिभ्रमण चालू रहता है।

(यह) २२० नंबर का बोल प्रयोग की दृष्टि से छोड़ने जैसा नहीं है ! समझकर छोड़ देते हैं वे शुष्क धारणा में चले जाते हैं (कि) समझ में आ गया। चलो ! इसमें कुछ नहीं समझ में आता हो ऐसा नहीं है। न्यायसंपन्न बात है। और तो और परमागमों में यह बात कही है इसलिए आगम जिसका आधार है ऐसी बातें

हैं, परंतु ऐसे नहीं। इसे मैं अपने अनुभव में कैसे लागू करता हूँ ? और वैसा लागू करना भी बार-बार चालू रहता है ? या एक बार विचार आया कहीं एक बार प्रयोग किया और छूट गया, ऐसा है ? यह पूरा भेदज्ञान का विषय है।

प्रतिकूलता और अनुकूलता को प्रतिकूल व अनुकूल नहीं मानना चाहिए, वह सिर्फ जगत में कहलाता हुआ व्यवहार है, परमार्थ मार्ग में ऐसा कुछ नहीं है, दुनिया का व्यवहार भले ही दुनियादारी के हिसाब से चलता हो किन्तु परमार्थ मार्ग में वास्तव में ऐसा कुछ है ही नहीं - यह बात मूल से जीव को पकड़ में आनी चाहिए, जब तो वह अनुभव तक पहुँचेगा। वरना सिर्फ समझ लेने से कोई (अनुभव नहीं हो जाता)। मैं मानता हूँ मैं ऐसा मानता हूँ, समझता हूँ और मानता हूँ, परंतु मानता हूँ यह बात (की सत्यता) कहाँ रही ? अनुकूलता को तो अनुकूलता मान लिया, अच्छेपन का वेदन कर लिया ! प्रतिकूलता को प्रतिकूलता मान ली, वहाँ अटीकपने का वेदन कर लिया। चुभन महसूस कर ली और एकत्वबुद्धिपूर्वक वेदन कर लिया ! तब वह अनुकूलता नहीं है ऐसी बिलकुल ज्ञान में जागृति न रही, या प्रतिकूलता नहीं है ऐसी बिलकुल जागृति ज्ञान में न रही, तो ऐसे तो उसने माना है यह बात झूठी है। भले ही जीव ने बुद्धि से सम्मत किया हो फिर भी उसने पक्ष नहीं पलटा, झुकाव नहीं बदला, ऐसा है। अभी पूर्व के पक्ष में ही खड़ा है। ऐसा है।

किसी भी दृष्टांत से, किसी भी प्रसंग से, यह सिद्धांत में कहीं भी फर्क नहीं पड़ता। लाईये ! इसमें कोई तर्क हो तो ! कोई तर्क इसमें काम नहीं आ सकता। २२० हुआ।





.....



.....



जब तक अंतर में ऐसा नहीं भासित होता कि पैसे में सुख नहीं है, पुण्य-पाप में सुख नहीं है - तब तक जीव आत्म-सुख के लिए पुरुषार्थसा नहीं होता। २२८.



.....



.....



प्रवचन - १३, दि. २४-४-१९८३

(परमागमसार, बोल) २२८। 'जब तक अंतर में ऐसा नहीं भासित होता कि पैसे में सुख नहीं है, पुण्य-पाप में सुख नहीं है - तब तक जीव आत्म-सुख के लिए पुरुषार्थसा नहीं होता।' बिलकुल नाड़ी पकड़ी है ! जगत के जीव कहाँ पुरुषार्थसे होते हैं यह (गुरुदेवश्री को) पता है। भले ही खुद अभी उस रास्ते पर नहीं गये, इस भव में तो शुरु से त्यागी जैसी स्थिति रही है। (फिर भी कहते हैं कि) जब तक जगत के पदार्थ में सुख है ऐसा भासित होगा, तब तक जीव जगत के पदार्थों के पीछे पुरुषार्थसा रहेगा, ऐसा कहते हैं। पुरुषार्थसा रहना मतलब ? कि पूरा-पूरा कूद जाएगा ! पूरा का पूरा समर्पित होकर इसके पीछे लगा रहेगा ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि इस परिस्थिति को पूरी बदलनी होगी। पहली

बात तो है कि, पैसे में सुख नहीं है। लीजिए, कैसे मानना ? पैसे में सुख नहीं है - (यह) हम कैसे माने ? हर कदम पर इसकी जरूरत पड़ती है।

मुमुक्षु :- पैसे होंगे तो 'भाई' कहकर (आदरपूर्वक) बुलायेंगे !

पूज्य भाईश्री :- वरना क्या कहकर बुलायेंगे ? अरे...! चाहे कुछ भी कहकर बुलाये, तुझे क्या जरूरत है कि कोई ऐसे बुलाये ? तुझे 'भाई' कहकर बुलवाना क्यों है ? यह सवाल है। यह 'भाई' कहकर बुलवाने में तू पूरा-पूरा मर जाएगा इसका क्या ? 'भाई' कहलाने में वहाँ तेरी हत्या होती है ! तेरे चैतन्य प्राण की, ज्ञान-आनंद प्राण की हत्या होती है !!

गुरुदेव एक काले कुत्ते का दृष्टांत देते थे। - पता है ? घर में देवरानी-जेठानी का झगड़ा हो तब गालियाँ देती थी कि 'तू काले कुत्ते की बहु है' वह काला कुत्ता बाहर बैठा-बैठा सुने कि, हाँ ! बहुत अच्छी बात करती है ! (वह) कहीं खाने नहीं जाता ! न तो किसी के घर जाये, बस ! वहीं पर बैठा रहता। (दूसरे) दो-चार कुत्ते मिले (तो उन लोगों को लगा) कि यह तो पतला हो गया है और हड्डियाँ दिखने लगी, यह सब क्या है ? (तब उस काले कुत्ते ने कहा) 'भले हड्डियाँ दिखती हो, मुझे तो यहीं बैठे रहना है, खाने के लिए भी नहीं जाना।' (उसने पूछा) क्यों ? (तो कहा) 'ऐसा सुनने जो मिलता है !' वैसे यहाँ इस जीव को 'भाई' सुनने मिलता है न ! इसमें वह चकनाचूर हो जाता है, यह उसे पता नहीं रहता। 'भाई' सुनने में भाईसाहब की यह हालत है, भाई ! काले कुत्ते जैसी उसकी दशा है !

वैसे भी मनुष्य पर्याय में मान जो है (वह) मार डालता है ! मान है वह मार डाले ! (श्रीमद्जी लिखते हैं) 'मान नहीं होता

तो मोक्ष हथेली में होता।'

प्रश्न :- मान के बाद अहम् आता होगा न ?

समाधान :- अहम् खुद ही मानस्वरूप है। मान और अहम् में (कहाँ) अंतर है ? अहम् कहो चाहे मान कहो सब एक ही है। यह तो क्या है पैसे के साथ-साथ जो मान मिलता है न ! (लेकिन) काफ़ी पैसेवालों को मान नहीं भी मिलता है। उसका उपनाम कुछ और ही होता है ! जो अपमान स्वरूप हो ! अतः यह तो एक जाति की कर्मप्रकृति का उदय हो (तब ऐसा लगता है)। (वरना यह भी संभव है) कि पैसे कम हो, पैसे उतने न हो (फिर भी) मानपान मिलता हो। जिस क्षेत्र में काम करता हो वहाँ मानपान मिलता है।

जगत में अनेक पदार्थ खरीदने का माध्यम जो धन है, चलन है, पैसा है। अनेक चीज़ों की, सर्व चीज़ों की खरीदारी इससे होती है। इसलिए उसकी मुख्यता है। और उन विभिन्न चीज़ों से अपनी अनुकूलताएँ बनी रहती हैं और प्रतिकूलताएँ दूर होती हैं। इसलिए पैसे से सुख है - ऐसा माना जाता है।

यहाँ भगवान कहते हैं कि पहले बात यह है। (तू) नक्की कर, पैसे में सुख नहीं है यह नक्की कर ! और जब तक तेरा यह नक्की नहीं होगा तब तक तू पैसों के प्रति या बाह्य पदार्थों के प्रति रहे अपने झुकाव को पलटकर आत्मा के लिए पुरुषार्थवंत हो सकेगा, यह नामुमकिन है। आदमी ऐसा (भी) करता है, करोड़पति, अरबपति, आदमी दीक्षा ले ले, फिर तो उसने पैसे में सुख नहीं है यह माना कि नहीं माना ? माना ? मानना दूसरी बात है, भाई ! मानना दूसरी बात है। ऐसा त्याग करे फिर भी उसने पैसे में सुख नहीं है, ऐसा (नहीं माना हो) यह संभव है।

पैसे में सुख नहीं है ऐसा तो वास्तव में तब माना है जब उसने आत्मा में सुख माना हो। जब यह जीव आत्मा में सुख है ऐसा मानेगा तब वह जीव आत्मामें से ही सुख भोगने के लिए पुरुषार्थवंत होगा और जब तक आत्मिक सुख की प्राप्ति का भीतर में पुरुषार्थ नहीं करेगा तब तक भले ही उसने धन, वैभव का त्याग किया हो फिर भी उसने अभी उसमें सुख माना है। वह मानने का प्रकार दूसरा है। वरना ऐसा लगे कि यह कैसे समझना ? स्पष्ट दिख रहा है पैसे का त्याग किया ! इतने पैसे थे और पैसे छोड़ दिये परंतु 'मैंने छोड़ा' (ऐसी जो मान्यता है) वहाँ वास्तव में छोड़ा नहीं है (परंतु) पकड़ा है !! क्या किया (उसने) ? ये पैसे 'मैंने छोड़े' इसमें जीव ने 'अपनत्व' रखकर छोड़ा है ! 'मेरे थे और मैंने छोड़ दिये' इसमें अपनत्व उसने अभी कायम रखा है। छोड़ दिया वह तो बाहर में क्रिया हो चुकी। छोड़ने की अंतरंग क्रिया नहीं हुई।

यहाँ कहते हैं कि बाह्यत्याग, बाह्यनिवृत्ति वह अंतरंग निवृत्ति के हेतुपूर्वक है या अंतरंग निवृत्ति के प्रयोजनवश यदि बाह्यत्याग और बाह्यनिवृत्ति होगी तो उसकी सार्थकता है। परंतु अगर अंतरंग प्रयोजन की सिद्धि न हो तो किया हुआ बाह्यत्याग नहीं करने के बराबर है, किया लेकिन नहीं किया बराबर है। वास्तव में उसने किया ही नहीं है - ऐसा भगवान कहते हैं।

गुरुदेवश्री एक बार सुबह शौच के लिए जा रहे थे, (तब) साथ में जाते थे, (क्योंकि) वे बाहर जंगल में जाते (थे)। करीब २० साल पहले की बात है। रास्ते में सब मौन होकर चल रहे थे। १०-१५ लोग थे। अचानक ही (गुरुदेवश्री) बोले कि, 'द्रव्यलिंगी मुनि निवृत्त हुआ ही नहीं, बिलकुल निवृत्त नहीं हुआ है।' जबकि उसने सर्वथा प्रवृत्ति छोड़ दी है, बड़ा राजा हो लेकिन राजपाट

(त्याग) किया हो - इसका मतलब क्या हुआ ? कि जिसका शुद्धात्मा में प्रवेश नहीं है और स्वरूपलीनतापूर्वक जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं किये, वह बाहर से निवृत्त हुआ हो तो भी वह वास्तव में निवृत्त नहीं हुआ। (द्रव्यलिंगी मुनि का) तो उत्कृष्ट - समर्थ दृष्टांत है। फिर नीचेवाले को तो समझ लेने की बात है। त्याग किया हो तो उसे कितना तुल्य देना ! इसमें कोई तुल्य देने जैसा प्रसंग नहीं है।

पैसे में सुख नहीं है यह 'भासित' होना चाहिए, पुण्य-पाप के परिणाम में सुख नहीं है ऐसा अंतर में 'भासित' होना चाहिए। पुण्य के मंदराग में जब आकुलता कम हो तब सुख लगे, शाता का वेदन हो या इच्छित विषय की प्राप्ति में उस विषय को भोगने में मजा है, सुख है, आनंद है, खुशी है, प्रसन्नता है (ऐसा अगर लगता है तो) उस पाप के परिणाम में सुख माना है।

कषाय की मंदता में उत्पन्न मंद कषाय के मंद राग के परिणाम जिसको शाता का वेदन है - उसने पुण्य के परिणाम में सुख माना है। भोग-उपभोग के परिणाम में सुख, मजा और आनंद माननेवाले ने पाप के परिणाम में सुख माना है। बाहर में जो भी पैसे यानी कि धन, वैभव, कीर्ति, आबरू सब इसमें ले लेना। (इन सबकी हयाती से तुझे ऐसा लगता हो कि) 'यह है तो मुझे ठीक है और दिक्कत नहीं बल्कि अनुकूलता है और अब मुझे किसी की परवाह नहीं है' - (यहाँ) कहते हैं कि ये सब तुझे आत्मा में नहीं जाने देंगे, ये सब तुझे आत्मा के दर्शन नहीं करने देंगे। क्योंकि भावभासन ज्ञान में होता है।

जहाँ सुख नहीं है वहाँ सुख भासित होना - मतलब भ्रांतिवशात् वह सुख भासित होता है। किसकी वजह से भासित होता है ?

(भ्रांति की) ! ऐसी इस जीव को भ्रमणा हो गई है। इस भ्रमणा के कारण उसको सुख लगता है। है नहीं फिर भी लगे इसका मतलब क्या ? कि जीव को भ्रमणा हो गई है।

जिस जड़ पदार्थ में सुख तो क्या सुख की गंध भी नहीं है, इसमें तुझे भरपूर सुख लगना, इसकी गर्मी रहना जैसे यह है तो मुझे अच्छा है, ऐसे इसकी हयाती की सभानता के परिणाम तुझे जो हैं न ! (वे तुझे आत्मा में नहीं जाने देंगे) पूँजी को कोई गिनने नहीं बैठता कि चलो सुबह-सुबह उठते ही माला गिन लो ! पाँच माला पूँजी की गिन लो ! हमारी पूँजी कितनी है ? उगाही में कितनी ? माल में कितनी ? बेंक में कितनी ? लेकिन इसके भान में ही रहता है कि 'मैं इतना', 'मैं ऐसा', 'मेरे पास इतना... इतना...' कहते हैं (कि) अपनत्व सहित इसकी हयाती का भान रहना यह तेरे स्व-भान को भूलने में कारणभूत है। तेरे भान में वह (चीज़) नहीं और उसके भान में तेरा अपना भान नहीं ! यह परिस्थिति होती है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि जब तक पैसे में सुख नहीं है ऐसा भासित न हो, 'अंतर' में भासित न हो, इसकी बात है ! ऊपर से कह दे सो बात नहीं, शास्त्र के आधार से कहे सो नहीं, न्यायपूर्वक विचार कर 'हाँ' करे इतना भी नहीं, वरना यहाँ तक तो अपने यहाँ चलता है। गुरुदेवश्री की कृपा से अपने यहाँ मुमुक्षुओं शास्त्र-स्वाध्याय तो करते हैं, इतना ही नहीं विचारपूर्वक न्याय से सम्मत करके भी कहते हैं कि, ठीक बात है - सुख आत्मा में है, बाह्य पदार्थ में सुख नहीं है। यह सत्य कहा कि नहीं ? (कहते हैं कि) जब तक अंतर में वैसा भासित न हो तब तक उसकी कही हुई बात सत्य नहीं है। भले ही सत्य कहे तो (भी) सत्य नहीं

है। किसीने सच कह दिया इसलिए सत्य हो गया - ऐसा यहाँ नहीं है। लेकिन इतना स्पष्ट कहता हो फिर भी सच्चा नहीं ? तो पहले देखना तो यह है कि ऐसा उसे अंतर में भासित हुआ है कि नहीं।

तोता भी दो और दो चार बोलेगा। तोते को बोलना सिखा दिया जाये कि दो और दो चार... दो और दो चार... बोलता है कि नहीं ? तो क्या उसका दो और दो का जोड़ चार सही है क्या ? परंतु उसे पता नहीं है कि जोड़ लगाना मतलब क्या ? वह तो बोलता है जो उसको रटाया गया है। वैसे शास्त्र से कोई (जीव इस बात को) विचारपूर्वक सम्मत कर ले, रट ले, सीख ले, सिर्फ पढ़ ले इतना ही नहीं विचारपूर्वक सम्मत भी कर ले, फिर भी अगर अंतरंग में भासित न हो (तो वह विचार से सम्मत किया हुआ भी सत्य नहीं है)। यहाँ एक शब्द बहुत अच्छा लिया है - **'जब तक अंतर में ऐसा नहीं भासित होता...'** ऐसे लेना है। यह इसकी वास्तविकता है।

यदि अंतर में भासित नहीं होता है तो जीव ने विचार से, न्याय से, आगम से, तर्क से, तर्कणा द्वारा शुद्ध करके - तर्कशुद्ध करके माना हो तो भी यहाँ (उसकी) स्वीकृति नहीं दी जाती है कि उसने यह माना है। ऐसा नहीं माना जाएगा, यों कहते हैं। और तब तक उसे इसका लाभ नहीं होता। यानी कि तब तक यह जीव मुख बदलकर (अर्थात्) बहिर्मुख परिणमन जो कर रहा है, उसे पलटकर अंतर में आत्मा में जो सुख पड़ा है उसमें लीन होने के लिए पुरुषार्थसा नहीं होगा।

'पुरुषार्थसा नहीं होता।' ऐसे शब्द लिये हैं। (पुरुषार्थसा) मतलब जोर से लगता है। (यानी कि) जो जीव आत्मिक सुख की प्राप्ति

के लिए अंदर में आता है वह भी इतने बलपूर्वक आता है, बहुत वेगपूर्वक आता है। ज़ोरपूर्वक वह मिथ्यात्व का यध्वंस करता है, ज़ोरपूर्वक मिथ्यात्व का त्याग करता है और सम्यक्त्व को अंगीकार करता है। वास्तविकता तो ऐसी है। इसलिए आत्मा में झुका दिया ऐसा कहा जाता है। क्योंकि प्रथम सम्यक्त्व होते ही उसी समय स्वरूपलीनता उत्पन्न होती है, शुद्धोपयोग होता है, आत्मस्थिरता वहाँ प्रगट होती है। सम्यक्त्व हो तब आत्मस्थिरता होना - यह दोनों एक साथ अविनाभावीरूप से होता है। आगे-पीछे नहीं अपितु अविनाभावीरूप से होता है। वह तीव्र पुरुषार्थ से आत्मा में आता है।

(दोनों कार्य) गुण भेद से अलग हैं। सम्यक्त्व के साथ अनंत गुणों का परिणमन है। 'सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व' - आत्मा के अनंत गुणों के अंश शुद्ध हुए, निर्मल हुए उसे सम्यक्त्व कहा है। श्रीमद्जी ने यह परिभाषा की (है) - 'सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व' जो शुद्धोपयोग होता है वह स्वरूपाचरण चारित्र है। ज्ञान स्वसंवेदनरूप परिणमन करे वह सम्यक्ज्ञान है और आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति हो, उसे सम्यक् श्रद्धान कहा जाता है। इस प्रकार सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता हुई। परिणाम एक है जिसमें अनंत गुणों का परिणमन है। इसलिए उसका अनेक भेदों से वर्णन आता है। गुणभेद की अपेक्षा से एक ही धर्म के परिणाम का अनेक भेद में वर्णन आता है। इसका यही कारण है। (क्योंकि) उसमें अनंत गुण मौजूद हैं। सम्यक्त्व हुआ मतलब (वह जीव) अनंत गुणवंत हुआ। यदि तुझे गुण की रुचि हो, यदि तुझे गुण की अभिलाषा हो तो इस सम्यक्त्व को अंगीकार करने जैसा है कि जिसमें अनंत गुण प्रगट होंगे।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि स्वरूप में लीनता जो होती है वह तीव्र पुरुषार्थ से होती है। क्यों यह सारा वर्णन किया जाता है ? ऐसे-ऐसे वर्णन करने के पीछे भी शास्त्र में हेतु है। सम्यक्त्व के विषय में भी लोगों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। हमारा जन्म जैन कुल में हुआ इसलिए हम तो मूल में जैन कुल के हैं इसलिए हमें सम्यग्दर्शन तो है ही इसमें कोई सवाल ही नहीं है। हम तो वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र को माननेवाले हैं, दूसरों को तो हम स्वप्न में भी न माने। हालाँकि अभी तो काफ़ी गड़बड़ चलती है। लेकिन दूसरे को स्वप्न में भी न माने, तो भी वह सम्यक्त्व नहीं है। अरे ! यहाँ तक कहते हैं कि अब तो हमें व्रत, पच्चखान अंगीकार करके आगे बढ़ना है, सम्यक्त्व तो हमें है ही ! भाई ! सम्यक्त्व ऐसे नहीं होता।

इसलिए पूछते हैं कि भाई ! तुझे स्वरूपलीनता हुई है ? तुझे आत्मा का भान वर्तता है ? तुझे स्वसंवेदन की ज्ञाताधारा प्रगट हुई है ? प्रगट वैसा परिणमन चलता है ? अगर यह सब है तो वह सम्यक्त्व के सद्भाव की द्योतक बातें हैं। वरना वह एक भी बात सही नहीं। जिसको सम्यक्त्व नहीं है उसका सब उलटा और जिसको सम्यक्त्व है उसका सब सुलटा। जैसे उलटे घड़े पर सब उलटे ही रहते हैं और सुलटे घड़े पर सब सुलटे रहते हैं, ऐसा है।

मुमुक्षु :- सम्यक्त्व में सब सुलटा - यह बहुत बड़ी बात है !

पूज्य भाईश्री :- उसका सब सुलटा ! उसके सभी परिणाम ज्ञानमय बतलाये हैं। साधकजीव को पुण्यभाव आये तो उसे भी ज्ञानमय परिणाम कहा (है), क्यों ज्ञानमय परिणाम कहा ? कि यह पुण्यतत्त्व है, मेरे आत्मा से यह बहिर्तत्त्व है, यह आत्मा को इससे

कोई लाभ नहीं है, (ऐसा भान वर्तता है)।

जैसे पैसे में सुख नहीं है वैसे पैसे मिलने का कारण पुण्यभाव में भी सुख नहीं है और लाभ नहीं है। वहाँ तो कारण-कार्य का संबंध है। पैसे से सुख और लाभ नहीं है वैसे पैसे मिलने के कारणभूत जो परिणाम हैं उसमें भी सुख और लाभ नहीं है, ऐसा जब तक अंतर में भासित नहीं होता...! 'अंतर में ऐसा नहीं भासित होता...' देखो ! कैसी भाषा ली है। 'तब तक जीव आत्म-सुख के लिए पुरुषार्थ-सा नहीं होता।' यह तो बोली गई भाषा को लिख लिया है न तब तक वह आत्मा अंदर में आत्म-सुखरूप परिणमन नहीं करेगा, पुरुषार्थसा नहीं होगा। अर्थात् क्या कहना है ?

जीव का अनादि से जो वेग है वह पर पदार्थ में सुख (के निश्चय के) कारण है। राग और राग के फल में सुख है ऐसा जीव को अनादि से निश्चय वर्तता है। यह जब तक आत्मा में सुख के अवभासनपूर्वक छूटे नहीं (यानी कि) 'विचार' से छूट गया वैसे नहीं परंतु अंतर में सुख भासित हो तब छूटे, (ऐसा कहना है)। इसके पहले इसका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

आत्मा अनंतानंत सुख से भरा है। उसकी जो हयाती है - सुख की जो विद्यमानता है, वह विद्यमानता जो 'है' उसकी हयाती का स्वीकार करे नहीं, यानी कि ज्ञान में वह मालूम न हो, भासित न हो, स्वीकार न हो तब तक विपरीत दिशा - विपरीत बात जो पैदा हुई है और कायम रही है वह छूट नहीं सकती। इसके छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है और तब तक चाहे कुछ भी (करे), इसको छोड़कर और कुछ भी करे, वह एक भी सही नहीं है - एक भी सही नहीं। मूल में यह बात है कि अंतर में जो सुख है वह तुझे भासित होता है ? यह बात है। अस्ति से लिया है

कि क्या अंतर में सुख है यह भासित हुआ है ?

श्रीमद्जी ने बहुत सुंदर पैरा लिखे हैं। इसमें एक बहुत सुंदर बात लिखी है। यूँ ही डायरी लिखते हो वैसे ही लिखे हैं। हे जीव ! तू भ्रम में मत पड़। ऐसे खुद को संबोधन करके नहीं लिखते हो वैसे ! हे जीव ! तू भ्रम में मत पड़। तुझे हित की बात कहता हूँ, तुझे सत्य कहता हूँ : सुख अंतर में है, सुख आत्मा में है, तेरा सुख अन्यत्र कहीं नहीं। आता है ? (पत्रांक : १०८) पैरा आते हैं, बहुत अच्छे आये हैं ! अतः अपने सुख को ढूँढ़ने व अपने सुख का अनुभव करने तू कहीं बाहर मत जाना। इतनी बात है।

भीतर में कैसा आत्मिक सुख पड़ा है इसकी (जीव को) कल्पना नहीं है। मूल में तो जगतवासी जीव को अनुकूलता में कषाय की मंदता हो वह सुख और प्रतिकूलता में कषाय की तीव्रता हो, वह (दुःख)। तीव्र आकुलता मतलब दुःख और मंद आकुलता मतलब सुख - बस ! इतना नक्की किया हुआ है, अतः वैसी ही कल्पना करता है। (यहाँ) कहते हैं कि, वहाँ तो दोनों में दुःख है, दोनों आकुलता है। तीव्रता और मंदता दोनों आकुलता के भेद हैं। उसमें कहीं भी निराकुलता नहीं है।

भीतर में जो आत्मा का निराकुल सुख है, वह सुख तो अनंत है और इस सुख की शुरुआत होने के पश्चात् अनंत सुख की प्राप्ति हुए बिना रहती नहीं। ऐसा जो अंतर का आत्मिक सुख है, जिसमें जीव को तृप्ति होती है - यह उसके माने हुए सुख में उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जो कि सुख नहीं है यह उसका उपलक्षण है।

'पश्चात् दुःख ते सुख नहीं' 'बहु पुण्य केरा पुंजथी' (काव्य में)

श्रीमद्जी ने १६ साल की उम्र में यह गाया है कि 'पश्चात् दुःख ते सुख नहीं। वह सुख नहीं है। भीतर में आत्मा को तृप्ति हो ऐसा जो सुख है वही सुख (है)। इस सुख की विद्यमानता अंतर में भासित न हो तब तक जितने ज़ोर से अंदर में आना है - एकदम अंतर्मुख होकर, वेग सहित - पुरुषार्थ सहित जो अंतर्मुख होना है, वह पुरुषार्थ तेरा उत्पन्न नहीं होगा और जो वर्तमान वीर्य गुण का क्षयोपशम - पुरुषार्थ उलटा चलता है (अर्थात्) बहिर्तत्त्व की प्राप्ति का, जुटाने का और इसे भुगतने के लिए तेरा जो पुरुषार्थ उलटा जाता है, वह तेरा पुरुषार्थ मिटेगा नहीं। उलटा पुरुषार्थ (जब) दिशा पलटकर सुलटा हो तब वह आत्मा में 'पुरुषार्थ-सा' हुआ ऐसा कहा जाये, परंतु जो बाहर में उदय प्रसंगों में कूद पड़ता हो वह अंदर में नहीं आ सकता। अतः बहुत मार्मिक पद्धति से यह बात ली है।

इस जीव को अपनेआप से एक प्रश्न पूछने जैसा है कि तुझे क्या अनुकूलता में अंतरंग से सुख का अनुभव होता है ? क्या तुझे बाहर में पैसे आदि की प्राप्ति होती है, संयोगों की वृद्धि होती है - उसमें अच्छापना लगता है ? (यदि लगता है) तो तू अंतर में पुरुषार्थपूर्वक नहीं जा पाएगा।

यह प्रश्न भी पूछने जैसा है कि क्या अंतर में जो अनंत सुख भरा है, इसकी विद्यमानता तुझे भासित होती है ? इतनी बात है। यदि ये सारे सुमेलवाले पहलू स्पष्ट नहीं होंगे तो दूसरा कुछ भी करना नहीं करने के बराबर है। इस एक ही जगह जीव को अपनी शक्ति लगानी चाहिए। दूसरे-दूसरे कार्य में नहीं लगानी चाहिए। इस तरह बहुत अपने को लागू हो वैसा यह २२८ वाँ बोल है। यहाँ तक रखते हैं।





जिनके सिर पर जन्म-मरणरूपी तलवार लटक रही
है - फिर भी जो संयोगों में खुशी मानते हैं, वे पागल
हैं। २३३.



प्रवचन - १४, दि. ७-५-१९८३

(परमागमसार बोल - २३३) जिसने जन्म-मरण का अभाव सम्यग्दर्शनपूर्वक नहीं किया है, जब तक मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब तक जन्म-मरण सामने खड़े हैं, उसका नाश नहीं हुआ, उसका छेद नहीं हुआ। ऐसे जन्म-मरण की जो परंपरा है वह जिसके सिर पर खड़ी है, यानी कि मिथ्यात्व का नाश नहीं हुआ, जब कि शुरूआत वहीं से करनी चाहिए। मिथ्यात्व का नाश होने पर (धर्म की) शुरूआत होती है। यह (मिथ्यात्व) जन्म-मरण और परिभ्रमण का कारण है।

यह मिथ्यात्व पर में निजबुद्धि के कारण है। मिथ्यात्व जो है वह परपदार्थ में और परभाव में निजबुद्धि होने से उत्पन्न होता है।

वह जीव संयोगों में खुशी मानता है मतलब मिथ्यात्व का विशेषरूप से सेवन कर रहा है। पर में निजबुद्धि (करने से खुशी होता है)। खुशी कब होती है जीव को ? जब संयोगों में भी जीव को कल्पना हो जाये कि ऐसे संयोग मुझे प्राप्त हो गये, अब मुझे दिक्कत नहीं है। वैसे जो अनुकूलता में कल्पना करके खुश होता है, राज़ी होता है, सर्वस्व है ऐसा मानता है, क्या मानता है उसे ? सर्वस्व (मानता) है। उसे जन्म-मरण की परंपरा की कोई दरकार नहीं है, यह सिद्ध हुआ। क्या हुआ इसमें ? कि, अब मुझे कब तक जन्म-मरण करने पड़ेंगे ? या उसके नाश का मैं कोई उपाय कर लूँ - ऐसी जिसको दरकार नहीं है और जो संयोग आश्रित परिणाम में तन्मयता से परिणमन करते ही जा रहा है, इसमें भी जीव को रस आता है, इसमें भी जीव खुशी होता है, (यहाँ) कहते हैं कि वह जीव पागल है ! वह पागलपन है, ऐसा कहते हैं। विवेक नहीं है इसलिए पागल कहा जाता है। जगत में भले ही वह समझदार गिना जाता हो और कहा जाता हो।

लोग कहते हैं न ? कि 'पाँच मां पुछाय एवा भाई छे' मतलब भाई में बुद्धि बहुत है और लोग इनकी सलाह लेकर काम करते हैं। वैसे दुनियादारी में भले ही वह समझदार विवेकवंत, बुद्धिशाली, विचारवान कहलाते हो और किसी भी स्थान में हो, फिर भी जिसने जन्म-मरण के नाश की दरकार नहीं की है और वह किये बिना किसी न किसी प्रकार से वह खुश है, संतुष्ट है - कि ठीक है ! हमें कोई दिक्कत नहीं है, यहाँ भगवान उसको 'पागल' कहते हैं।

लोगों के समझदार कहने से उसके जन्म-मरण नहीं मिट जाते ! लोग मान देवें, हार पहनाये, सन्मान करे, सन्मानपत्र दें, देते हैं

न लोग ? रिवाज़ है कि नहीं ? इससे कोई जन्म-मरण का नाश नहीं हो जाता या इससे आत्मा में कोई लाभ हो जाये ऐसा नहीं है। इसको लेकर आत्मा में कोई शांति हो, दूसरे मान देवें इससे खुद को शांति हो, सभी संयोग अनुकूल (हो जाये), सारी दुनिया अनुकूलता में बदल जाये तो अंदर में शांति हो, ऐसा कोई प्रकार नहीं है। फिर भी कल्पितरूप से उसमें राज़ी होना, कल्पना में रत होकर राज़ी होना वह काम पागल जैसा है। ऐसा यहाँ कहते हैं।

प्रश्न :- वैसे तो यहाँ हररोज़ सुनने आते हैं। जन्म-मरण के नाश हेतु तो सुनते हैं ?

समाधान :- जन्म-मरण का नाश मिथ्यात्व के नाश से होगा। ऐसा नहीं कहा कि, हररोज़ सुनने से नाश हो जाएगा, हररोज़ पढ़ने से नाश हो जाएगा, परंतु भीतर में यदि मिथ्यात्व का नाश हो और सम्यक्त्व प्रगट हो तो नाश होगा, जन्म-मरण का नाश होगा। इसके अलावा सब बाह्य क्रिया में जाता है। जितना भी बाह्य में दिखाव होता है या आत्मा की अंतर्मुख होने की अंतरंग क्रिया के अलावा जितनी भी क्रियाएँ हैं - विकल्प-विचार से लेकर मन-वचन-काया की जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब बाह्य क्रिया हैं। भीतर से आत्मा में बदलाव आये नहीं तब तक कोई चीज़ जीव के खुद के काम की नहीं है, ऐसा है। भीतर से आत्मा में बदलाव आ जाना चाहिए।

इस जगतमें से सुख लेने का जिसको कोई प्रयत्न नहीं करना है, ठीक ! और जो कुछ प्रयत्न है - पुरुषार्थ की पूँजी है, उसका भीतरमें से शांति प्राप्त करने के लिए उपयोग करना है। पुरुषार्थ तो शक्ति है न ! गुणमें से शांति प्रगट करने के लिए जिसको

शक्ति का प्रयोग करना है साथ ही किसी अन्य तरीके से - विकल्प से, विचार से, किसी शुभभाव से, किसी अन्य प्रकार के परिणाम से, अन्य द्रव्य से, अन्य भाव से कहीं भी शांति नहीं है, ऐसा जिसको यथार्थ समझ में आया है, यानी कि (गुणमें से सुख लेने) का प्रयत्न जिसका चालू है - ऐसा जिसकी यथार्थ समझ में बैठ गया उसका विपरीत दिशा में प्रयत्न नहीं चलेगा। उलटा प्रयत्न नहीं चलेगा सुलटा ही चलेगा, तब उसके जन्म-मरण का नाश होगा।

क्या भूतकाल में व्यतीत पूर्व भवों में शास्त्र नहीं पढ़ें होंगे ? स्वाध्याय नहीं किया होगा ? पूर्वानुपूर्व बाहर में तो सब किया ही है। जो रह गया है वह तो अंतर्मुख होकर मिथ्यात्व का नाश नहीं किया है। यानी की जन्म-मरण की तलवार सिर पर लटक रही है, ऐसा कहते हैं। कब गिरेगी, आयुष्य कब पूरा होगा यह पता नहीं है फिर भी जन्म-मरण के नाश का प्रयत्न करने के बजाय संयोग के पीछे दौड़ लगायी है ! उदयमान संयोगों में तन्मय होकर परिणमन करके इसमें अनुकूलता की कल्पना मान रखी है। संयोगों में खुशी का अर्थ इतना है कि जो भी प्राप्त उदय है, उसमें जीव की ठीकपने की (कल्पना चलती है) कि ठीक है, यह मुझे ठीक है, इतना तो ठीक है, वैसे इसकी हयाती का स्वीकार करता है, संयोग की हयाती का स्वीकार करता है। जिसमें अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्य की हयाती का स्वीकार रह जाता है, जो इसका अनादर है, वह पागलपन है, बेवकूफी है, मूर्खता भरा कार्य है - ऐसा ही कहलायेगा न ? पागल कहो या मूर्ख कहो, ऐसी बात है।

ऐसा कहकर यों कहते हैं कि जागृत होकर तू अपने स्वरूप

प्राप्ति के प्रयत्न में लग जा ! अन्य सर्व दिशाओं से, अन्य सर्व कार्यों से उदास हो जा ! सावधानी छोड़कर उदास हो जा ! एक ही स्वकार्य में - निजकार्य में सावधान हो जा, ऐसा कहना है। इसमें से तात्पर्य यह निकलता है। पूरे उद्यम से यदि सावधानीपूर्वक स्वकार्य की प्रवृत्ति की जाये तो इसमें सफलता प्राप्त होगी, होगी और अवश्य होगी। यह **Guaranteed** बात है। क्योंकि इसमें स्वाधीन पुरुषार्थ है।

यहाँ ऐसा नहीं है कि कोई पूर्वकर्म का बंधन बाधारूप हो, ऐसा नहीं है। चारों गति में सम्यक्दर्शन (होता है)। सातवीं नरक में गया होगा उसने कितने निकृष्ट कर्मबंधन किये होंगे ? जो जीव सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ है उसने कैसे भारी कर्मों का बंध किया होगा ? फिर भी वहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब यह जीव स्वकार्य में उद्यमवन्त होता है तब वह पूर्वकर्म के उदय से भिन्न हो सकता है। वर्तमान में यदि पुरुषार्थ किया जाये, वैसे तो सहज ही है लेकिन 'किया जाये तो' ऐसा कहा जाता है, तो पूर्वकर्म के उदय से अच्छी तरह भिन्न हो सकता है। भिन्न होकर अपने सिद्ध समान शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर सकता है, अच्छी तरह कर सकता है।

मुमुक्षु :- संयोगों में है तो दुःख लेकिन खुशी मान लेते हैं।

पूज्य भाईश्री :- संयोगों में दुःख है मतलब संयोग प्रत्ययी परिणाम के कारण दुःख है। संयोगों की अनुकूलतारूप परिणाम से दुःख है और जो संयोगों को प्रतिकूल मानता है वह तो प्रत्यक्ष दुःखी होता ही है। वह तो दुःख की कल्पनावश ही परिणमन करता है।

यहाँ तो भगवान कहते हैं कि सुख की कल्पनापूर्वक परिणमन

कर रहे जीव कहते हैं कि हमें तो सब प्रकार की अनुकूलताएँ प्राप्त हैं ! कोई दिक्कत या तकलीफ नहीं है और जितने पासे फेंकते हैं सब सुलटे पड़ते हैं। (कृपालुदेव के पद में) आता है न ! 'पासा बधां सवळा पड़या, जन जाणीये मन मानीये नव काळ मूके कोईने।' जिसके उलटे पासे भी सुलटे फलीभूत हो ! ठीक ! पुण्य के उदय अनुसार सब उदय स्वतः अपना स्थान ले लेते हैं। यह जीव इसका धनी होकर सवार हो जाता है कि जैसे मैंने किया, मैंने अपनी बुद्धिचातुर्य से किया ! जबकि इस बात में कोई दम नहीं है।

(कृपालुदेव ने) बहुत छोटी उम्र में यह काव्य लिखा था। 'जन जाणीये मन मानीये नव काळ मूके कोईने।' उस काव्य में सब ऐसे दृष्टांत लिये हैं कि जगत में पुण्यवंत जीवों के अनेक भेद हैं। राजा है, सेठ लोग हैं, राजकीय लोग हैं - (ऐसे) सभी प्रकार लिए हैं। पूरी सत्ता मिली हो। परंतु इतनी तेज़ी से काल का प्रवाह चल रहा है कि एक सेकंड में असंख्य समय जाते हैं। करोड़ों, अरबों समय नहीं, अरबों के अरबों समय नहीं असंख्य समय जाते हैं। एक सेकंड में इतनी तेज़ी से काल का चक्र फिर रहा है कि जिसके आगे ये घड़ी के काँटे तो बहुत स्थूलरूप से फिरते हैं। इस काल के प्रवाह को कोई नहीं रोक सकता। सौ-पचास साल की जिंदगी में इतने प्रपंच में फँसता है कि आयुष्य पूरे होने के समय को आने में देर नहीं लगती है।

कहते हैं कि, वह जीव सुनहरा मौका चूक गया। ऐसी मनुष्य पर्याय में जहाँ सत्, देव, शास्त्र, गुरु और सच्चे सिद्धांत, आत्मा का हित हो वैसा सर्व प्रकार का बाह्य वातावरण अनुकूल होने के बावजूद भी अपने हित के कार्य को छोड़कर अन्यत्र यानी कि

अहित के कार्य में लगा तो इससे तो अहित ही होगा। इसे फिर मूर्ख न कहे, पागल न कहे तो और कहे भी क्या ? ऐसा कहते हैं। वह जरूर मूर्ख है और अवश्य पागल है। यह २३३ (पूरा) हुआ।



तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाला जीव अगर अवलोकन पद्धतिमें नहीं आये तो अध्यात्मके विषयका जानकार बन जाता है, फिर भी वेदन-अनुभवके विषयसे अनभिज्ञ रहता है। अतः विधिके विषयमें 'जानकारीकी प्रधानता' सम्बन्धित (स्थूल) जानकारी हो जाने पर भी, अनुभवकी सूक्ष्म, यथार्थ विधिसे अनजान होता है, क्योंकि विचारकी पहुँच ज्ञानसामान्य या जहाँ ज्ञानवेदन है, वहाँ तक नहीं है। इतना ही नहीं अवलोकनके बिना परलक्ष मिटनेकी दिशामें कोई भी वास्तविक प्रक्रिया शुरू नहीं होती। अतः सर्व जानकारी परलक्षी होती है।

उसमें न्यायादि आगम अनुकूल होने पर भी यथार्थता उत्पन्न नहीं होती, अध्यात्मका आशय बुद्धिगम्य होने पर भी, भाव भासित नहीं होता। अतः 'स्वलक्षी अवलोकनमें' बहुत गंभीरता है। भावभासन बिना सन्मुखताका पुरुषार्थ शुरू नहीं होता।

- पूज्य भाईश्री (अनुभवसंजीवनी - १०४०)



• सत्-प्राप्ति के लिए यदि सारी दुनिया बिक जाए, •
• पूरा जगत चला जाए तो भी आत्मा को न गँवाया •
• जाए। २३४. •



प्रवचन - १५, दि. ७-५-१९८३

(परमागमसार) २३४ वाँ बोल। 'सत्-प्राप्ति के लिए यदि सारी दुनिया बिक जाए, पूरा जगत चला जाए तो भी आत्मा को न गँवाया जाए।' क्या कहते हैं ? बिक जाए (शब्द) है न ? वह मूल्यांकन सूचक है। सारे जगत की कीमत सत् के आगे कम है। एक पलड़े में सत् है या अपना आत्मा है, आत्मा का हित रहा है, तराजू के दूसरे पलड़े में सारा जगत रखा जाए तो भी खुद का पलड़ा झुकना चाहिए।

मनुष्य जगत की महत्ता के पीछे, जगत में प्रसिद्धि के पीछे अपना अहित करता है। जगत में अपनी कल्पित महत्ता - मानी

हुई स्थिति बनी रहे इसके लिए प्रयत्नवंत रहता है या असत्य कार्यो में प्रवर्तता है। प्रवृत्ति करता है मतलब असत् कार्यो में प्रवर्तता है।

(यहाँ) कहते हैं कि जिसको सत् की कीमत आयी है उसको सारा जगत असत् भासित होता है। यह जो बोला जाता है न ? शंकराचार्य का जो सूत्र है 'ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या।' मूल में तो वह दिव्यध्वनि का विषय है। मिथ्या मतलब असत्य। ब्रह्म सत्य है और जगत असत्य है। मिथ्या है मतलब असत्य है। परंतु जो लोग उसका भावार्थ (यानी कि) आशय समझ नहीं सके उन्होंने ऐसा मान लिया कि जगत में कोई एक परम ब्रह्म है। उस एक ही का अस्तित्व है। दूसरा जो भी दृश्यमान पदार्थरूप जगत दिखता है, ऐसे पदार्थ मानो जैसे कोई हैं ही नहीं !! जीव को ऐसी-ऐसी मिथ्या कल्पनाएँ होती हैं। जैसे मृगजल की कल्पना होती है वैसे इन दृश्यमान पदार्थों की कल्पना होती है। जगत में एक कोई अस्तित्व रखता है तो वह एकमात्र परम ब्रह्म है। ऐसा अर्थघटन करके उस दिशा में मिथ्या कल्पना का विकास किया। फिर इनके शास्त्र (बनाये) इसका Logic और इसका अनुसरण करनेवाले की बड़ी संख्या... इसकी धमाल और पूरा तूफान दिखता है। (परंतु) ऐसा नहीं है।

हकीकत में तो सत् ऐसा जो अपना आत्मा और सत् माने आत्मप्राप्ति का मार्ग-उपाय बस ! इतना ही सत् है, उसे आत्मा कहे। इसके लिए सारा जगत बिक जाए ! जगत के किसी भी पदार्थ की (इतनी) कीमत नहीं है कि सत् को गौण करके इसको मुख्य किया जाये। कीमत तो तभी करता है न ? अनादि से जगत की कीमत की है परंतु अपनी कीमत नहीं की - यह परिस्थिति है।

‘सत्-प्राप्ति के लिए यदि सारी दुनिया बिक जाए,...’ खुद के कब्जेमें से चला जाए, सारा जगत चला जाए, लुट जाये। अपना माना हुआ जगत पूरा लुट जाए। या तीनलोक में खुद की सत्ता हो तो वह भी भले ही चली जाए, ऐसा कहते हैं। भले ही जगत चला जाए परंतु आत्मा को गवाँ नहीं सकते। यह विषय तो थोड़ा विशाल भी है कि किसी भी हालात में जीव जब एक सत् को ही थामे रहने के लिए कटिबद्ध होता है, प्रयत्नवंत होता है तब फिर उसे जगत की कोई दरकार नहीं रहती।

मुख्यतया तो इस (मनुष्य) पर्याय में छोटे से लेकर बड़े तक सब को मान का प्रकार विशेष है। ‘मान नहीं होता तो मोक्ष हथेली में होता।’ भले ही बाहर में पुण्यवंत नहीं भी हो तो भी ऐसा कहेगा कि अगर हमारे स्वमान की रक्षा होगी तो ही हम आना चाहेंगे, वरना हमारे मान की रक्षा नहीं होगी तो हम नहीं आ सकते। मान का विषय खास है, मुख्य है। और जीव इसी मान की खातिर प्रवृत्ति करता है। श्रीमद्जी तो कहते हैं कि आत्मार्थी को निंदा-प्रशंसा हेतु कोई भी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। ऐसा करूँगा तो दूसरे प्रशंसा करेंगे या ऐसा करूँगा तो दूसरे निंदा करेंगे और मेरी इज्जत को धक्का पहुँचेगा, कम होगी। ऐसे हेतु से - ऐसे प्रयोजन से कोई भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। दान दूँगा तो मेरे नाम की प्रसिद्धि होगी या मेरे नाम की प्रसिद्धि हो वैसे दान दूँ। आदमी नाम लिखाता है न अपना ?

हम सम्मेशीखरजी और इसके आसपास यात्रा में गये (थे)। (वहाँ देखा कि) छोटी से छोटी चीज़ पर लोगों ने अपना नाम लिखाया है। मंदिर में एक चौकी दी हो तो उस पर नाम लिखेंगे - फलाने बहिन ने यह चौकी दी है, फलाने भाई ने यह चौकी दी

है। पंखा लगाया हो उस पर भी नाम लिखा हो ! अलमारी दी हो तो उस पर नाम लिखवायेंगे। छोटी से छोटी (चीज़) से लेकर बड़ी-बड़ी चीज़ों में हर ज़गह (नाम लिखवायेंगे)। दिगंबर संप्रदाय में (चलता) है ! मंदिर में अपने नाम का महत्त्व ! फलाने-फलाने के पोते ने - ऐसा (करके लिखवायेंगे)। अपने यहाँ तो व्यवस्था अच्छी थी। गुरुदेवश्री का ध्यान था। किसी के शरती दान का स्वीकार ही नहीं करना। कोई नाम देना चाहे तो उसका दान नहीं लेना। किसी भी ज़गह अपने मंदिर में या सोनगढ़ के किसी स्थान या मंदिर में नाम की प्रथा नहीं है। क्योंकि जीव उसे अपना नाम मानता है परंतु वास्तव में अनामी को नाम कहाँ ? एक तरफ से देहात्मबुद्धि को छोड़नी है और दूसरी तरफ कहेगा मुझे मेरा नाम चाहिए ! (कोई) ऐसी चेष्टा करते हैं (क्योंकि) सब समझदार नहीं होते, समाज में सब समझदार नहीं होते, फिर भी ऐसा करनेवाले की हमारे यहाँ की टीका-टिप्पणी होती है कि, देखो ! नाम का उसे मोह है ! इसलिए नाम लिखवाने की, नाम रखने की बात चलती है - यह करने जैसा नहीं है।

वहाँ कोई श्रीमंत है इसलिए कैसे बोले ? ऐसा प्रकार नहीं होता। वह पद्धति आत्मा को नुकसान करनेवाली है, इसमें तो पुण्य भी नहीं है। अरे ! पुण्य तो नहीं होता परंतु इसमें पाप की मुख्यता होने से उसे पाप परिणाम कहा जाता है। पुण्य तो उसमें है नहीं। उसमें मान कषाय की तीव्रता है और इसलिए वह पाप के खाते में गिना जाता है। पुण्य के खाते में इसकी खतौनी नहीं की जाती। यह स्पष्टरूप से असत् प्रवृत्ति है, लीजिए !

प्रश्न :- दान लिखानेवाले सब के नाम तो छपते हैं !

समाधान :- इसके पीछे इतना हेतु है कि दूसरों को भी प्रोत्साहित

करना - ऐसा एक हेतु है। लेकिन इसकी भी Side effect (आड़ असर) नहीं आये ऐसा जरूरी नहीं है। इसमें भी अवगुण ऐसे प्रगट होता है कि, मेरा नाम आया कि नहीं ? इसमें मेरा नाम है कि नहीं ? मैंने जो दिये थे इसका जिक्र इसमें है कि नहीं ? या नाम जाहिर करना भूल जाये तो चलाकर के याद दिलाने जाए कि भाई ! मैंने लिखवाये हैं, पैसे दिये हैं फिर भी मेरा नाम क्यों नहीं आया!

मुमुक्षु :- कहीं बेठिकाने नहीं हो जाये !

पूज्य भाईश्री :- हिसाब में बेठिकाने होने का तो सवाल नहीं है। वैसे तो भाईसाब ने रसीद कटवाली हो ! स्टाम्प लगायी हुई रसीद ले ली हो ! इसलिए पैसे तो बेठिकाने नहीं होने देगा। परंतु यहाँ तो बाहर में (मान के लिए) बेठिकाने नहीं होने देगा ! दूसरे भी सुने ! मेरा नाम भी दूसरे लोग सुने कि मैंने दिया है। अरे ! ऐसे मुमुक्षु भी होते हैं, कहेंगे कि मेरा नाम नहीं। 'एक मुमुक्षु की ओर से' (ऐसा लिखायेंगे)। भाई भी नहीं बहन भी नहीं। एक मुमुक्षु की ओर से - ऐसे जाहिर करवायेंगे और कर भी सकते हैं। वहाँ कोई नाम देना ही पड़े ऐसा तो कुछ है नहीं। परंतु कोई विशिष्ट योग्यतावान का नाम दान देने में प्रकट हो, तब इससे हीन योग्यतावाले को भी एक भावना होगी कि, क्या ऐसे योग्य जीव भी यहाँ अर्पणता करते हैं ! दान मतलब समर्पण, अर्पण करना - फिर तो हमें भी करना चाहिए। ज्ञानी भी ऐसा करते हैं तो हमें भी करना चाहिए, ऐसा एक हेतु निहित है। इस हेतु की रक्षा हो जब तक तो ठीक है। लेकिन यह हेतु यदि मारा जाए या अन्य किसी भी प्रकार के परिणाम हो, परिणाम में अन्य कोई प्रयोजन खड़ा हो जाये, तो वह बात तो खुद को नुकसान करती

है। वह लाभ की बात नहीं रहती।

करना, करवाना और अनुमोदन करना (तीनों का) फल एक-सा है। तारतम्यता अलग-अलग होने से रस में कमी-बेशी होगी। खुद करे तब तीव्र रसपूर्वक करे, दूसरे से करवाये या अनुमोदन करे तो रस कम भी होना संभव है। या कभी तो उसमें भी तीव्र हो जाता है। परंतु सबका फल एक है - करना, करवाना, अनुमोदन करना - सबका एक ही फल है।

प्रश्न :- जो नाम के लिए दान करता है, उसके अनुमोदन से क्या फल मिलेगा ?

समाधान :- अनुमोदना किसकी करता है ? पाप परिणाम की या उसने जो अर्पणता की है उसकी ? यदि अर्पणता की अनुमोदना करता है कि, अर्पणता अच्छी है, तो तथारूप पुण्यबंध होगा और यदि उसके नाम की जैसी प्रसिद्धि हुई वैसी मेरी भी होनी चाहिए - ऐसी मेरे नाम की जयजयकार कब हो ? यह भाई दानादि देते हैं और उनका नाम चारों ओर लिया जाता है। सब जगह उनके नाम की बोलबाला है। एक-एक बात पर उसका नाम लिया जाये, सब जगह पैसा दे - मैं ऐसा कब करूँ कि, मेरा नाम हर जगह लिया जाए ! ऐसे परिणाम से तो पापबंध होता है। और यदि अर्पणता को देखकर ऐसी अर्पणता का भाव मुझे भी प्रगट हो कि, इस सन्मार्ग का उद्योत करने के लिए पेट काटकर भी यह करने जैसा कार्य है। ऐसा समर्पण भाव भी आता है। वहाँ करना, करवाना, अनुमोदन देना अच्छा है।

मुमुक्षु :- बिना पैसे अनुमोदन हो जाए !

पूज्य भाईश्री :- मतलब क्या मायाचारी करने का इरादा है ? हम तो (पैसे) बचायें और दूसरों का (अनुमोदन करें) !! लेकिन

यहाँ कर्म को तो किसी की शर्म नहीं है। बाहर में लोग तो कहते हुए शरमायेंगे क्योंकि लगेगा कि, भाई थोड़ी इज्जतवाले आदमी हैं, हम कहाँ कुछ कहें ? अच्छा नहीं लगेगा। लेकिन ये कर्म के परमाणु किसी की शर्म नहीं रखते ! जैसे परिणाम होंगे वैसा ही कर्मबंध होगा। कुदरत के क्रम को नहीं बदल सकते, कुदरत को नहीं रोक सकते, ऐसा है। बाहर से अच्छा दिखावा करे और भीतर में मायाचार के परिणाम होंगे, तो इसमें तो जगत के दूसरे जीव - भोलेभाले लोग धोखा खायेंगे किन्तु (कर्म धोखे में नहीं आयेंगे)।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि, अंतर-बाह्य सत् के लिए पूरा जगत बिक जाए तो भी जगत में किसी की परवाह करने का प्रश्न नहीं है। (भीतर में) अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिए और बाहर में सत् से लगे रहने में सारे जगत का नुकसान हो (यानी कि) खुद के कब्जे में हो वह सब चला जाए, पूरा जगत चला जाए तो उसको छोड़ सकते हैं किन्तु आत्मा को - सत् को नहीं छोड़ सकते। यह (बात) ऐसी है कि जो सत् से लगे ही रहते हैं, सत् के लिए ही जिसकी छटपटाहट है, सत् के लिए जो पूरी कुरबानी देने के लिये तैयार है वह अंततः लोकाग्र में बिराजमान होता है। क्योंकि ऐसे जीव को जगत में - जगत का कोई भी पदार्थ या सारा जगत इष्ट नहीं है, एक मात्र सत् ही उसके लिए इष्ट है। यह २३४ हुआ।





.....



.....



जिसकी महिमा की होगी, उसकी महिमा मृत्यु के समय भी नहीं छूटेगी। राग-द्वेष और संयोग की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी। आत्मा की महिमा की होगी तो नहीं छूटेगी, जो कीमती लगा होगा - उसकी कीमत नहीं छूटेगी। २३८.



.....



.....



प्रवचन - १६, दि. १५-५-१९८३

परमागमसार, पन्ना ४३ बोल :- २३८। 'जिसकी महिमा की होगी, उसकी महिमा मृत्यु के समय भी नहीं छूटेगी।' बोल का विषय क्या है ? कि जीव कीमत कर लेता है, मूल्य दे देता है, बाह्य पदार्थों को कीमत दे देता है। जगत के तमाम जीव, जगत के समस्त जीव बाह्य पदार्थ की कीमत करते हैं, बाह्य संयोग की कीमत करते हैं। आत्मा को छोड़कर अनेक प्रकार के द्रव्य-भावों का जो मूल्य किया जाता है, ऐसा मूल्यांकन करना - ऐसी एक प्रवृत्ति जीव करता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है, ऐसा यहाँ

कहना चाहते हैं।

मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए ऐसा कहते हैं कि जिसकी कीमत कर ली होगी वह कीमत नहीं छूटेगी। इस पर से कहना यों चाहते हैं कि अगर आत्मा की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी। आगे वह बात लेते हैं।

'राग-द्वेष और संयोग की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी। आत्मा की महिमा की होगी तो नहीं छूटेगी, जो कीमती लगा होगा - उसकी कीमत नहीं छूटेगी।' यहाँ (कहने का) अभिप्राय क्या है ? पूज्य गुरुदेवश्री इस ग्रंथ में आगे भी यह बात कर गये हैं कि, आत्मस्वरूप को छोड़कर किसी भी अन्य द्रव्य में, अन्य भाव में जहाँ कहीं भी इस जीव की अधिकता रहती है, वह जीव को बाहर में रुकने का कारण है और आत्मा में नहीं आने देने में कारण है।

प्रायः मुमुक्षुजीव ऐसी भावना रखता है, इच्छा रखता है कि मुझे आत्मस्थिरता प्राप्त हो, मैं आत्मा में रहूँ, मैं आत्मा में आ जाऊँ - ऐसी भावना भाता है। फिर भी इस भावना के अनुसार कार्य नहीं होने का कारण क्या है ? इसका यह स्पष्ट उत्तर है कि जिसको कीमत दी होगी उस तरफ जीव झुकेगा। जीव के परिणाम कहाँ झुकते हैं ? या किस विषय में जीव के परिणाम मग्न होते हैं ? कि जहाँ वह कीमत दे देता है वहाँ उसके परिणाम मग्न होते हैं। ऐसा कहना है।

सर्व ज्ञानियों ने ऐसा क्यों कहा कि आत्मा को पहिचानो ! वहाँ आत्मा की पहिचान में आत्मा की कीमत करने का सवाल है, आत्मा का मूल्यांकन करने का सवाल है। जो कि सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, परमोत्कृष्ट तत्त्व है। इसको पहिचानने से इसके प्रति यानी

कि स्व-स्वरूप के प्रति जीव के परम उत्कृष्ट परिणाम होते हैं। परम उत्कृष्ट आदरणीय परिणाम होते हैं और साथ ही साथ जगत के पदार्थ, संयोग, राग-द्वेष के प्रति जो कीमत जीव ने दे रखी है वह कीमत उसकी चली जाती है। वरना बाह्य पदार्थ की कीमत छूटने का कोई उपाय नहीं है।

कोई प्रश्न करे कि बाह्य पदार्थ मतलब लाखों की दौलत हो उसे छोड़ दे, तो त्याग करते वक्त जीव ने उस पदार्थ की कीमत छोड़ दी या जो कीमत दे रखी थी उसे मिटा दी है, यह सत्य है कि नहीं ? तब उत्तर देते हैं कि, स्वरूप की पहचान हुए बिना, बाह्य पदार्थ त्याग करने योग्य है, इसकी कोई कीमत नहीं है या उन पदार्थों के प्रति लगे हुए परिणाम आत्मा को दुर्गति का कारण है, अहित का कारण है, दुःख का कारण है; इसलिए भी वे सेवन के योग्य नहीं है और छोड़ने योग्य है, (ऐसा लगे) तो भी इसकी कीमत नहीं छूटेगी। यहाँ दूसरा मुद्दा है। अभी जो Point है वह इतना है कि इसकी कीमत किस प्रकार छूटी है ? इतना सवाल है।

'लाखों की दौलत मैंने छोड़ी' - इस भाव में उसने लाखों की दौलत को दी हुई कीमत को कायम रखी है। 'मैंने इतना महान त्याग किया !' - इसमें जिस (चीज़) का त्याग किया उसकी महानता को कायम रखा है, इसको अधिकाई दे रखी है। जब तक यह कीमत, स्वरूप की पहचान के फल में उत्पन्न स्वरूप की कीमत द्वारा छूटे नहीं - तब तक इस विषय में सम्यक् प्रकार से जो कार्य होना चाहिए (वह नहीं होता)। धर्म के विषय में, धर्म की बाबत में सम्यक् प्रकार से जो कार्य होना चाहिए वह प्रकार उत्पन्न नहीं होता। एक दृष्टि से देखा जायें तो यह बोल बहुत महत्त्व

का है ! बहुत प्रयोजनभूत बोल है ! तमाम परिणाम का आधार कीमत कहाँ दी है उस पर है।

मुमुक्षु :- पैसे की कीमत लगती है तो करते हैं।

पूज्य भाईश्री :- वह तो सारी दुनिया करती है, इसमें नई बात क्या है ? वीतरागी मार्ग की बात लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है ! लौकिक में तो पैसे को ही कीमत दी जाती है, इसमें भी जब पुण्य के फल में स्वर्ग में जाता है तब तो यहाँ के पैसे और संयोग तो इसके आगे कुछ है ही नहीं, इतनी वैभवशाली परिस्थिति है वहाँ पर ! पौद्गलिक वैभव इतना है ! परंतु इससे क्या ? ऐसा कहते हैं। अनंतबार वह सब मिल चुका है।

इस जीव को हलके से हलके, अत्यंत द्ररिद्र संयोग और उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट ऐसे (पुण्य) - मिथ्यादृष्टि को जिस मर्यादा में बंधे (ऐसे) पुण्य; सम्यक्दृष्टि के पुण्य तो अलग प्रकार के होते हैं; मिथ्यादृष्टि को जो उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पुण्य की मर्यादा है, यहाँ तक के परिणाम और उसके फल सब प्राप्त हो चुका है परंतु जीव को कहीं भी सुख नहीं मिला। इन सबके होते हुए भी उसे कहीं सुख मिला हो सो बात नहीं बनी। क्यों नहीं बनी ? (क्योंकि) अपना जो महान अद्भुत से अद्भुत शुद्धात्मस्वरूप है, सिद्ध समान परमात्मस्वरूप है, उसकी कभी जीव ने कीमत नहीं की। उसकी कीमत नहीं आयी इसका कारण यह है कि इसकी पहचान नहीं हुई। इसलिए किसी न किसी बहाने - धर्म के बहाने या अन्य किसी भी प्रकार से अन्य द्रव्य और अन्य भाव की, पर पदार्थ की और परभाव की ही कीमत करने में जीव अटका है।

जब तक यह कीमत का मामला योग्य स्थान में नहीं आता तब तक अपने हित के विषय में एक तसु जितना, अंश मात्र भी

आगे बढ़ने का प्रसंग नहीं है - अवसर नहीं है। इसलिए यह महत्त्व का विषय है।

प्रश्न :- अब करना क्या ?

समाधान :- पहचानपूर्वक मूल्यांकन करना। अपने स्वरूप को पहचानना। पहचान करने में गर्भितरूप से यही कहना है कि उसकी कीमत करो ! जब तक इसकी कीमत नहीं आएगी, तब तक किसी अंश में भी आत्महित का कार्य होगा यह 'न भूतो न भविष्यति !' किसी भी काल में - तीन काल में किसी भी जीव के लिए संभव नहीं है। यह परिस्थिति है।

अब यहाँ प्रथम पंक्ति जो है इसमें कहते हैं कि पूरी जिंदगी तुने जिसकी कीमत की होगी वह मृत्यु के काल तक नहीं छूटेगी। मृत्यु पर्यंत जिसको कीमत दी होगी उसीकी ओर तुम्हारे परिणाम झुकेंगे।

प्रायः मृत्यु का जो प्रसंग है इस बारे में ज्ञानियों का यह विधान है कि पूरी जिंदगी जीव ने जो रस लिया होगा, जिसको महत्त्व दिया होगा, मृत्यु के समय तथारूप परिणाम उसके हो जाते हैं। यानी कि जिस विषय में इसकी रुचि हो, जिसको कीमत दे दी हो, जो-जो कल्पना करके जीव ने कीमत दे दी हो, वह सारी की सारी कल्पनाएँ मुख्य होने लगेगी। फिर चाहे कुटुंब को महत्त्व दिया होगा तो उसके प्रति परिणाम चलेंगे, पैसे को महत्त्व दिया होगा तो दुकान आदि के परिणाम चलेंगे, समाज को महत्त्व दिया होगा तो वहाँ परिणाम चलेंगे। जिस-जिसको महत्ता दी होगी इसके प्रति परिणाम हो जाते हैं और वैसे परिणाम सहित उसका देहत्याग होता है।

प्रश्न :- फिर क्या होगा ?

समाधान :- कुगति होगी ! फिर क्या होगा मतलब ? फिर कुगति होगी। यहाँ मनुष्य पर्याय में निजहित का विवेक करने का मौका मिला है। ऐसा मौका फिर अनंत काल तक नहीं मिले ऐसी परिस्थिति हो जाएगी ! ऐसा होगा।

प्रश्न :- अनंत काल जितना लंबा समय क्यों लिया ?

समाधान :- क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय है न ! मिथ्यात्व में अनंतानुबंधी कषाय है। इतना ही नहीं अभी जो मौका मिला है यह कोई साधारण बात नहीं है। कल एक भाईने (सोनगढ़ में) स्वाध्याय देते वक्त एक अच्छी बात कही थी कि एक तो मनुष्यभव मिलना दुर्लभ इसमें भी देव-गुरु-शास्त्र, वीतराग देव-गुरु-शास्त्र मिलना तो दुर्लभ से भी दुर्लभ है। अभी विश्व में अरबों मनुष्य हैं। इसमें वीतराग देव-गुरु-शास्त्र का संयोग कितने को ? बहुत कम जीव हैं। अब इसमें भी ऐसा संयोग होने के पश्चात् इसके स्वरूप को समझने के लिए प्रयत्नवंत जीव कितने ? कि, यह वीतरागता क्या चीज़ है ? वीतराग देव-गुरु और शास्त्र में वीतरागता Common है - सामान्य है। देव-गुरु और शास्त्र इसके विशेष हैं। देव-गुरु-शास्त्र तो वीतरागता के विशेष हैं। तीनों में वीतरागता सामान्य है। वास्तव में तो ऐसा है। इस वीतरागता के स्वरूप को देव के निमित्त से, गुरु के निमित्त से, शास्त्र के निमित्त से समझने के लिए प्रयत्नवंत जीव कितने ? कि, बहुत ही अल्प संख्या है। ऐसी इस परिस्थिति में यह मौका मिला है। ऐसा समझना चाहिए, इसकी पहचान करने की बात विचार की भूमिका तक आ गयी, इस स्थान तक आ गयी। यह मौका बहुत दुर्लभ है।

इस विषय में यहाँ तक आने के पश्चात् अब गंभीरतापूर्वक (निजस्वरूप को) पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए, माने इसका

निर्णय करना चाहिए। निर्णय होते ही इसकी अनन्य रुचि उत्पन्न होगी, निर्णय होते ही अंतर पुरुषार्थ की जागृति आएगी, चैतन्यवीर्य की स्फुरण होगी। अपने स्वाध्याय में अभी-अभी बोल आया था कि वह अवश्य सम्यग्दर्शन (प्राप्त करेगा)। विपरीत परिणाम तो क्षणिक होते हैं फिर भी इसका फल क्यों लंबे समय तक ?

सुभौम चक्रवर्ती। उसकी ७००-८०० साल की आयु थी और गया नरक में ३३ सागर की स्थिति में ! अब ७०० साल के आयुष्य में भी कुछ साल बचपन में बीते होंगे वहाँ तो अभी चक्रवर्तीपद नहीं होने से इतना तीव्र रस भी नहीं होता। परंतु जब चक्रवर्तीपद के पुण्योदय की शुरुआत होती है तब से रस वृद्धिगत होता है और वह रस वृद्धिगत होने से जो भी विपरीत दिशा में तीव्र परिणाम हुए, इतने मर्यादित समय में सागरोपम का नरक का आयुष्य बंध गया ? कि, उसका कारण है कि परिणाम भले ही अल्पकालीन हो (परंतु) इसका फल दीर्घकालीन होता है। परमात्मा की कीमत नहीं करने का यह नतीजा है। दूसरी भाषा में कहे तो परमात्मा की उपेक्षा, परमात्मा का अनादर किया वह इसका कारण है, अनादर का फल है।

प्रश्न :- निज परमात्मा के अनादर की बात है ?

समाधान :- हाँ, निज परमात्मा की बात है। निज परमात्मतत्त्व, निजपरमात्मद्रव्य की बात है। बाहर में अन्य परमात्मा की कीमत भी तभी तो होती है ! तब तक तो दूसरे परमात्मा की कीमत (भी यथार्थ प्रकार से नहीं होती)। जो परमात्मदशा को प्राप्त हैं उनके प्रति बहुमान कब आयेगा ? कि, जब वीतरागता की पहचान होगी तब। वरना कुलपद्धति से और कुलपरंपरा से तो हर कोई अपने-अपने इष्टदेव को परमात्मा मानते ही हैं। मुसलमान खुदा को

मानते हैं। उसके परिणाम में और इसके परिणाम में क्या अंतर रहा ? कहते हैं कि कोई अंतर नहीं है। बिना पहचान तो सब एक-सा ही करते हैं। वह तो उदयभाव हो गया। पूर्वकर्म का उदय था वैसा उसने मान लिया।

वहाँ उसने वर्तमान ज्ञानबल और पुरुषार्थबल का उपयोग नहीं किया। ऐसा विवेक नहीं किया कि यह वीतरागता जो है वह मेरे आत्मद्रव्य - मेरे स्वरूप से संबंध रखनेवाला तत्त्व है। मेरा जो परिपूर्ण वीतराग स्वरूप (है) उस स्वरूप को पहचानने पर, परमात्मस्वरूप (भी) पूर्ण है उसका ज्ञान होता है। वास्तविकता तो ऐसी है।

मुमुक्षु :- कल गुरुदेवश्री के प्रवचन में योगसार की यही गाथा थी।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, परमागमों में तो हर एक गाथा में वीतरागता का ही तात्पर्य है। प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक गाथा में शास्त्र तात्पर्य भी वही और सूत्र का तात्पर्य भी वही है। एक वीतरागता ही प्रत्येक सूत्र का तात्पर्य है और एक वीतरागता ही प्रत्येक शास्त्र का तात्पर्य है, इसके अलावा दूसरा कोई तात्पर्य नहीं है। चार अनुयोग के चार तात्पर्य नहीं है। चार अनुयोग का एक ही तात्पर्य है।

प्रश्न :- देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करते हैं वह भी ऐसे ही करते हैं ?

समाधान :- सवाल इतना है कि (भक्ति) की वह पहचानपूर्वक यानी कि मूल्यांकन सहित की है या ओघसंज्ञा में रहकर की है ? मुद्दा यहाँ कीमत करने का है। कीमत पहचानपूर्वक होती है। हीरा-माणिक-मोती की कीमत पहचानपूर्वक होती है न ! ये चावल तो सब चावल ही दिखते हैं परंतु पहचानपूर्वक इसका दाम निश्चित

होता है कि नहीं ? हर एक विषय में - कपड़ा हो, चाय हो, चावल हो, हीरे में भी असली-नकली, हलका-भारी सब होता है कि नहीं ? पहचान पर कीमत का आधार है कि नहीं ? कीमत का मतलब ही ऐसा है कि उसका संबंध पहचान से है।

देव-गुरु-शास्त्र की तुने भक्ति की तो पहचानपूर्वक की या नहीं ? इतना सवाल है। वैसे तो समवसरण में भी क्या नहीं गया है ? क्या ज्ञानियों का सत्समागम नहीं प्राप्त हुआ है ? जब तीर्थकर के समवसरण में तीर्थकर का सत्समागम अनंतबार मिल चुका है तो ज्ञानियों का समागम तो इससे भी अनंतबार मिला है। ठीक है ? फिर भी मिला नहीं मिलने के बराबर। क्योंकि पहचान नहीं हुई, कीमत नहीं हुई इसलिए, बस ! इतनी सी बात है।

प्रश्न :- आत्मा की कीमत कैसे करें ?

समाधान :- आत्मा की पहचान ज्ञानलक्षण से होती है। ज्ञानस्वभावी आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा पहचाना जाता है। पहचान करना मतलब स्वभाव को पहचानना। जैसे आपकी पहचान करनी हो तो आपका स्वभाव कैसा है ? इसकी अगर मुझे खबर हो तो मैं कह सकता हूँ कि मुझे आपकी पहचान है। (ये) फलौं भाई कौन ! तो कहूँगा कि जानता हूँ उन्हें, मतलब कि वे कैसे हैं यह मुझे मालूम है। ऐसा इसका अर्थ है।

या जिसके पास काम निकलवाना हो, काम कराना हो, तो उसके स्वभाव की यदि पहचान होगी तो उसके अनुकूल रहेगा। बाहर में ऐसे प्रसंग बनते हैं, जैसे कोई प्रधान हो, कोई बड़ी Government Authority हो जिसके पास बहुत सारे अधिकार हो। जिसके अधिकार के इस्तेमाल से उससे काम लेना हो, इस विषय में उससे विचार-विमर्श करना हो, किसी गंभीर समस्या को हल

करने की बात हो, संक्षेप में कहे तो कोई महत्त्वपूर्ण कार्य हो तब विचक्षण आदमी उससे बात करने से पहले नीचे वाले आदमी से मिलकर पूछताछ करेगा कि, साहब से यह काम के लिए मिलना है और बात करनी है, तो गलती से कहीं अयोग्य प्रकार से बात नहीं रख दे इसलिए थोड़ी जानकारी प्राप्त करनी है। फिर वह कहेगा आप ऐसे बात करना। (हम क्या करेंगे कि) नहीं, थोड़ा इनके स्वभाव के बारे में कुछ कहेंगे ? उनके Liking और Disliking क्या है वह बतायेंगे ? दूसरी-दूसरी बात करते हुए भूल से भी वे नाराज़ हो जाए ऐसा नहीं बोल दे ! उनकी प्रकृति कैसी है वह बतायेंगे ? अनेक प्रकार से उनकी योग्यता कैसी है इसे पहचानने की मेहनत करते हैं, बाद में यदि उसकी मुलाकात ले तो उससे प्रतिकूल जानेका न हो, जाने-अनजाने में (भी) ! ऐसा है कि नहीं ? वैसे बिना परिचय; क्योंकि वह तो पहचान करने की होशियारी है। लौकिक कार्यों में जगत के विचक्षण जीवों के पास - विचक्षण कहलाते हो उनके पास (ऐसी होशियारी होती है कि) बिना परिचय ही पहचान करने का प्रयत्न करते हैं और पहचान करने की कोशिश करते हैं जिसमें कुछ हद तक सफलता प्राप्त होती है।

यहाँ तो यह आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष है। 'आत्मा है, आत्मा प्रत्यक्ष है, अत्यंत प्रत्यक्ष है, क्योंकि स्वसंवेदन अनुभवगोचर होता है।' श्रीमद्गी के ये शब्द हैं। यानी कि ज्ञानवेदन द्वारा, घटपट आदि को जाननेवाला ज्ञान नहीं परंतु ज्ञानवेदन द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहचान करनी चाहिए। यह पहचान करनी चाहिए (क्योंकि) पहचान होने पर कीमत आएगी और कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी। ऐसा कहना है। यह पूरा संस्कार का विषय हो गया।

यदि तूने आत्मा की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी।

कब तक नहीं छूटेगी ? कि मृत्यु पर्यंत के प्रतिकूल संयोग खड़े हो जायेंगे तो भी तेरे आत्मा की कीमत नहीं छूटेगी, क्योंकि परिणाम का ऐसा नियम है। यह बात ज्ञानियों ने अनुभव से कही है कि, परिणाम का यह नियम है कि जीव जिसको कीमत देता है, जिसकी वह कीमत कर लेता है वह छूटती नहीं है - ऐसे परिणाम रहते हैं, ऐसे परिणाम होते रहते हैं। जिसको कीमत दे दी, उसके प्रति परिणाम चलते रहते हैं।

अभी वर्तमान अनुभव देखे तो भी पता चलेगा ! यह जब अनुभव की बात है तो अनुभव की जाँच अभी ही कर ले। अभी जो परिणाम चलते हैं वे जिस किसी विषय में चलते हैं वह उस विषय में कीमत दे देने से चलते हैं या बिना कीमत दिये चलते हैं ? जहाँ कीमत दी है वहाँ परिणाम चलते हैं। कर ले जाँच अपने अनुभव की ! ऐसा कहते हैं। ज्ञानी कहते हैं (कि) मृत्यु होने पर भी ऐसा होगा ! तू परिणाम छोड़ नहीं सकेगा। मृत्यु को पसंद करेगा ! लेकिन जिसको तूने कीमत दी होगी वह कीमत तेरी नहीं छूटेगी। (लोग) खुदकुशी कर लेते हैं ! परंतु जिसको कीमत दी है उस बात को छोड़ना नहीं है। ऐसा है। चारोंमें से किसी भी कषायवश खुदकुशी करते हैं। लोभ के वश भी जीव खुदकुशी करेंगे, मान के वश भी करेंगे, क्रोध के वश भी कर लेंगे या माया के वश भी कर लेंगे।

क्रोध-मान-माया-लोभ - ये चार कषाय की चौकड़ी है। उसमें भी चार दर्जा है। चार कषाय के चार दर्जे। अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यानावर्णीय, अप्रत्याख्यानावर्णीय, और संज्वलन। - इन सब प्रकारों में अनंतानुबंधी का जो प्रकार है वह सबसे अधिक भयंकर है !! जिसके कारण जीव अनंतकाल रुलता है और इसके (निवारण

का) कोई भीतरी रहस्य है तो गुरुदेवश्री यहाँ उसे प्रसिद्ध करते हैं !!

इस अनंतानुबंधी का आधार या इसका सूत्र; क्योंकि परिणाम तो माला के मोती हैं लेकिन माला में एकरूप सूत्र जैसी बात कौन-सी है ? कि, कीमत दे देना वह। तुमने कीमत कहाँ दे रखी है ? उस पर सारे परिणाम की डोर है। परिणाम सूत्र कहो या परिणाम की डोर कहो - कीमत देने पर उसका आधार है। मूल्यांकन पर सारे परिणामों का आधार है। अतः एक बार भी तू अपने निज स्वरूप की पहचान मर कर भी कर ! 'कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्' (समयसार कलश-२३) स्व-द्रव्य का, स्व-तत्त्व का कुतूहल जगाकर यानी कि अपूर्व जिज्ञासा जगाकर स्व-द्रव्य की पहचान कर ! तुझे कीमत आयेगी वह कीमत तेरी नहीं छूटेगी। मृत्यु होने पर भी तुम्हारी वह कीमत नहीं छूटेगी ! बाहर में शायद प्रतिकूलता आयेगी, रोग का उपद्रव होगा, आयुष्य पूरा होने का काल आयेगा परंतु तेरी दे दी हुई कीमत नहीं छूटेगी। यह संस्कार का विषय हो गया।

प्रश्न :- ज्ञान के वेदन को कैसे पकड़ना ?

समाधान :- बात थोड़ी ऐसी है कि, जल्दी से वह पकड़ में नहीं आता। (क्योंकि) तिरोभूत हो चुका भाव है। ज्ञानवेदन जो है वह तिरोभूत हो चुका भाव है इसलिए जल्दी से पकड़ में नहीं आता। इसका एक कारण यह भी है कि पकड़ने जितनी तैयारी नहीं हुई। प्रायः नहीं पकड़ में आने का कारण ऐसा है कि पकड़ने जितनी तैयारी नहीं है। तैयारी नहीं हुई मतलब क्या ? यह विचार करने योग्य है। जीव को जो स्वकार्य करने की भावना, तमन्ना, लगन व उत्कंठा होनी चाहिए (उसका अभाव है)। इतनी जो तैयारी,

इतनी मात्रा में इसकी जरूरत कि जैसे चलेगा नहीं मुझे, मुझे नहीं चलेगा, किसी भी कीमत पर नहीं चलेगा - इतनी तैयारी में जो अवकाश पैदा होता है तब ज्ञान अपने वेदन को समझने - पहचानने और पकड़ने तक तैयार होता है। वह भूमिका की निर्मलता है, यह भूमिका के योग्य निर्मलता है।

यह एक विचित्र प्रश्न है कि पहचानना है ज्ञान को (यानी कि पहचान करता है ज्ञान) पहचान करानी है वह भी ज्ञान की ही ! ज्ञान को पहचान किसकी करनी है ? ज्ञान लक्षणरूप ज्ञान को पहचानना है। ज्ञान स्वयं ऐसी जिज्ञासा करे कि मुझे ज्ञान को पहचानना है ? यह कितनी विचित्र बात है। आप अपने घर में खड़े-खड़े अपना घर ढूँढ़ रहे हो कि मेरा घर कहाँ है ? (अनुभव प्रकाश में जो) चांपा का दृष्टांत आता है वह तो फिर भी अलग है। उसमें मेरी समझ में दूसरी बात आती है कि, चांपा कहीं बाहर चला गया था, वहाँ दृष्टांत में उपयोग में खुद भुलावे में आ गया था ऐसी Similarity है - साम्यता लेनी है, फिर अपने घर के बगल में आ पहुँचा तो भी उसे पता न चला कि मेरा घर आ गया (या जैसे) इतना खयाल गया कि यह मेरा घर है, परंतु इसमें चांपा किधर है ? इसलिए वहाँ ऐसा लिया है कि एक तो जीव भवभ्रमण में बाहर के पदार्थों में - अन्य द्रव्य-भाव में बहुत भटका। वीतराग देव-गुरु-शास्त्र के पास आया मतलब घर के नजदीक आया। आत्मा दिखानेवाले के पास आया। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र मतलब आत्मा को दिखानेवाले। इनके पास आया - घर के पास आया तो भी पूछता है कि इसमें चांपा कहाँ है ? यानी कि मैं कहाँ ? ऐसा पूछता है।

(यहाँ तो) ज्ञान में ऐसा जानना है कि ज्ञान कैसा है ? ज्ञान

में ज्ञानवेदन को जानना है। यह कैसा प्रश्न है ? बहुत विचित्र प्रश्न है। हालाँकि विचित्रता तो ऐसी हुई है ! ज्ञान की दशा - हालत विचित्र मतलब बिलकुल उलटी परिस्थिति ऐसी तो हो गई है कि अरेरे...! ज्ञान ज्ञान के बारे में पूछ रहा है ! कि ज्ञान वेदन कैसा ? क्या परिस्थिति हो गई है ! तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति क्यों हुई ? क्योंकि इस जीव ने अन्य पदार्थ की और अन्य पदार्थमें से सुख प्राप्ति की, अनुकूलतामें से सुख प्राप्ति की इतनी भावना भायी है... इतनी हद तक दौड़ लगायी है कि जिसके पीछे ज्ञान है सो क्या है ? और ज्ञान में ज्ञानवेदन क्या है ? और इस वेदन में स्वभाव का प्रसिद्धत्व क्या है ? इस विषय में बहुत अनभिज्ञ हो चुका है। ऐसी परिस्थिति पैदा हुई है।

अतः पूज्य बहिनश्री जो मुख्य बात करते हैं, काफ़ी बार करते हैं, (वचनामृत) ग्रंथ में भी यह बात बहुत आयी है कि भावना की आवश्यकता है। स्वरूप प्राप्ति की भावना होगी तो कार्य की सफलता की संभावना है। यदि भावना की क्षति हो गई तो फिर कोई इलाज नहीं है। यह परिस्थिति है। इसलिए ऐसी बात है। पहचान के विषयमें से थोड़ी बात चली इसके पेटाभेद में यह बात है।

पहचान किसको होती है ? कि जो ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा का अंतर संशोधन करता है उसको। बाहर में शास्त्र पढ़-पढ़कर, खण्डन-मण्डन करके, यह नय का खण्डन और इस नय से इसका खण्डन - ऐसा कोई भी प्रकार हो इसमें कदापि आत्मतत्त्व का पता नहीं लगता।

'सब शास्त्रन के नय धारी हिये' २४वें वर्ष में श्रीमद्जी ने कहा है। जिस वर्ष में उन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, उस वर्ष का यह काव्य है। 'सब शास्त्रन के नय धारी हिये, मत मण्डन-खण्डन बहुत किये'

यानी सारी अपेक्षाएँ, विवक्षाएँ जानकर सब सिद्ध कर दे की यही सत् है। (फिर भी) पहचान होना दूसरी बात है, फिर भी पहचान होना (दूसरी बात है)। जैन शास्त्र में सत् का स्थापन इस प्रकार है, ऐसा कहेगा फिर भी निज सत् की पहचान दूसरी बात है। ऐसा है। यानी कि यह अंतर संशोधन का विषय है, ऐसा कहना है। यह शास्त्र में बाह्य संशोधन का विषय नहीं है परंतु यह अंतर संशोधन का विषय है। इस अंतर संशोधन के पुरुषार्थ से जीव को पहचान होती है जो वेदन को पकड़ने से होती है। वेदन से इसका प्रसिद्धत्व होने से वेदन द्वारा पहचान होती है।

स्वभाव का प्रसिद्धत्व ! - 'प्रसाध्यमान ऐसा जो स्वभाव जिसका प्रसिद्धत्व' अमृतचंद्राचार्यदेव के ये शब्द हैं। प्रसाध्यमान ऐसा जो आत्मा - परमात्मा उसका प्रसिद्धत्व स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है। वेदन से वह प्रसिद्ध है। वेदन से प्रसिद्धि जानने के पश्चात् यह प्रश्न संभव है कि क्यों वेदन पकड़ में नहीं आता है ? यह प्रश्न होना संभव है।

प्रश्न :- तिरोभूत मतलब क्या ?

समाधान :- तिरोभूत मतलब आच्छादित, लेकिन है जरूर। जैसे धूँ में अग्नि ढका हुआ है, बहुत धूँ हो इसमें भले ही अग्नि की ज्वाला दिखे नहीं किन्तु अग्नि मौजूद है यह बात तो वहाँ स्पष्ट है। 'जहाँ-जहाँ धूँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है।' वैसे राग है, दुःख है ऐसा कहनेवाले को कहते हैं कि आत्मा है, राग किसको है ? दुःख किसको है ? वह तो धूँ है - राग-द्वेष का धूँ है। जिसमें भगवान आत्मा - ज्ञानस्वभावी आत्मा, ज्ञानलक्षण से लक्षित ऐसा आत्मा, आच्छादित हो गया है। आच्छादित अवस्था में भी 'है' ऐसी बात है। वहाँ सत् की अस्तित्व है, मतलब बीच में ढक्कन

है। यह ढक्कन पर्याय में उत्पन्न हुए आवरण का है। यह आवरण कौन-सा है ? पररस है वह आवरण है। परपदार्थ में सुख का रस है, परपदार्थ की अनुकूलताओं का रस है, परपदार्थ की कल्पनाओं का रस है, यह पुद्गलरस है इसलिए ज्ञान को आवरित करता है। देखने के लिए अंधा करता है और प्रसिद्धत्व को भी आवरित करता है। अंधा करना मतलब आच्छादित करता है। वह तो जो है सो है। वह तो खुला हुआ ही है। इसके वेदन में वह खुला हुआ है।

अतः स्वरूप प्राप्ति की अपूर्व भावना में आने पर, देव-गुरु-शास्त्र और सत्पुरुषों के वचन का केन्द्रस्थान जो 'आत्मा', जिसको वे प्रत्येक वचन द्वारा दिखा रहे हैं और कह रहे हैं, ऐसा आत्मा उसके लक्ष्य में आने की परिस्थिति उत्पन्न होती है। वेदन को पकड़ने की परिस्थिति उत्पन्न होती है वरना पकड़ना मुश्किल है यह बात सत्य है। वेदन द्वारा पकड़ में आता है और वेदन से लक्षगत होता है, परंतु वेदन पकड़ में नहीं आ रहा है इसका क्या करें ? यह प्रश्न अपने स्थान में बिलकुल ठीक है।

जिसको देखना है उसको यह समस्या सामने आ सकती है। लेकिन यह वेदन पकड़ में नहीं आता है यह सिद्ध करता है कि इसके लिए पर्याप्त भावना में जो आना चाहिए, और ज्ञान में जो अवकाश होना चाहिए, भूमिका के योग्य स्वच्छता होनी चाहिए - ज्ञान की भूमि जो स्वच्छ होनी चाहिए, वह भूमि भावना द्वारा स्वच्छ नहीं हुई है - इसे प्रसिद्ध करता है।

यह एक हकीकत है, (एक) परिस्थिति है। जीव इसका स्वीकार करे चाहे नहीं करे परंतु यह एक ठोस हकीकत है। यदि यहाँ तक खयाल जाए कि इसके बिना सब व्यर्थ ही व्यर्थ है, जितना

भी करे सब व्यर्थ है, चाहे कितनी भी समझ हो, उस समझ का अभिमान हो (फिर भी) सब तुच्छ है, व्यर्थ है या दुर्गुण की उत्पत्ति में ही कारणभूत निमित्त होगा - ऐसा गंभीरतापूर्वक समझकर जीव यदि अंतर संशोधन की ओर प्रयत्नवंत हो, भावना में आये तो बहुत बड़ी बात है।

यह समझकर जीव को क्या करना ? यह सब जो कर रहे है (वह छोड़ देना क्या ?) जो कुछ करते हैं इसकी कीमत कम करके जो कुछ भी कर्तव्य है इसके प्रति झुकने से वह संभव है। वह भी तो समझ का ही विषय है न ! जब इस विषय को समझने बैठे ही हैं तब इसके जितने भी प्रवर्तमान पहलू हैं उन सबकी समझ कर लेनी चाहिए कि जिन पहलुओं से जीव प्रवृत्ति कर रहा है। फिर (प्रश्न यों होता है कि) यह सब जो समझते हैं वह क्या है ? (कहते हैं कि) जो समझते हैं उसमें भावना की क्षति कितनी है ? यह देखना चाहिए। अगर भावना विहीन परिस्थिति में समझना हुआ तो - वह तो पूर्वानुपूर्व जो अनंत बार हो चुका है वही परिस्थिति रह गई, इससे तो आत्महित होने का प्रसंग नहीं आयेगा। ऐसा है।

यह कीमत करने का मूल यहाँ पर है। कीमत करने का मूल यहाँ पर है। अभी एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, जब तक हमें पहचान न हो, कीमत न आये तब तक भावना भी कहाँ से उत्पन्न होगी ? कहते हैं कि बात कुछ ऐसी है कि फिर तो तुझे वर्तमान परिस्थिति में संतोष है। ठीकपना है, इष्टपना है, दिक्कत नहीं है, चलता है, यह जो वर्तमान में चालू है इसमें कोई तकलीफ नहीं है। उस परिस्थिति में तू संतुष्ट है यह बात प्रसिद्ध होती है। फिर इसका तो कोई इलाज नहीं है। वर्तमान परिस्थिति में

दुःख लगेगा तो ही तू रास्ता ढूँढ़ने का प्रयत्न करेगा। यह परिस्थिति चालू रहे यह उचित नहीं है ऐसा जिसके खयाल में आयेगा वह इसका रास्ता ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न करेगा, वरना उसे रास्ता ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। ठीक है, उदय अनुसार सब चलता है। भीतर से दुःख लगा हो और उसका इलाज करना चाहता हो, वह बात तो है नहीं।

प्रश्न :- ऊँची स्थिति का भान हो जब तो यह (वर्तमान) स्थिति में कमी महसूस हो ? हीनता लगे ?

समाधान :- हाँ, समझने में तो ये सारे प्रकार आते हैं कि यह परिस्थिति उचित है, यह अनुचित है। ऐसे सब पहलुओं की चर्चा होती है। ऊँची परिस्थिति की समझ हो, खुद की स्थिति में कमी है यह समझ में आये तो वर्तमान परिस्थिति छोड़ने योग्य है ऐसा लगे और (आगे की स्थिति) की भावना हो !

वास्तव में तो क्या है ? कि इस मार्ग में आनेवाले को (खुद) मोक्षार्थी की परिस्थिति में है या नहीं ? इतना विचार करने जैसा है। अभी-अभी बेंगलोर में १७-१८ गाथा स्वाध्याय में ली थी। उस पर काफी चर्चाएँ चली। घंटा-देढ़ घंटा तक (चर्चा चली)। वहाँ आचार्य महाराज ने टीका में ऐसा शब्द लिया है कि, भेदज्ञान में जो प्रविण हो उसे ज्ञान में भिन्नतापूर्वक स्वानुभव, सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान प्रगट होगा। वह बात ली है। इसके पहले एक भूमिका की बात ले ली है। 'मोक्षार्थी' की बात ली है।

जिस प्रकार धनार्थी पुरुष धन की प्राप्ति हेतु राजा को पहचानकर उसकी सेवा करता है वैसे मोक्षार्थी पुरुष - मोक्षार्थी आत्मा जीव राजा को - जीव को - चैतन्य की पहचान करके उसकी सेवा करता है, अनुचरण करता है - जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य कहा

जाता है। परंतु ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी जो धर्म है इसकी प्रथम सीढ़ी के रूप में आचार्य महाराज ने 'मोक्षार्थी' को लिया है। इसमें बहुत रहस्य है।

मोक्षार्थी मतलब जिस आत्मा को प्रथम से ही परिपूर्ण निर्दोष होना है, कषाय का एक कण भी नहीं चाहिए, अनंत वें भाग में नहीं चाहिए - ऐसी निर्दोषता मुझे चाहिए, परिपूर्ण निर्दोषता मुझे चाहिए। ऐसी अभिलाषापूर्वक जो भावना में आएगा उसका भेदज्ञान चलेगा। उस जीव को ज्ञानलक्षण का वेदन से पता अंतर संशोधन के दौरान चलेगा। वरना प्रगट होने पर भी पता नहीं चलेगा, ऐसा कहते हैं। वहाँ ऐसी बात की है। मोक्षार्थी की बात ली है।

प्रश्न :- बार-बार विचार करें तो ? कि मुझे इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए !

समाधान :- विचार करने के बजाय जब (जगत के किसी भी पदार्थ) की इच्छा हो तब अपनेआप को पकड़े तो ? इसमें कोई पोल नहीं चलती। पोल चले ऐसा नहीं है ! विचार करता रहे कि मुझे इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए ! 'खास पात्रता' के विषय पर चर्चा चली थी न ? सम्यक्त्वजयंति के (प्रसंग पर) सोनगढ़ में अपने स्वाध्याय में वह विषय चला था कि इसमें खास पात्रता चाहिए। इसका लक्षण क्या है ? कि इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए। (इसलिये पूछते हैं कि) इसका विचार करते रहे तो ? कि मुझे इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए। लेकिन जब तुझे जरूरत लगे, अपेक्षावृत्ति खड़ी हो तब इसका विचार कर न ! कि यह क्या हुआ ?

जैसे देह और आत्मा भिन्न है, देह और आत्मा भिन्न है.. देह और आत्मा भिन्न है... ऐसा विचार तो बहुत करें, बहुत करें, लेकिन

शाता में हो तब ! अशाता उत्पन्न होते ही वापिस वह विचार छूट जाए और चिल्लाने लगे तो ज्ञानी उसे कहते हैं कि तेरी देह और आत्मा भिन्न है वह (समझ) कहाँ गई ? तूने तो बहुत विचार किये थे !!

वैसे यहाँ कहते हैं कि कुछ नहीं चाहिए, इस जगतमें से कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो एक परिपूर्ण शुद्ध मोक्ष - परिपूर्ण शुद्धिरूप मोक्ष ही चाहिए, यह बात अगर तेरी सही है तो जब कुछ चाहिए, ऐसा लगता है तब क्या ? वह विचार तो वास्तव में तब करना है। फिर चाहे करे नहीं करे इसका सवाल नहीं है। जब करना चाहिए तब नहीं करे और बाकी व्यर्थ विकल्प करता रहे इसका क्या मतलब है ? इसका कोई अर्थ नहीं है। काम करने का मौका मिले जब तो उलटा चले, उलटा काम करे, और काम करने का उदय नहीं हो तब उस काम के विषय में सोचता रहे ! इसका क्या अर्थ है ? इसका कोई अर्थ नहीं है। ऐसा है।

प्रश्न :- आगे से मान्यता दृढ़ की हो तो वक्त आने पर काम तो आयेगी ?

समाधान :- लेकिन अगर सही वक्त पर काम में आये तो इसकी दृढ़ता माने, वक्त पर काम में नहीं आये तो वह दृढ़ता नहीं है - रटन मात्र है, रटा हुआ ज्ञान है, शुष्क ज्ञान है। ऐसा है हकीकत में तो। इसका वह लक्षण है।

ज्ञान तो उसको कहे जो वक्त आने पर हाज़िर हो - इसको ज्ञान कहे। पूँजी होगी वह खर्च करेगा, पूँजी नहीं हो वह क्या खर्च करेगा ? पाँच-पाँच पैसे की सौ-सौ रुपये की नोट मिलती है; आंबाचौक (बाज़ार) में मिलती है। उसमें पाँच पैसे में सौ रुपये की नोट मिलती है। उसमें एक का अंक और दो शून्य भी होते

हैं और मुहर की भी नकल की रहती है। लेकिन वह बच्चों के खेलने के काम में आती है। उसको सच्ची मान ले कि जैसे यह तो मेरी पूँजी है ! खरीद लो १०-२० रुपये की पूरी गड्डी ! (लेकिन वह) खर्च करने के काम में नहीं आयेगी। वह रद्दी खर्च करने में काम नहीं आयेगी। क्योंकि हकीकत ऐसी है ही नहीं। वह वास्तव में पूँजी नहीं है।

इस तरह सिर्फ विचार, विकल्प और रटन से मान ले कि मैं दृढ़ करता हूँ और ऐसे दृढ़ करूँगा, तो कहते हैं कि वह तुम्हारी पूँजी नहीं बनेगी और वह पूँजी नहीं होने से इसका उपयोग नहीं हो पाएगा, काम में नहीं आएगी। ऐसी चीज़ है।

यह बहुत मुद्दे का विषय है कि अगर कीमत की होगी, पहचान की होगी तो मृत्यु होने पर भी वह नहीं छूटेगी। अब दो प्रकार से दो तरफ कीमत होती है। कीमत करनेवाला तो कीमत करता ही रहता है। आत्मा जो कीमत करनेवाला द्रव्य है - वस्तु है, वह तो कीमत कर ही रहा है। या तो राग-द्वेष और संयोग की करता है या आत्मा की करता है। राग-द्वेष और संयोग की कीमत में सारे जगत को समाविष्ट कर लिया ! एक ही वचन में !! केवलज्ञान अनुसार वचन है कि सारे जगत के जीव राग-द्वेष और संयोग की कीमत करते हैं। फिर चाहे अमेरिकावाला हो चाहे रशियावाला - सब यही करते हैं। भले ही उन लोगों के पास यह Philosophy नहीं है। परंतु इस Philosophy में उनका विषय जरूर है। भूतकाल में जीवों ने भी यही किया है और भविष्य में भी जगत के तमाम मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेष और संयोग की कीमत करके उसीके पीछे (दौड़ेंगे)। अनंतकाल से अनंतकाल पर्यंत (यानी कि) अनंतकाल से वर्तमान तक का जो अनंतकाल है (इस)

अनंतकाल पर्यंत यह एक ही प्रवृत्ति की है। क्योंकि उसकी कीमत दे दी है और इसकी कीमत जीव को छूटती नहीं है।

धर्म के क्षेत्र में भी बिना समझे त्याग करता है तब इसकी कीमत कायम रखकर करता है। मैंने इतना छोड़ा, मैंने राज छोड़ा, राजपाट छोड़ा, कुटुंब छोड़ा, धन-दौलत छोड़ी - 'इतना-इतना छोड़ा' वहाँ इसकी कीमत रखकर सब छोड़ा हैं। कभी पैसेवालों की तारीफ नहीं करनी चाहिए। ठीक ! खुद को यदि पैसे को कीमत नहीं देनी हो तो ! किसी के प्रति - पैसेवाले को प्रति द्वेष करने की बात नहीं है, परंतु उन पैसेवालों की तारीफ करते वक्त इस जीव को उसकी कीमत आ जाती है (इसलिए) ऐसी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। किसी के धन-वैभव की, किसी की चीज़-वस्तुओं की, किसी की बाह्य संपत्ति की, बाह्य पैसे की महत्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वास्तव में वहाँ उसकी महत्ता नहीं है, (परंतु) तेरे परिणाम में इसकी महत्ता है इसकी प्रसिद्धि होती है। जो तेरे आत्मा को नुकसान है। ऐसी महत्ता करने में तो तेरे आत्मा की महत्ता से दूर जाने का तुझे प्रसंग आएगा। तुझे तेरे आत्मा की महत्ता नहीं आएगी। ऐसी बात है।

प्रश्न :- सच्चे ज्ञानी हो, उनके ज्ञान की महत्ता करें - तो वह क्या है ?

समाधान :- सच्चे ज्ञानी की महत्ता करने में तो अपने आत्मा की महत्ता की बात है। आत्मगुण जिन्हें प्रगट हुए हैं वे ज्ञानी हैं। ऐसे गुणों की अभिलाषा हेतु उनकी महत्ता कर्तव्य है।

समंतभद्राचार्य ने भगवान की स्तुति ऐसे की है कि हे भगवान ! मैं आपकी स्तुति ये समवसरण और अष्ट प्रातिहार्य और चौंतीस अतिशय को देखकर नहीं करता हूँ, ऐसा तो इन्द्रजालधारी को

भी होता है, ऐसा कह दिया। ऐसी पुण्य की शोभा तो इन्द्रजाल में भी होती है। परंतु आपको जो वीतरागता प्रगट हुई है इसकी मुझे महिमा है। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। (वंदे तद्गुण लब्धये - ऐसा आता है)। 'वंदे' मतलब मैं वंदन करता हूँ - ऐसा एक वचन है। संस्कृत में जब किसीको वंदन करना हो तो 'वंदे' (ऐसा कहा जाता है), वहाँ 'मैं' कहने की आवश्यकता नहीं रहती, उसीमें आ जाता है। 'वंदे तद्गुण लब्धये' आपको जो आत्मगुण प्रसिद्ध हुए हैं - प्रगट हुए हैं, इसकी प्राप्ति हेतु मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जगत के किसी पदार्थ की वांछा से नमस्कार करने की बात दूर रहो, कि जैसे जगत में मुझे मान मिले, जगत में मुझे कोई लाभ हो। स्वयं वीतरागी मुनि हैं इसलिए जगत के पदार्थ की वांछा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तिल-तुषमात्र परिग्रह का त्याग करके वे तो जंगलवासी बने हैं। लेकिन दूसरी भी कोई कामना नहीं रही - इस बात का इसमें स्पष्टीकरण है।

यह कीमत करने की बात है। ज्ञानी की महिमा करने में ज्ञानी की कीमत करने की बात है। वहाँ आत्मा की कीमत करने की बात है। कीमत तो कितनी आनी चाहिए ? आगे एक बोल आएगा कि अपनी चमड़ी उतारकर (गुरु-हेतु) जूते बनवाये तो भी गुरु के उपकार का बदला नहीं चुका सके ! ऐसा गुरु के प्रति उपकार भाव होता है !! इतनी महिमा आती है। महिमा आने में कोई कमी रहने का सवाल ही नहीं हो सकता।

(यहाँ) कहते हैं कि 'राग, द्वेष और संयोग की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी। मृत्यु होने के पश्चात् भी इसकी कीमत बनी रहेगी और अनंतकाल का परिभ्रमण भी चालू रह जाएगा। '...आत्मा की महिमा की होगी तो वह नहीं छूटेगी।' और जिसने

आत्मा की कीमत कर ली होगी उसे मृत्यु होने के बावजूद भी इसकी कीमत नहीं छूटेगी। वह, उसी तरफ झुकेगा। जिसको कीमत दी होगी उसी तरफ झुकेगा। उसके परिणाम अन्यत्र नहीं झुकेंगे।

वेदना उठी हो, जैसे मृत्यु के वक्त प्राण छूटने के काल में वेदना विशेष उग्र होती है। फिर किसी को ज्यादा चले, किसी को अंतिम क्षणों में हो, यह दूसरी बात है। लेकिन प्राण छूटते समय वेदना बहुत होती है। उस वक्त भी जिसको कीमत दी होगी वह नहीं छूटेगा, ऐसी बात है। (स्वरूप) की पहचान होना, भान होना, अनुभव होना यह तो बहुत ही चमत्कारिक विषय है। इसकी शक्ति की तो महिमा करे उतनी कम है। (लेकिन सिर्फ स्मरण आ जाये तो भी इसकी कीमत है)। 'किस मौके पर' (हुआ) इसकी कीमत है। 'मौके पर' इसकी कीमत है। इसकी कीमत मौके पर आधारित है। बहुत बड़ी बात है। कीमत देना, मृत्यु के समय भी इसकी याद आना बहुत बड़ी बात है। कहाँ से (याद) आया ? बुद्धिपूर्वक आता है ? क्या बुद्धि लगायी थी उस वक्त ? (वहाँ) बुद्धि काम नहीं आती। तब विचार करने का प्रसंग नहीं होता, फिर आया कहाँ से ? यह बात है। अगर कीमत दी होगी तो आएगा वरना नहीं आएगा। ऐसी बात है। कीमत आनी चाहिए।

ओघे-ओघे भी इसीकी कीमत करना और पहचानपूर्वक भी इसीकी कीमत करनी है। विषय बदलना नहीं। कीमत देने का जहाँ सवाल है वहाँ सत् की - आत्मा की एक मात्र की कीमत देनी है, दूसरे को कीमत नहीं देनी है। वह विषय नहीं बदलना है, विषय बदल नहीं जाना चाहिए। अपने आत्मा की कीमत की होगी तो वह नहीं छूटेगी और जिसका मूल्य लगा होगा वह छूटेगा नहीं, हाज़िर होगा। जो हाज़िर होगा वह कितना काम करेगा ? कि इसकी कीमत

रुपया- आना-पाई में नहीं हो सकती। रुपया-आना-पाई या जगत के किसी भी पदार्थ से इसकी कीमत नहीं हो सकती। इसकी बराबरी करना अशक्य है।

यह एक बहुत मुद्दे का विषय है कि कीमत करनी है तो सिर्फ एक आत्मा की ही करनी है, सत् की ही करनी है, अन्य किसी चीज़ की कीमत करने जैसी नहीं है। महत्त्व का विषय है। बार-बार अंतर मंथनपूर्वक विचारणीय है, विचार करने योग्य है और एक बार विचारपूर्वक यह बात घर कर ले तो इसकी कीमत आयी है ऐसा कुछ अंश में कह सके, वरना सब व्यर्थ जाए ऐसा है। (समय पूरा हुआ है)।



अंतरअवलोकन द्वारा जीव अपने परिणामके अनेक महत्वके व प्रयोजनभूत पहलुओंको समझकर यथार्थतामें आ सकता है, उसमें दोषका निष्पक्षपातरूपसे अवलोकन करने पर, अभिप्रायपूर्वक हो रहे दोष समझमें आने पर अभिप्रायमें सुधार होनेका अवसर प्राप्त होता है। इसप्रकार मूलमेंसे दोष मिटनेका कारण - अवलोकन है। ज्यों-ज्यों अवलोकनका अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों परिणमनका अनुभवज्ञान व उसकी गहराई अनुभवमें आती है। जो अंततः 'अनुभवांशसे परमार्थकी स्पष्ट प्रतीति' रूप समकितपने प्राप्त होती है।

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी -१२२०)



(इस जीवन काल में) धन उपार्जन की वृत्ति तो आत्मघात ही है। वास्तव में यह तो आत्मलाभ का अवसर है - आत्मा के आनंद की कमाई का अवसर है, इसे न चूके। २४०.



प्रवचन - १७, दि. १६-५-१९८३

(परमागमसार बोल) २४०। '(इस जीवन काल में) धन उपार्जन की वृत्ति तो आत्मघात ही है।' दुनिया से उलटी बात है। गुरुदेवश्री कहते थे कि यह तो सारी दुनिया के सामने बगावत है। सारा जगत एक ही दिशा में झुका हुआ है, दुनिया की दौड़ जिस दिशा में है इससे बिलकुल उलटी यह बात है, ठीक !

'धन उपार्जन की वृत्ति तो आत्मघात ही है।' आहा...! लोगों को सर्वस्व हो चुका है। ऐसे तो लगे हैं कि जैसे वह सर्वस्व हो और सर्वस्व जानकर आँखें बंद करके कितना अहित हो रहा है (यह भी देखे बिना) काम कर रहे हैं।

आखिर में सब आत्मा ही हैं न ! निर्दोष परमात्मा है इसलिए सबको खयाल तो आता है। चाहे कैसा भी अकर्तव्यरूप कार्य करता हो उस जीव को भी खयाल तो आ ही जाता है कि यह अच्छा तो नहीं है। क्योंकि प्रसिद्धरूप से कुछ एक कार्य तो अच्छे हैं ही नहीं। इसमें न्याय से तोलन करने की भी जरूरत नहीं है। वह विवादास्पद विषय ही नहीं है। ऐसे कार्य करनेवाले को भी भीतर में Conscious bite तो करता है ऐसा हमलोग नहीं कहते हैं ? यानी कि निर्दोष परमात्मा उसका प्रतिकार करता है। फिर भी इसके सामने आँख मीचकर, उपेक्षित होकर - आत्मा की आवाज़ से उपेक्षित होकर जो संसार के कार्यों में वेगपूर्वक जुड़ता है (उसे) कहते हैं कि, यह तो तेरे मरने का काल है ! जीव को वह जन्म-मरण का कारण है, परिभ्रमण का कारण है। दृष्टांत उत्कृष्ट लिया है।

कमाने का समय है वह तो मरने का काल है। **‘वास्तव में यह तो आत्मलाभ का अवसर है।...’** यह तो अलग ही कमाई करने का अवसर है। मनुष्यभव मिला यह तो आत्मलाभ का अवसर है। **‘आत्मा के आनंद की कमाई का अवसर है, इसे न चूके।’** ऐसी (बात) है।

जैसे सामान्यरूप से - लोकोक्ति में ऐसा कहा जाता है कि, भाई ! यह तो कमाई का मौसम है। कमाई का मौसम है और अभी तो खाना, पीना, आराम व अन्य व्यवहारिक कार्य, सबको गौण करके ज़ोर शोर से कमाई के प्रयत्न में लग जाना चाहिए। बाद में दूसरा जो करना होगा करेंगे परंतु एक बार कमाई कर ले ! ऐसी जो अपने सुख की, अनुकूलता और लाभ की वृत्ति के पीछे एक दफा वर्तमान सारी प्रतिकूलताओं को गौण करके यह लाभ

पाने के लिए जीव तत्पर होता है, प्रयत्नवंत होता है।

इससे भी अधिक यह बात थोड़ी विशेष इसप्रकार है कि जिस किसी जीव की बुद्धि में इस बात का सही तोलन हुआ हो, ऐसी तुलना हुई हो कि अनंत संसार मिटने का यह कारण है, सादि अनंत-अनंत समाधि सुख में रहने का यह कारण है, सर्व काल पर्यंत दुःख मिटने का और सुख की कमाई का यह एक मूल कारण है, जिसकी कीमत कर ली हो, जो आगे २३८ बोल में आ चुका कि, जिसकी कीमत की होगी वह नहीं छूटेगा; - ऐसी विचार की भूमिका में उसने कीमत की होगी तो वह सर्व प्रथम यह सोचेगा कि, पहले चाहे किसी भी कीमत पर एक बार आत्मज्ञान तो कर ही लूँ ! जन्म-मरण का नाश हो और जन्म-मरण का छेद हो उस मार्ग में प्रवेश तो मैं कर ही लूँ ! जब मैं मार्ग से बाहर हूँ तो एक बार मार्ग में प्रवेश तो कर ही लूँ ! आगे पूर्णता पर्यंत का विशेष-विशेष कार्य भी अभी करना है यह खयाल में है परंतु कम से कम इसमें प्रवेश तो कर ही लेना चाहिए। जिससे कि जन्म-मरण की जो अनंतता है, अनंतानुबंधी कषाय की जो अनंतता है, कर्मबंधन की परंपरा की जो अनंतता है उस अनंतता का तो छेद हो जाए। वह अंत की मर्यादा में आ जाए। फिर उसे खतम करना (इतना मुश्किल नहीं है)।

इतना महान इसका फल है ! इतना बड़ा फल है (ऐसा जब लगता है) तब जीव अन्य सर्व कार्यों को गौण करके, पूरे संसार को लात मारकर, वृत्तिमें से तो पूरे संसार को लात मारकर, 'जगत इष्ट नहीं आत्मथी' - इस वृत्ति में आकर स्व-कार्य के अंतरंग पुरुषार्थ में (लगता है) उसे ऐसा लगता है कि यह तो कमाई का (अवसर है)। आत्मा के आनंद की कमाई का अवसर है, ऐसा लगता है।

बाहर में धन कमाने का काल नहीं (लगता)।

एक दूसरा भास इसमें होता है। उसे लगता है कि, अभी तो मुझे यह मनुष्यभव मिला है, मनुष्य पर्याय को प्राप्त हुआ हूँ, यह मनुष्यदशा हुई साथ ही सन्मार्ग के समीप आना भी हुआ है, यह सन्मार्ग है, सत्यमार्ग यही है, यहाँ तक पहुँचना - समझना जब हुआ है तो निश्चितरूप से यह भव भव के अभाव हेतु ही मिला है !! ऐसा भीतरमें से भास हो जाना चाहिए कि अब मेरा भव-भ्रमण खतम होनेवाला (है, यह) बात निश्चित है। इसीलिए ये सारी की सारी परिस्थिति का निर्माण हुआ है। वरना ऐसी परिस्थिति कहाँ से होती ! ऐसा जीव को लगना चाहिए।

जैन दर्शन में चाहे अजैन दर्शन में धर्म के क्षेत्र में तो अनेक जीव प्रवृत्ति कर रहे हैं, लेकिन जैन दर्शन में आये हुए को भी सन्मार्ग आसानी से प्राप्त नहीं होता है, जबकि अजैन दर्शन में तो मार्ग है ही नहीं (इसलिए) प्राप्त होने का प्रश्न नहीं है। तो फिर मुझे सन्मार्ग मिला - यह सन्मार्ग है ऐसा मुझे जानने मिला, मेरी श्रद्धा और ज्ञान के समक्ष यह बात जब आयी है तो मुझे भीतर में ऐसा भासित होना चाहिए - प्रतीति आनी चाहिए कि, वास्तव में मेरा हित करने का एकदम ठीक समय और मौका मुझे मिल गया है, अतएव अब मैं आत्मा का आनंद नहीं मिले तब तक हाथ पर हाथ धरकर नहीं बैठूँगा ! इतना भीतरमें से संवेग आए, इसकी उत्कंठा खड़ी हो, जब तो वह चूकेगा नहीं, वरना जीव मनुष्यभव को चूक जाता है। यह परिस्थिति उत्पन्न होती है। ये सब तो संकेत किए हैं !

गुरुदेवश्री ने ये सारे संकेत किये हैं कि अपने हित के मार्ग पर चढ़नेवाले जीव के परिणाम कैसे-कैसे होते हैं ? कैसे परिणाम

होते हैं उसके ? परिणमन की योग्यता में ऐसी कई सारी बातें हैं। परंतु इसमें से कुछ एक बातें प्रसिद्ध कर गये हैं।

उस जीव को ऐसा नहीं लगता कि यह धन कमाने का काल है। क्या करें ! हमारा व्यवसाय जो है। व्यवसाय तो मान लीजिए आजीविका का साधन न हो तो करना पड़े वह एक अलग बात है। परंतु परमार्थ मार्ग को गौण करके एकाकार होकर उस प्रवृत्ति में लग जाए, यह तो उचित नहीं है। अरे ! इतना ही नहीं, जिसको इस मार्ग की कीमत आयी है उसे तो प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी उस प्रवृत्ति में संक्षेप करके, प्रवृत्ति को कम करके इस मार्ग में अपना प्रयत्न करने का समय वह निकाल लेता है। चाहे कैसे भी प्रतिकूल संयोगों के बीच, चाहे कैसे प्रतिकूल उदय में भी वह अपना कार्य करने का समय निकाल लेता है। ऐसा है।

समय की बहुत कीमत है। वैसे तो समय कभी पूरा होनेवाला नहीं है। जीव अनंतकाल पर्यंत रहनेवाला है। अतः वैसे तो समय की कोई कमी नहीं है परंतु यहाँ वह बात नहीं है। वरना कोई तो ऐसा कहेगा कि हमें तो समझ में आया है कि हमारा आत्मा शाश्वत है - शाश्वत पदार्थ है, तो सामने कार्य करने का काल भी शाश्वत है, (अतः) कभी भी हम कर लेंगे। यह बात मार्ग को अनुकूल नहीं, अपितु प्रतिकूल है। ऐसा है।

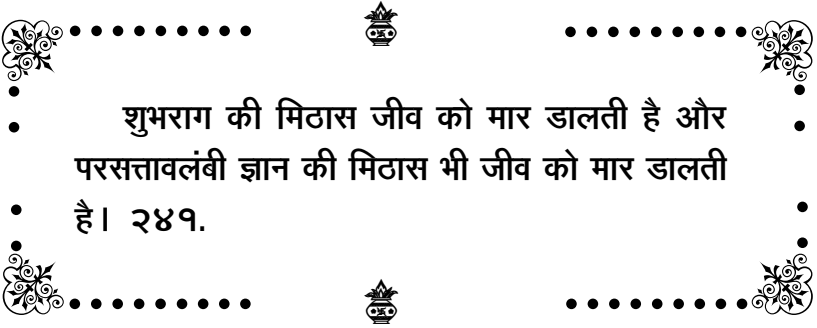
ऐसे काल में इतनी ऊँची-ऊँची बात को कैसे अंगीकार किया जाए ? हम (तो) रहे साधारण। पूजा-भक्ति कर ले, दया-दान कर ले बाकी इतना ऊँचा कार्य हम कैसे कर सकते हैं ? कहते हैं कि वह आत्मा स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है। यानी कि तुम्हारे बहिरात्मपने का जोर बहुत है। वैसे बहिरात्मा तो अनादि से है किन्तु (अभी) जब अंतर्मुख होने का विषय सामने आया तब

उसे दूर किया, अनादर किया ! और वह भी उसे अच्छा कहकर !! जगत में ऐसी एक कुटिल नीति है कि पहले मान-सन्मान देकर फिर मारना। क्या करते हैं ? मान-सन्मान देकर मार डालते हैं। उसे 'मान देकर मार डालना' ऐसा कहते हैं। वह सब कुटिल नीति हैं। उसे कूटनीति कहते हैं। भीतर में आशय (मलिन) होता है, वह ऐसे कि बहुमान करने योग्य हो चाहे नहीं हो अपने तो मान देते रहो ! फिर उसे लूट लेंगे !! जिसको दान प्राप्त करना होगा वह दान ले लेगा, जिसको और कोई काम करवाना होगा वह काम करवा लेगा।

वैसे यहाँ कहेगा कि, आपकी बात तो बहुत ऊँची है मारो धक्का ! लेकिन रखो बाजू पर ! हमारे काम की नहीं है। हम तो रहे साधारण लोग ! यह कुटिल नीति है। जिसमें बहिरात्मपने का ज़ोर है। 'अनुभवप्रकाश'में श्री दीपचंदजी यह बात कर गये हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का आनंद कमाने का यह काल है। ऐसा तुझे अपने लिए भासित होना चाहिए और इसी उद्देश्य से तेरी संशोधकवृत्ति पूरी शक्ति से काम करनी चाहिए। एक बार पूरा इसके पीछे लग जाए फिर अपना कार्य निश्चित न हो ऐसा किसी काल में - तीन काल में बनने योग्य नहीं है। कभी ऐसा बनता ही नहीं। इसलिए कहा कि 'इसे न चूके।' यह २४० बोल पूरा हुआ।





शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है और
परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास भी जीव को मार डालती
है। २४१.

प्रवचन - १८, दि. १६-५-१९८३

(परमागमसार बोल -) २४१। 'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है और परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास भी जीव को मार डालती है।' दो बातें की हैं। जीव के जो परिणाम हैं उसमें वह हठ से भी पर विषयों का त्याग कर सकता है। जगत में क्या बनता है ? कि जगत में जो मनोहर विषय हैं, पाँच इन्द्रियों को जो सुहावने विषय हैं, उसका त्याग तो जीव हठ से भी कर सकता है, परंतु भीतर में उस प्रकार के परिणाम के वक्त जो शुभभाव होता है, इसकी मिठास रह जाती है जो उसे मार डालती है। ऐसा कहते हैं। 'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...' ऐसा कहते हैं।

जीव फँस जाता है। अपना जो शुद्धात्म स्वरूप है, वीतराग स्वरूप है इसकी वीतरागी परिणति उत्पन्न करने के लिए शुभाशुभ परिणाम का जो छेद करना चाहिए, इसके बजाय अशुभ छोड़कर शुभ में लीन होता है, शुभ की मिठास में अटकता है - वह उसे मार डालती है। यानी कि जीव को वीतरागता में आने नहीं देता। यह एक अपसिद्धांत है कि अशुभ छोड़कर शुभ करते-करते शुद्धता होगी - यह अपसिद्धांत है। अपसिद्धांत मतलब विरुद्ध सिद्धांत है, उलटा सिद्धांत है। राग करते-करते वीतरागता हो जाए ऐसा कभी नहीं बनता।

श्रीमद्जी लिखते हैं कि 'रक्त से रक्त का दाग नहीं जाता'। खून से खून का दाग नहीं जाता पानी से खून का दाग निकलता है। वह भी निर्मल पानी से (दाग जाता है), ऐसा कहना है।

कहते हैं कि **'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...'** प्रायः जीव धर्म के क्षेत्र में आकर अशुभ छोड़कर शुभ प्रवृत्ति में सहजरूप से ही प्रवृत्ति करते हैं। दूसरा उपाय नहीं है। अशुभ छोड़ना और शुभ में आना - इतनी साधारण प्रक्रिया तो बनती ही है। शुद्धता उत्पन्न होने के पहले भी (ऐसा तो बनता ही है)। परंतु यह शुद्धता भी उन्हीं जीवों को उत्पन्न होती है जिन्हें शुभ की मिठास नहीं रहती। जिनको इस शुभराग की मिठास रह जाती है उन्हें वीतरागता और शुद्धता की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा है। क्योंकि वहाँ उसने शुद्धता के बजाय शुभ की कीमत कर ली।

गुरुदेवश्री एक दृष्टांत देते थे कि जैसे कोई बाजरे की बालदार फसल होती है जिसका डंठल मोटा होता है। यह जो फसल होती है न ! सीधा ही डंठल जमीनमें से उगता है। ऊपर में बाल पकती है। बहुत बड़ी बाजरे की बाल होती है जिसका वजन

भी होता है, ५०० ग्राम बाजरे के दाने इसमें भरे हो ! दो-दो बित्ता लंबी बालें होती हैं। इसका पौधा फिर एकदम पतली सलाई जैसा नहीं होता है। उसका पतली सलाई जैसा पौधा नहीं होता है। छः फिट पर ऐसी बालदार फसल को टिकने के लिए उसका डंठल भी उतना मोटा होता है। उसे 'डंठल' कहते हैं, साँटा होता है। वैसे सबल से सबल पुण्य के परिणाम हो जिसका आगे जाकर शुद्धता के परिणामरूपी फल आता है तो भी जिसको बाजरे की मिठास चाहिए उसे डंठल की कीमत नहीं होती। गठरियाँ भर-भरकर घास निकलता है ! उदार आदमी होगा - कोई श्रीमंत आदमी होगा वह कहेगा कि पिंजरापोल में भेज दो, उससे पैसा नहीं कमाना है मुझे। मेरे यहाँ फसले इतनी पकती हैं, पुण्य के कारण इतनी फसल पकती है कि जिससे कितने ही कोठार भरने के बाद भी मैं दान दे देता हूँ। खाते-पीते इतना बचता है करें क्या इसका ? जब उसको भी मैं दान में दे देता हूँ तो फिर घास की गठरियाँ को इकट्ठी करके क्या करना है ? भेज दो इसे ! उसकी नज़र घास पर नहीं होती।

वैसे जिस शुद्धता में केवलज्ञान और सिद्धपद की फसल पकनेवाली है, ऐसे मार्ग पर चलनेवाले मोक्षमार्गी जीव को व्यवहार रत्नत्रय के कारण, उत्कृष्ट शुभराग के निमित्त से ऊँची जाति के पुण्य का बंध होता है। उस बंधन के सामने अपेक्षा रखकर देखे तो वह मोक्षमार्गी नहीं !!

जैसे कोई श्रीमंत हो फिर भी घास की गठरियाँ का संग्रह करे तो इसमें इसकी श्रीमंताई नहीं ! इतनी-इतनी फसल पकने के बावजूद भी जो लोभ करके घास का संग्रह करे तो उसमें इसकी श्रीमंताई नहीं रहती। वैसे यहाँ कहते हैं कि वीतरागता की

जो कीमत है इसके आगे राग की क्या कीमत है ? उत्कृष्ट से उत्कृष्ट व्यवहार के राग की भी कोई कीमत नहीं है। मोक्षमार्गी जीव की ऐसी परिस्थिति होती है। यह मोक्षमार्गी जीव की वास्तविक स्थिति है। जिसको यहाँ प्रदर्शित किया है। 'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती है...' उसमें वह अटक जाता है, आगे नहीं बढ़ता, वीतरागता उत्पन्न नहीं कर सकता है।

इससे बढ़कर कहते हैं कि, 'परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास जीव को मार डालती है।' परसत्तावलंबी ज्ञान (मतलब) दूसरे पदार्थ को लक्ष्य में रखकर, दूसरे पदार्थ के अवलंबन से उत्पन्न हुआ ज्ञान, पढ़-पढ़कर प्राप्त हुआ ज्ञान, सुन-सुनकर प्राप्त किया हुआ ज्ञान। या आत्मा के अवलंबनपूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए, ज्ञान भण्डार के अवलंबन से ज्ञानमें से जो ज्ञान आना चाहिए, इसके बजाय अन्य द्रव्य और अन्य भाव में आकर्षित होकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है (उसे परसत्तावलंबी ज्ञान कहते हैं) और वह ज्ञान यदि जीव को अच्छा लगे, मीठा लगे कि, वाह ! मुझे बहुत ज्ञान है ! तो यह भी जीव को मार डालता है। यह विद्वानों के लिए चेतावनी है।

धर्म के क्षेत्र में दो प्रकार की प्रक्रियावाले जीव हैं। ज्ञान की क्रियावाले और शुभराग की क्रियावाले - (ऐसे) दो प्रकार की परिणाम-क्रियावाले जीवों की स्थिति देखकर यह बात की है। जो शुभराग की क्रिया कर रहे जीव हैं और उस शुभराग की मिठास ले रहे हैं वे भी मरे हुए हैं। (वे भी) मर गए ! उसके जन्म-मरण नहीं मितेंगे और ज्ञान की क्रिया में रत, शुद्ध अंतर सत्ता के अवलंबनपूर्वक ज्ञान करने के बजाय, इसे छोड़कर बाहर में शास्त्र (पढ़कर) और शास्त्र सुनकर जो अपने ज्ञान को विकसित हुआ मानते हैं, बहुत

ज्ञान प्राप्त किया ऐसा मानकर उसकी मिठास लेते हैं (वे भी मरे हुए हैं)।

काफी लोगों के पास एक बात करने के लिए अनेक शब्दों से बात की अभिव्यक्ति कर सके ऐसी भाषा-शैली होती है। साथ ही उस ज्ञान के अनुरूप बाहर में वाणी आदि का योग भी होता है। फिर इतनी मिठास आती है... इतनी मिठास आती है... वाह ! जैसे यही सर्वस्व है ! (यहाँ कहते हैं) उसे अंतर्मुख होने का अवसर नहीं आता।

एक जगह बोल है। कहाँ है (इस ग्रंथ में) आगे या पीछे पता नहीं है। आ चुका होगा तो आपका खयाल होगा। 'जिसको क्षयोपशम ज्ञान का या इन्द्रिय ज्ञान का रस चढ़ा है, उसको अतीन्द्रिय ज्ञान का रस नहीं चढ़ेगा।' ऐसी एक बात इस 'परमागमसार' में आती है। इसलिए मन और बुद्धि से वह भले ही चारों अनुयोग के विषय का अध्ययन करके ज्ञान के उघाड़ के रस में चढ़ जाये, उसे इन्द्रियज्ञान का रस है ऐसा कहा जाता है। इसे परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास कहो चाहे उसे इन्द्रियज्ञान का रस है (ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं)। वास्तव में उसे अतीन्द्रिय ज्ञानधारी ऐसा आत्मा नहीं रुचा है। जीव को हकीकत में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी आत्मा की रुचि नहीं है और अतीन्द्रिय ज्ञान की मिठास लेने का उसे मन नहीं है। वह विरुद्धपक्ष में खड़ा है, ऐसा ही कहना है लीजिए ! विरोध पक्ष में वह खड़ा है।

इन्द्रियज्ञान की मिठास लेनेवाला जीव विरोधपक्ष में खड़ा है। इन्द्रियज्ञान की मिठास, क्षयोपशमज्ञान की मिठास आत्मा के विरोधपक्ष में है। वह सब से ज्यादा फँसने का कारण है। क्योंकि इसका विषय तो है शास्त्र ! हालाँकि पण्डितों का संसार ही शास्त्र है।

पण्डितों का संसार शास्त्र है। यह भी शास्त्र में ही आता है। यह बात भी शास्त्र में ही आती है।

टोडरमलजी ने शुरूआत में लिया है कि, पण्डितों का संसार जो है वह शास्त्र है। क्यों ऐसा कहा ? क्योंकि जिस परसत्तावलंबी ज्ञान से संसार का परिभ्रमण चालू रहता है, ऐसे परसत्तावलंबी ज्ञान को उसने मिठास ले-लेकर बढ़ाया है, जिससे उसे पर तन्मयता और पर - सन्मुखता का अभाव नहीं होता है और स्व-सन्मुखता उत्पन्न नहीं होती है। यह परिस्थिति पैदा हो जाती है। वह जीव को मार डालती है, यानी कि भावमरण और द्रव्यमरण का वह कारण होती है। अतः विपरीत दिशा में उस विषय को कीमत देकर बिलकुल चलने जैसा नहीं है।

अब कहिये, अपने स्वाध्याय के सात दिनमें से छः दिन करना कि नहीं करना ? करने चाहिए कि नहीं करने चाहिए ? यह तो दूसरे ध्वनि की अपेक्षा से है। यह Cross Argument है। ऐसा कहते हैं कि भगवान की जो दिव्यध्वनि है वह ऐसी है कि सुननेवाले श्रोताओं को, धर्मी को भी ऐसा लगता है कि जैसे भगवान मेरे कान में अमृत की धारा कर रहे हों ! अमृत की धार करते हों ऐसा लगे ! परंतु ऐसा लगने के पीछे कारण दूसरा है। भीतर में जो आनंद अमृत है न ! उसका जीव को लक्ष्य होता है। अंतरलक्ष्य में विकास करता है तब (भगवान) पर आरोप किया जाता है।

भगवान की वाणी में जो पुण्य अतिशय है (इसलिए) मिठास है, आवाज़ की मिठास जरूर है, असाधारण है अतिशय है। जगत के किसी भी स्वर में ऐसी मिठास नहीं होती। भले ही संगीत के स्वर को लोग सुस्वर कहकर इसकी मिठास लेते हो और कर्कश - दुस्वर को कट्टु जानते हो, तो भी भगवान की वाणी है उसकी

मिठास तो कोई अलौकिक मिठास है !!

ऐसा होने के बावजूद भी जो जीव शुद्धोपयोग में लीन होते हैं, वहाँ समवसरण में लीन होते हैं इनकी बात है...! समवसरण में लाखों जीव वारंवार स्वरूप में डूबकी लगाते हैं। तब इस मिठास को लेते हुए (स्वरूप में लीन) होते हैं या उसे छोड़कर ? वहाँ धीमी धार है, उस अमृत की धारा को भी छोड़ते हैं कि नहीं ? क्योंकि इससे भी ज्यादा अमृतमय जो भीतर में आनंद का परिणमन है, वह वास्तव में अमृत है ! उसमें लीन होते वक्त उतना समय भगवान की वाणी सुनना छोड़ देते हैं। उपयोग छूट जाता है। सुनने में उपयोग तब नहीं रहता।

अरे ! लेकिन भगवान सामने बैठे हैं, वाणी सुना रहे हैं, फिर भी तू उपयोग नहीं देता है ? यह तो अविवेक नहीं कहलाएगा ? परंतु भगवान भी वाणी में यही कह रहे हैं कि, तू अंदर में लीन हो जा ! अतः भगवान की आज्ञा का पालन ही भगवान का सच्चा विवेक है। वाणी सुनना वह तो इसकी बराबरी में अविवेक है ! विवेक नहीं परंतु वह अविवेक है। क्योंकि पर-सन्मुख रहा, स्व-सन्मुख नहीं हुआ, मतलब आज्ञा मानी नहीं - ऐसा हो गया। थोड़ा अजीब-सा लगे ऐसा है !

मुमुक्षु :- सीधा ही है।

पूज्य भाईश्री :- एकदम सीधा है। सीधा है क्या ? एकदम सीधा है। अंतर्मुख होना इसमें क्या आड़े आता है ? इसमें तो कोई रुकावट है ही नहीं। केवल अंतर्मुख होना यह तो एकांत सत्य का आराधन है, सत्य स्वरूप का आराधन है। वह एकांतरूप से वीतराग मार्ग है। इसके अलावा दूसरा कोई मार्ग है नहीं।

(यहाँ कहते हैं) 'शुभराग की मिठास जीव को मार डालती

है और परसत्तावलंबी ज्ञान की मिटास भी जीव को मारी डालती है। हमलोग जब विशेषरूप से ज्ञान की प्रक्रिया में चल रहे हैं तो हमें इस पर विशेषरूप से विचार करना आवश्यक है। अपने यहाँ जो विषय चलता है उसमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का विषय विशेष चलता है। जिसमें सुनना, पढ़ना, चर्चा आदि करना - ऐसे दो-तीन प्रकार से यह प्रवृत्ति चलती है, परंतु इसमें यह ध्यान खींचने जैसी बात है कि ये सारी प्रवृत्तियों का उदय चलता हो तो भी लक्ष्यमें से यह बात हटनी नहीं चाहिए कि यह परसत्तावलंबी ज्ञान है जिसकी कीमत नहीं है। इसे तुल्य देने जैसा नहीं है और न तो इसमें उघाड का विकास हो जाये तो इसकी मिटास का वेदन करने योग्य है।

मुमुक्षु :- बहुत कठिन बात है !

पूज्य भाईश्री :- कठिन में तो भाई ! ऐसा है कि जब तक अभ्यास नहीं है तब तक (लगेगी)। एक अंक लिखना भी एक समय कठिन लगता था ! परंतु कब तक ? कि जब तक इसे लिखने का अभ्यास नहीं था। लगता था कि नहीं मुश्किल ? अभी कौन कहेगा कि एक अंक लिखना मुश्किल है, (मुझे) सिखाईये ? कोई नहीं कहेगा।

प्रश्न :- यह जो परसत्तावलंबी ज्ञान कहा वह कौन-सा ?

समाधान :- ये जितना भी शास्त्रज्ञान है, शास्त्र के अवलंबन से जितना उघाड और विकास होता है - वह सारा परसत्तावलंबी ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि जीव को इसकी मिटास आती है, वह उसे मार डालती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को अंग-पूर्व का उघाड हो सकता है, गणधरदेव को तो इतना उघाड होता है कि अंतर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना

कर दे ! जिसमें चारों अनुयोग आ जाते हैं। बारह अंग किसको कहें !! लिखने बैठे तो लिखा न जाए। लिखने बैठे तो लिखना पूरा ही न हो जैसे। इतना क्षयोपशम ! अंतर्मुहूर्त में इतना विकास होता है ! इतने भेद-प्रभेद में उपयोग तेजी से घूम लेता है, फिर भी मोक्षमार्गी जीव को उस परसत्तावलंबी ज्ञान की मिठास नहीं आती।

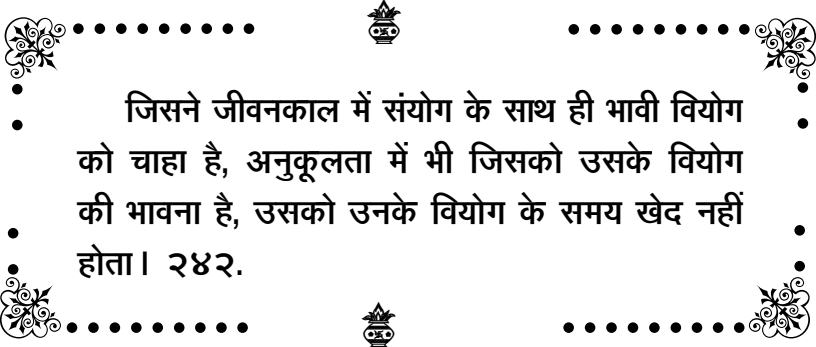
इतना ही नहीं, रहस्यपूर्णचिह्नी में तो यहाँ तक बात की है कि, कोई भी मोक्षमार्गी जीव परसत्तावलंबी ज्ञान को मोक्षमार्ग नहीं कहते। ठीक ! अरे ! लेकिन गणधरदेव तो शास्त्र की रचना करते हैं न ? (लेकिन) उसे मोक्षमार्ग नहीं कहते। जो स्वसत्तावलंबी ज्ञान है उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस प्रकार इस विषय पर विशेष विचार कर्तव्य है। (समय हुआ है)।



जिज्ञासा :- आत्मस्वभावका ग्रहण हो इसके लिए प्रगट प्रमाण कौनसा है ?

समाधान :- ज्ञान - वेदन, ज्ञानका सातत्य, ज्ञानका उर्ध्वत्व - प्रत्यक्षता आदि (निर्मलता - निर्लेपता) प्रगटरूपसे स्वभावका ग्रहण होनेमें प्रमाण हैं। यदि जीव शुद्ध भावनासे अंतर अवलोकन करे, तो उसे सहज मात्रमें अनुभवांशसे प्रतीत हो सकती है।

-पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - १३०५)



जिसने जीवनकाल में संयोग के साथ ही भावी वियोग को चाहा है, अनुकूलता में भी जिसको उसके वियोग की भावना है, उसको उनके वियोग के समय खेद नहीं होता। २४२.

प्रवचन - १९, दि. १०-५-१९८३

(परमागमसार बोल-२४२) 'जिसने जीवनकाल में संयोग के साथ ही भावी वियोग को चाहा है, अनुकूलता में भी जिसको उसके वियोग की भावना है, उसको उनके वियोग के समय खेद नहीं होता।' इस जगत में सर्व संसारी प्राणियों को अपने इष्ट संयोग का वियोग होने पर दुःख होता है और खेद होता है, इसका कारण क्या ? आत्मा को किस-किसका संयोग है इसका विचार करे तो यह शरीर भी उसको संयोगरूप ही है कि जिसका वियोग निश्चित है। शरीर का वियोग जब निश्चित है तो शायद यह समझाने की आवश्यकता नहीं है कि दूसरे संयोग - कुटुंब-परिवार, मकान,

धन, धान्य उन सबका वियोग होगा ही। यह समझाने की जरूरत नहीं रहती।

बाहर में भी व्यवसाय में घाटा हो तब लक्ष्मी का - पैसे का व्यय होता है। कुटुंब-परिवार में जिस-जिसका आयुष्य पूर्ण होता है, फिर चाहे कम उम्र हो चाहे ज्यादा उम्र हो, आयुष्य पूर्ण होते ही उस सदस्य का वियोग होता है। यह सबको अनुभवगोचर है। इसके अलावा और भी बाहर में बहुत-से परिवर्तन होते हैं। इसमें जहाँ-जहाँ अपनी अनुकूलता मान रखी है, जहाँ-जहाँ ऐसा निश्चय कर रखा है, उस पदार्थ का वियोग होता है तब जीव को दुःख और खेद होता है। ऐसे खेद और दुःख को कोई नहीं चाहता। खुद को दुःख हो या खेद हो ऐसा कोई नहीं चाहता।

सामान्यतया ऐसी विचारधारा होती है कि, किसी भी पदार्थ के वियोगमें से उसका संयोग हो जाये तो दुःख नहीं होगा, क्योंकि वियोग को दुःख का कारण और संयोग को सुख का कारण माना गया है। परंतु वैसा संयोग फिर से प्राप्त करना - जिसका वियोग हुआ है उसका पुनः संयोग प्राप्त करना यह जीव के अधिकार में नहीं है। वह भले ही इच्छा करे, फिर भी उसके अधिकार की बात नहीं है। ये मृत्यु आदि वियोग को (पुनः प्राप्त करना) यह तो अशक्य है। जगत के किसी प्राणी का बीमा करवाया हो तो पैसा मिलेगा परंतु इसकी जिंदगी वापिस नहीं मिलती। उन पैसे से पुनः जिंदगी प्राप्त नहीं होती। (अतः इसके वियोग से उत्पन्न दुःख नहीं मिटेगा। घर से आदमी के चले जाने पर इसके बदले में रुपया देने से इसका दुःख कोई कम नहीं होता। अगर दुःख मिटने का यही उपाय होता जब तो आदमी को बेचने के प्रसंग बनने लगते ! परंतु ऐसा तो नहीं बनता।

(अतः) श्रीगुरु यहाँ ऐसा समझाते हैं कि, देख ! तुझे दुःख मिटने का उपाय दिखाते हैं। ऐसा दुःख कैसे मिटे ? इसका उपाय हम तुझे दिखाते हैं। वह उपाय ऐसा है कि, 'ज्ञानमात्र' से तेरा दुःख मिटेगा !! 'ज्ञानमात्र' से ही (यानी कि) सिर्फ (सही) समझ से ही तेरा दुःख मिटेगा। तुझे इसके लिए कोई ज्यादा परिश्रम उठाने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। यहाँ विषय यही है।

प्रस्तुत बोल :- २४२ का विषय यही है कि, जीवनकाल में मतलब इस जिंदगी का जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत का Period (समय) है, उसे 'जीवनकाल' कहा जाता है। इस जीवनकाल दौरान अनेक प्रकार के संयोग होते हैं। मकान का वास्तु करते वक्त (जीव को) मकान का संयोग हुआ, (वह जीव के) परिवार को भी (संयोग है)। जिसका कर्म के उदय से संबंध है; इसे नोकर्म कहते हैं, इसका जो फल है वह पूरा (नोकर्म) है। संयोग-वियोग सब नोकर्म में जाता है। भीतर में कर्म का उदय है। उस संयोग के काल में ही जिसने वियोग को चाहा है, ऐसा (कहना है)। मतलब क्या ? कि, जब संयोग होता है उस वक्त ही ऐसा विचार साथ में हाजिर हो कि, इस संयोग की मिठास लेने जैसी नहीं है। क्योंकि इसका वियोग निश्चित है, है और है ही। या तो खुद की हयाती में उस पदार्थ का वियोग होगा या तो खुद यहाँ से चला जाएगा और वियोग होगा।

संयोग के काल में वियोग को भाना यह कोई प्रसंग के साथ उचित है क्या ? लीजिए ठीक ! आदमी ऐसा नहीं कहते हैं कि भाई ! 'विवाह के समय मरसिया नहीं गाया जाता !' विवाह चलता हो तब शोक प्रसंग के गीत नहीं गाये जाते, खुशी के प्रसंग के

गाने गाये जाते हैं। लौकिक में ऐसा बनता है। परंतु वह दुःख का कारण है, (ऐसा यहाँ) कहते हैं, ठीक !

प्रश्न :- तो फिर हमें बसना कहाँ ?

समाधान :- बसना तो... हमें अपने में ही - आत्मा बसा हुआ है इसका सिर्फ भान करना है !! बसने का सवाल नहीं है, बसा हुआ ही है, खुद अपने में - आत्मा में अनंत गुण के परिवार सहित बसा हुआ है ही। इसका भान करना कि, मेरे में केवलज्ञान आदि अनंत शक्तियाँ मौजूद हैं। उन शक्तियों की खिलवट, उनका विकास मैं सम्यक् प्रकार से करूँ। मतलब जीव को अपने निवासस्थान से कभी दूर जाने का सवाल ही नहीं है। आत्मा के गुण हैं वे संयोगी तत्त्व नहीं हैं। शरीर, मकान, कुटुंब-परिवार ये सब संयोगी चीज हैं कि जिसका वियोग निश्चित है। स्वीकार करे चाहे नहीं करे, माने या न माने, आदर करे या उपेक्षा करे परंतु उसका वियोग तो निश्चित है, है और है ही।

(कोई ऐसा) कहे कि संयोग के काल में (वियोग को) याद मत करो ! क्योंकि वियोग नहीं सुहाता है। संयोग के काल में वियोग को याद करना नहीं सुहाता है क्योंकि (संयोग की) मिठास में दखल पहुँचती है। जो संयोग की मिठास लेता है - ये रुपये मिले, यह मकान मिला, कुटुंब-परिवार में नये-नये सदस्य आये, बेटे का जन्म हुआ, बेटी का जन्म हुआ, सगाई-विवाह करे तब अच्छे समधी मिले और राजी-राजी हो जाये !! यह खुशी व मिठास है वह जीव के दुःख का मूल कारण है। यह बात यहाँ समझाते हैं।

जगत में यह विषय प्रचलित नहीं है। क्योंकि (लोग) ऐसा कहते हैं कि 'विवाह के वक्त मरसिया नहीं गाया जाता' यानी इसका

अर्थ ऐसा है कि हर्ष के समय - संयोग के वक्त वियोग की बात नहीं की जाती। गुरुदेवश्री तो ऐसा कहते थे कि, बालक जब जन्म लेता है, तब माता उसे अपनी गोद में लेती है, जन्म होने के बाद गोद में लेने के समय पुत्रादि का संयोग हुआ ऐसा कहा जाता है। परंतु उस बालक को माता का संयोग हुआ और वह माता की गोद में गया इसके पहले ही वह वियोग की गोद में जा चुका है। माता की गोद में जाने से पहले ही वह वियोग की गोद में जा चुका है, क्योंकि मर्यादित आयुष्य की अवधि लेकर जीव आया है। किसी भी पर्याय में - चारों गति में - देव हो, मनुष्य हो, तिर्यच-पशु-पक्षी हो या नरक में जाये - इसकी अवधि निश्चित है। पूर्व के भव में इसकी अवधि निश्चित हो जाती है। फिर (वर्तमान में) इसका अमल होता है, वह तो उसकी समय मर्यादा निश्चित होने के बाद होता है। अगले भव का आयुष्य यहाँ निश्चित होता है बाद में मृत्यु होती है, फिर (अगले भव में) उस आयुष्य भोगने का अमल शुरू होता है।

(इसलिए यहाँ) कहते हैं कि, उन संयोगों का वियोग साथ में ही चाहा है, यानी कि पूर्वकर्म अनुसार संयोग हुआ है - शरीर का संयोग हुआ, पैसे का संयोग हुआ, मकान का संयोग हुआ तब इसके हर्ष का वेदन मत करना, ऐसा कहते हैं। इसके हर्ष के वेदन के बजाय वियोग का ज्ञान साथ में रखना, भान साथ में रखना। वरना हर्ष का वेदन हुए बिना रहेगा नहीं। इष्ट संयोग होने पर हर्ष किसको नहीं होगा ? ऐसा कहते हैं। ऐसा हर्ष ज्ञानी को नहीं होता है। जगत के सामान्य पामर प्राणियों को तो हर्ष होता है परंतु ज्ञानियों को वैसा हर्ष नहीं होता, इसलिए वियोग के काल में वे दुःखी भी नहीं होते हैं। हर्ष में छलक नहीं जाते

दूसरी ओर (वियोग में) दुःखी भी नहीं हो जाते और जो (हर्ष में) छलक जाता है वह दुःखी हुए बिना रहेगा नहीं। - ऐसी परिस्थिति है। जो हर्ष का वेदन करेगा वह दुःख के वेदन से बच नहीं सकेगा। उसके लिए दुःख का वेदन अनिवार्य है। उसका निवारण अशक्य है। इसका निवारण यहाँ पर है।

कोई ऐसा कहे कि, ये तो आप ऐसी Term-Condition रखते हो कि तुम यदि हर्ष को न भोगो तो तुम दुःख भोगने से बच सकोगे। यानी कि दुःख भोगना न पड़े इसके लिए क्या अभी से हम हमारे सुख का बलिदान दे दें ! यह थोड़ी कठिन शर्त है कि, सुख का प्रसंग हो तब सुख का अनुभव नहीं करे ?! क्योंकि वरना दुःख का अनुभव अनिवार्य हो जाएगा ! यह कैसी बात है ? थोड़ी सरल भाषा में ले रहे हैं। तत्त्वज्ञान का विषय इतना ऊँचा नहीं है, समझ सकते हैं। हमारी रोज़ाना जिंदगी में जो घटनाएँ बनती हैं उससे संबंधित यह सहज ही आसान विषय है। दूसरे और भी तत्त्वज्ञान के गहन विषय इसमें काफी आये हैं। परंतु यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, भाई ! आखिर में तुझे सुख चाहिए और दुःख नहीं चाहिए और सुख चाहिए - यही तेरी शर्त है !

सुख चाहिए और दुःख नहीं चाहिए - यह हमारी शर्त है। अब, गुरुदेवश्री के वचन में तो बात ऐसी आयी है कि यदि तू संयोग में सुख का वेदन करेगा तो तुझे वियोग का दुःख उत्पन्न हुए बिना रहेगा नहीं। इसलिए दुःख नहीं भोगना हो तो तुझे संयोग के सुख का भोग देना होगा, ठीक ! अब, यह तो करें या नहीं करें, थोड़ी असमंजस में डाल दे ऐसी बात है।

भाई ! हम तुझे सुख का एक रास्ता दिखलाते हैं। तुझे संयोग जनित जो सुख मिलता है उस सुख से भी बेहतर - सुंदर सुख

तुझे मिले ऐसा यह उपाय है। संयोग जनित सुख तो आकुलतामय है। क्योंकि उसमें साथ-साथ दूसरे कार्य करने की उपाधि होती है। घर में अनेक हर्षोल्लास के प्रसंग आते हैं तब बाद में इसकी थकान महसूस होती है यह क्या सूचित करता है ? कि, शारीरिक परिश्रम किया हो या किसीने मानसिक परिश्रम किया हो, वैसे मानसिक परिश्रम के साथ शारीरिक परिश्रम तो करना ही पड़ता है। किसीका स्वास्थ्य शारीरिक परिश्रम करने के काबिल नहीं हो तो वह मानसिक परिश्रम, अपने स्वामीत्व के कारण उपाधि खड़ी करता है या उपाधिसहित वह उस प्रसंग से गुजरता है, उस वक्त प्रसंग निपट जाने के बाद कैसे चैन-सा महसूस होता है ! कि, चलो ! अच्छा हुआ सब बिना किसी विघ्न के निपट तो गया !! घर में बेटा का विवाह था, बारात आयी थी जिसमें बड़े-बड़े लोग आये थे, लेकिन अच्छा हुआ कि कोई अघटित बात नहीं बनी और सब काम निर्विघ्न पूरे हो गये। जब तक प्रसंग पूरा नहीं होता है तब तक जीव को Tension - बोझा रहता है। रहता है कि नहीं ? शारीरिक परिश्रम न किया हो (तो भी थकान लगती है)।

इसका मतलब यही हुआ कि, खुशी के प्रसंग में भी अन्य-अन्य कार्य की उपाधि और आकुलता है, खुशी के आड़े उसको गौण करता है इसलिए जीव को इसका उसवक्त खयाल नहीं रहता, परंतु पीछे से अनुभव होता है कि, चलो ! अब शांति हुई ! अतः हकीकत में खुशी के प्रसंग में माना गया सुख उपाधि और आकुलता सहित ही था, यह न्याय एवं विचार से समझा जा सकता है।

यहाँ ज्ञानी जीव को ऐसे सुख में ले जाना चाहते हैं कि जिसमें उपाधियुक्त सुख न हो बल्कि निरुपाधिक सुख मिले ! और वह सुख भी क्षणिक प्रसंग की मर्यादा में नहीं अपितु शुरू होने के

पश्चात् अनंतकाल पर्यंत (मिलता ही रहे)। इस जीवन में भी और इस जीवन के बाद अगले भव में भी चालू रहे, (इतना ही नहीं) भविष्यत् अनंत काल पर्यंत चालू रहे। शाश्वत ऐसा यह जीवात्मा जब तक शाश्वत रहे तब तक उसे सुख की समस्या न रहे। ऐसे शाश्वत मूलभूत सच्चे सुख का यहाँ उपाय है कि जिसमें संयोग के वक्त संयोग की मिटास का सुख न भोगे, न (इसकी मजा) ले तो भी जीव को उस वक्त आत्मा की शांति का सुख उत्पन्न हो और इसे भोग सके। यानी कि हकीकत में जीव के (माने हुए) सुख का भोग नहीं लिया जाता परंतु उपाधि का भोग लिया जाता है ! जिसके बदले में शांति मिलती है। ऐसा यह उपाय है। इसीलिए इस उपाय को व इस मार्ग को 'सुंदर मार्ग' कहा गया है !!

शास्त्र में ऐसी गाथा आती है (कि) इतना सुंदर यह मार्ग है, इसकी हे जीवों ! आप प्रशंसा करें ! अनुमोदन करें ! जिससे आपको भी इस मार्ग की समीपता होगी !!

अतः एक बहुत सुंदर बात यहाँ पर ली है कि जिस जीव ने - जिस आत्मा ने जीवनकाल में संयोग के साथ ही (भावि) वियोग को चाहा है, संयोग होते वक्त ही जिसने इसके वियोग का भान साथ में रखा है कि, यह संयोग भी एक दिन छूटनेवाला है। इसलिए मुझे इस अनुकूलताओं का संयोग हुआ है तो भी मुझे इसके हर्ष के आवेग में बह नहीं जाना है ! वरना वियोग के वक्त Action का Reaction दुःख में आये बिना रहेगा नहीं। यह Science का नियम है - यह विज्ञान का नियम है।

'Action and Reaction are equal and opposite' - ऐसा एक नियम है। यह विज्ञान का नियम है। 'Action and Reaction are equal and opposite' जब कोई संयोग के सुख का Action करता

है - यहाँ Action मतलब कार्य, तब वियोग के दुःख का निवारण नहीं हो सकेगा, ऐसी परिस्थिति है। उस दुःख के निवारण हेतु जीव को आत्मशांति और आत्मिक सुख उत्पन्न करके, संयोग के कृत्रिम सुख को नहीं भोगने की यहाँ पर शिक्षा दी जाती है। इतनी बात है।

सुख की दो जाति, ठीक ! सारी दुनिया को सुख का Problem है - समस्या है। है कि नहीं ? यह पूरा 'विज्ञान' ही है ! वैसे कहा जाता है 'धर्म' परंतु लोग धर्म के बारे में ऐसा समझे हैं कि रूढ़ि-रिवाज़ है सो 'धर्म' है। जैनधर्म का ऐसा स्वरूप नहीं है। रूढ़ि-रिवाज़रूप जैनधर्म का स्वरूप नहीं है। जैनधर्म तो आत्मा यानी कि चैतन्य पदार्थ और जड़ मतलब अचेतन पदार्थ, इन दोनों का विज्ञान है। और दोनों की अवस्थाओं में Action - आपस में एक-दूसरे का एक-दूसरे पर क्या असर है या नहीं है ? इसके गुणधर्मों का यह विज्ञान है - Science है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, सुख जो है वह सुख की एक अवस्था है। सुख और दुःख जीव की अवस्थाएँ हैं और जीव उसे भोगता है। अब दुःख को तो जगत का कोई भी प्राणी नहीं चाहता, यह निर्विवाद विषय है। सुख को सर्व प्राणी चाहते हैं, यह भी निर्विवाद विषय है। तो अब चर्चा का विषय यह है कि सुख की जाति कितनी ?

सुख की मुख्य दो जाति हैं। एक कृत्रिम और एक अकृत्रिम जाति है, यह यहाँ पर जैनधर्म के विज्ञान का विषय है। संयोग आश्रित जो सुख का अनुभव किया जाता है, संयोग के लक्ष्य से, संयोग के निमित्त से, संयोग के कारण, अनुकूलताओं के कारण, अनुकूल संयोगों के कारण जो सुख का अनुभव किया जाता है

उसे कृत्रिम सुख कहा गया है और बिना किसी संयोग आत्मामें से उत्पन्न हुआ जो आत्मिक सुख के अनुभव का जो प्रकार है, उसे अकृत्रिम अथवा शाश्वत या सहज - स्वाभाविक सुख कहा जाता है।

(इसलिए) यहाँ जो विषय है - प्रस्तुत विषय है उसमें ऐसा कहा है कि, संयोग के काल में उत्पन्न हुआ जो कृत्रिम सुख है, वह कृत्रिम सुख तुझे भविष्य के दुःख का कारण (है)। अभी से (वह कारण) खड़ा होता है।

दूसरा एक Practical विषय इसमें यह भी विचारणीय है कि, जब किसी पदार्थ के वियोग के काल में दुःख होता है, फिर वह चाहे किसी भी प्रकार का वियोग हो, उस वियोग के दुःख के समय इस दृष्टि से विचार तो जीव को आसानी से समझ में आएगा कि दुःख क्यों हुआ ? यह थोड़ा भीतर में जाँच करने का विषय है। (जाँच करने पर) उसे स्पष्ट खयाल में आएगा कि, इस पदार्थ के संयोग के वक्त जितनी मिठास, जितना सुख का अनुभव किया था, इसका यह Reaction (प्रत्याघात) आया है, इसका यह Reaction है। यह समझ सके ऐसा विषय है।

इसलिए गुरुदेवश्री यहाँ समझाते हैं कि, **‘जिसने जीवनकाल में संयोग के साथ ही भावी वियोग को चाहा है,...**’ सिर्फ ज्ञान किया है, ऐसे नहीं परंतु ‘चाहा है’ ऐसा (शब्द) आया है। क्योंकि संयोग को भी जीव ने अनुकूलता की चाहतपूर्वक चाहा है, तो फिर संयोग के काल में भी वियोग को भाना होगा, ऐसा कहते हैं। भावना प्रधानता से इस विषय को समझना चाहिए। जैसे संयोग की प्राप्ति में भीतर में अनुकूलताओं की भावना (अर्थात्) चाहत उत्पन्न होती है, भावना है वह चाहत - **Feeling** है, वैसे यहाँ संयोग के वक्त

ही वियोग की भावना उत्पन्न होगी तो उस वक्त जीव को कृत्रिम सुख की उत्पत्ति नहीं होगी। उस वक्त उसकी ज्ञान की दशा - (परिस्थिति) एकदम स्थिर व अवकाशयुक्त रह जाएगी। ज्ञान में तो तब गड़बड़ होती है कि, जब वह या तो अनुकूलता के राग के प्रवाह में खींच जाता है या प्रतिकूलता के द्वेष के प्रवाह में खींच जाता है, तब उसकी बुद्धि में - ज्ञान में गड़बड़ होती है। परंतु यदि अनुकूलतारूप सुख के वक्त वियोग को भाते हुए ज्ञान को स्थिर रखे तो (वास्तव में) जीव ने अनुकूलता में भी इसके वियोग की भावना भायी है। इसलिए वियोग के वक्त उसे खेद नहीं होता। इसके वियोग के काल में जीव को खेद नहीं होगा।

व्यापार का एक दृष्टांत विचार करने योग्य है कि, माल खरीदते हैं इसके बदले में रुपया का Payment करना पड़ता है, उस वक्त पैसे का तिजोरीमें से वियोग होता है, Bank Balance में से वियोग होता है परंतु वहाँ दुःख नहीं होता है। होता है ? (नहीं होता है)। क्या माल आया तब हर्ष हुआ था ? नहीं। (क्योंकि) पता है यह माल जो आया है इसके बदले में शाम को Payment करना है। न तो माल आते वक्त हर्ष होता है नहीं पैसा देते वक्त दुःख। इसका कारण क्या है ? यह रोज़ाना जीवन में बनता है कि नहीं ? क्योंकि, वहाँ (माल के) संयोग के काल में पैसा का वियोग ध्यान में है। और वह Equal Amount है। यदि उसे पैसे की Term में सोचा जाये तो इसकी Amount बराबर है।

वैसे यहाँ जो अनुकूलता का संयोग हुआ है, इसके लिए पुण्य के परिणाम का खर्च तुमने पहले कर लिया है। पहले जो पुण्यबंध किया था न ? वह इसकी कमाई है। यानी कि अभी जो माल (अनुकूलताएँ) आया है वह मुफ्त में नहीं आया है। ऐसा है। और

जब माल जाता है वह भी मुफ्त में नहीं गया। जीव तत्संबंधित वैसे परिणाम का बंधन निश्चितरूप से आगे कर ही चुका है। यानी कि संयोग या वियोग हो जाये ऐसे पुण्य के परिणाम की वहाँ मर्यादा थी। इसलिए वह कोई हर्ष-शोक का प्रसंग नहीं है नाहीं इसमें कोई हर्ष-शोक का कारण है।

इस प्रकार वस्तु विषयक विज्ञान के आगे-पीछे जितने भी पहलू हैं इसका विचार करके यदि जीवन बीताया जाये तो रोज़ाना जीवन में भी अकल्पनीय शांति रह पाएगी !! और अनेक प्रकार की उपाधियों का जो दुःख है उस दुःख से (मुक्त रहा जा सकेगा)। संयोग-वियोग के काल में भी इसके उपाधिजन्य दुःख से मुक्त रहा जा सकेगा।

वास्तव में तो धर्म यह कोई रूढ़ि और रिवाज़ का विषय नहीं है, न तो यह कोई अंधश्रद्धा का विषय है परंतु शांति से जीवन कैसे जी सके, इसका विज्ञान है और सुख की प्राप्ति के लिए इसे समझना जरूरी है। जिसको शांतिमय जीवन जीना हो, उसको यह विज्ञान को समझना - यह विषय को समझकर तथारूप जीवन गढ़ना जरूरी और आवश्यक है। जब तक यह जरूरत समझ में नहीं आती है तब तक इस विषय में योग्य एवम् पर्याप्त पुरुषार्थ या प्रयत्न भी नहीं हो सकता। जो लोग इस क्षेत्र में - धर्म के क्षेत्र में रूढ़िगतरूप से आते हैं, फिर चाहे वह सोनगढ़ जाये या कहीं भी जाये, अपनी-अपनी मान्यतानुसार जहाँ भी जाये, परंतु जब तक समझपूर्वक इस विषय में प्रवेश नहीं करेगा तब तक उसकी सुख-दुःख की जो समस्या है - वह Problem का हल नहीं आता।

इसलिए यहाँ ऐसा लिया है कि, 'उसको उनके वियोग के समय खेद नहीं होता।' खेद नहीं होता मतलब उसे दुःख नहीं होगा।

उस दुःख को मिटाने की यह बात है। दुःख मिटाने की जिसको जरूरत लगे उसको यह प्रयत्न करने योग्य है। इतनी बात जरूर है।

मुमुक्षु :- संयोग और वियोग दोनों में आपने तो अलौकिक सुख दिया !!

पूज्य भाईश्री :- संयोग के वक्त भी कृत्रिम सुख का भोग देना पड़ेगा इसका क्या ? यह सवाल है। क्योंकि (आत्मिक) शांति और सुख से बेखबर है, इसकी समझ नहीं है इसलिए जीव को यह डर लगता है कि इस सुख को कैसे छोड़ दे ? अभी जो सुख लगता है उस सुख को कैसे छोड़ दे ? (तो कहते हैं कि) भाई ! उस सुख के मूल में दुःख रहा है। 'पश्चात् दुःख ते सुख नहीं' (अर्थात्) जिसके पीछे दुःख खड़ा है उसे सुख नहीं कह सकते। यानि कि वह सच्चा सुख नहीं है। अतः संयोग के काल में कृत्रिम सुख को न भोगते हुए आत्मिक सुख को भोगने का मार्ग एवम् उपाय प्राप्त कर लेना चाहिए - जुटा लेना चाहिए।

प्रश्न :- कोई ऐसा कहे दे कि आज का आज कर लो, कल किसने देखी है ?

समाधान :- ठीक है, लेकिन कल भी तू (तेरा अस्तित्व) है कि नहीं ? (लौकिक में भी) कल की व्यवस्था जीव सोच लेता है। पचीस-पचास साल की आयु होने के बावजूद भी लड़के का विचार करते हैं, अरे ! लड़के के लड़के और उसके लड़के का भी विचार कर लेते हैं ! मकान बनवाऊँ तो ऐसा कि दोसौ - पाँचसौ वर्ष तक हिले नहीं ऐसी नीव डलवाऊँ ! नीव इतनी मजबूत बनवाऊँ इतना तो नहीं अरे ! इसकी एक ईंट भी हिलनी नहीं चाहिए !! अभिप्राय में तो ऐसा ही है ! फिर भले ही कल कुछ हो जाए !!

लेकिन अभिप्राय तो ऐसा है कि नहीं ? इसका मतलब क्या हुआ ? कि, जीव कल का विचार करता (तो) है। परंतु अज्ञान के कारण वह अपने बारे में विचार नहीं करता है। जितना संयोगों का विचार करता है उतना अपनेआप का विचार नहीं करता है !! इसलिए ज्ञानियों ने जीव में बुद्धि एवम् ज्ञान होने के बावजूद भी उसे 'अज्ञान' ऐसा नाम दिया। वैसे है तो वह भी एक प्रकार का ज्ञान ही, परंतु विपरीत ज्ञान को - उलटे ज्ञान को 'अज्ञान' कहा गया है। यह २४२ नंबर का बोल पूरा हुआ।



निज अवलोकनमें रागका और पर्यायका लक्ष छुड़ानेका हेतु है। इसके अलावा एकांत परकी ओर चल रहे झुकावके प्रवाहको बदलकर स्वकी ओर झुकाव हो वैसा हेतु है। परलक्षी ज्ञान द्वारा मात्र तर्क - युक्तिसे अनुभवमें आ रहे भावोंका - भावभासन नहीं हो सकता, अतः वैसी अभ्यासकी अयोग्य पद्धतिको बदलकर, भावभासन होवे, ऐसा इसमें खास हेतु है। स्वभावके भावभासनसे स्वभावका लक्ष होने पर, राग व पर्यायका लक्ष सहज छूट जाता है। यथार्थरूपसे अवलोकन होनेका फल पर्यायबुद्धि छूट जाये, ऐसा आता है, क्योंकि यह अनुभवपद्धति है। पर्यायबुद्धिमें दीनता आती है।

-पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - ११८४)



देह तो तुझे छोड़ेगी ही, पर तूँ देह को (दृष्टि में) छोड़े तो तेरी बलिहारी है - यह तो शूरवीरों का खेल है। २४३.



प्रवचन - २०, दि. १०-५-१९८३

(परमागमसार) २४३ (नंबर का बोल) है यह भी इस विषय के अनुरूप ही है। चलते हुए विषय से सुसंगत है।

'देह तो तुझे छोड़ेगी ही,...' (कई सारे) संयोगों में देह का भी एक संयोग है। अतः यह विषय इसमें (बोल-२४३) संकलित है। 'देह तो तुझे छोड़ेगी ही, पर तूँ देह को (दृष्टि में) छोड़े तो तेरी बलिहारी है - यह तो शूरवीरों का खेल है।' ऐसा (लिखा) है। संक्षेप में लिखा है, लिखने में बात संक्षेप में आयी है। परंतु विषय जो है बहुत गंभीर है !!

सामान्यतया आदमी मृत्यु का विचार करने के लिए भी तैयार नहीं होता ! इस जगत में कोई भी मनुष्य मृत्यु को याद करना

भी नहीं चाहता ! याद तक करना नहीं चाहता, इतना अत्यंत वह दुःखदायक विषय है। सर्व जीवों के लिए देह का त्याग - देह छोड़ना, भले ही अनिवार्य है तो भी उसे याद तक करना नहीं चाहेंगे। इसमें भी यदि कोई कैंसर जैसा बड़ा रोग आ जाये और पता चले की अब आयु ज्यादा नहीं है, तब तो छाती पर पहले से दबाव महसूस होने लगेगा ! है कि नहीं ऐसा ?

कहते हैं कि भाई ! यह एक ऐसा मार्ग है - यह एक ऐसा उपाय है कि, मृत्यु सामने दिखे तो भी तू हँसते-हँसते उसका स्वीकार कर लेगा, इतनी शांति तू रख सके, ऐसा यह विषय है !! ऐसा यह जबरदस्त विषय है !! इसकी कीमत अन्य किसी भी तरीके से करना नामुमकिन है। जिसके खयाल मात्र से और जिसको सुनने मात्र से जीव दुःखी-दुःखी हो जाये और उस विचार से भी दूर रहना चाहे, तो उस प्रसंग के नज़दीक जाना तो कौन पसंद करेगा ? कोई नहीं चाहेगा। इसका उपाय भी महापुरुषों ने बतलाया है ! इसलिए इसकी कीमत बहुत बड़ी है !! इसकी कीमत बहुत है इसका कारण है कि ऐसे अनिवार्य प्रसंग में भी दुःखी होते हुए नहीं परंतु सुखी होते हुए गुजर सकता है, ऐसी परिस्थिति संभव है ! इसलिए, इसका उपाय यहाँ दिखाते हैं।

‘देह तो तुझे छोड़ेगी ही,...’ शरीर तो किसी एक समय छूटनेवाला ही है और इसके लक्षण ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है त्यों-त्यों बाहर आते ही जा रहे हैं। आते हैं या नहीं ? चालीस-पैंतालीस और पचास होते ही बाल का रंग बदलने लगता है। किसीको तो और भी छोटी उम्र से होने लगते हैं, लेकिन चालीस, पैंतालीस, पचास साल बीतने पर शुरूआत हो ही जाती है। बाद में तो शरीर के फेरफार रसायण व भस्म खानेवाले को भी (शुरू हो जाते हैं)।

सोना (भी) क्यों न खाता हो ? सोने की भस्म होती है न ? चांदी की भस्म, प्रवाल की भस्म, सोने की भस्म, सहस्त्रकूटी अबरक भस्म (खातो हो तो भी) शरीर के फेरफार, शरीर में शिथिलता आनी, चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ जाये - यह सब हुए बिना रहनेवाला नहीं है। ये सारे Signal हैं ! जीव मृत्यु के समीप जा रहा है, इसके ये सारे Signal हैं। गाड़ी आ रही है, चेत जा ! तू चेतना चाहे तो चेत ले !! यहाँ यह विषय है।

'देह तो तुझे छोड़ेगी ही,...' तुझे भले ही शरीर छोड़ना न हो, तू चाहता है कि 'मैं इस शरीर में कायम रहूँ।' हालाँकि सभी प्राणियों की ऐसी ही इच्छा होती है। फिर चाहे विष्टा का कीड़ा हुआ हो तो भी वह शरीर छोड़ना नहीं चाहता है ! वहाँ से लेकर राजा-महाराजा, श्रीमंत से लेकर कोई भी अवस्था हो किसी को शरीर नहीं छोड़ना है। फिर भी कहते हैं कि, देह तो तुझे छोड़ेगी ही।

यह तो क्रम में जो स्वाध्याय चलता है उसमें यह विषय आ गया है। विषय तो सब परमार्थ (का ही है)। यह संग्रह ही ऐसा है ! एक-एक विषय गुरुदेवश्री के श्रीमुख से निकले हुए वचन हैं और बहुत-सी अमूल्य बातें वे कर गये हैं।

कहते हैं कि **'देह तो तुझे छोड़ेगी ही, पर तूँ देह को (दृष्टि में) छोड़े...'** वैसे अभी नहीं छूटेगी। खुदकुशी करना चाहेगा तो भी आयुष्य होगा तो देह नहीं छूटेगी। ऐसे प्रसंग भी बने हैं, भाई ! कि, आदमी ज़हर खा ले। यह खटमल को मारने की दवाई पी लेते हैं न ? लेकिन अगर आयुष्य बल हो यानी कि आयु हो तो जठर इतना ताकतवर होता है कि Vomit (वमन) करा देगा। लेते ही उलटी हो जाएगी ! भीतरमें से उछालकर बाहर फेंक

देगा ! ज़हर को उछालकर बाहर फेंक देगा। (वह) मरेगा नहीं ! थोड़ी अशाता का वेदन होगा, वह तो इसलिए क्योंकि उसका अशाता भोगने का वह निश्चित काल था, जब तो उसने ज़हर पीया ! लेकिन मृत्यु भी ऐसे नहीं होती। यानी कि देह को रखना चाहे इससे वह रहता नहीं, छोड़ना चाहे इससे वह कोई छूट नहीं जाता। हरएक संयोग का ऐसा ही है। यह तो बात चली शरीर के संयोग की लेकिन तमाम संयोग को लाने की इच्छा से ला नहीं सकते और छोड़ने की इच्छा से छोड़ नहीं सकते। ऐसा है।

श्रीमद् राजचंद्रजीने अपने जीवन काल दौरान ऐसा लिखा है। छोटी उम्र से ही उनका इस विषय में प्रवेश था। आत्मा के तत्त्वज्ञान के विषय में उनका प्रवेश था। सुख क्या है और दुःख क्या है ? उसका उन्हें 'तात्त्विक ज्ञान' था। तब (खुद) ऐसा विचार करते हैं कि, सुख प्राप्ति के लिए मुझे अपने संयोगों की वृद्धि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे आत्मामें से आत्मिक शांति और आत्मिक सुख तो मिल ही रहे हैं और मैंने मेरे आत्मा में ऐसी (दशा की) खिलवट भी की है, अतः अन्य उपाधि धारणकर, संयोग वृद्धिगत करके सुख प्राप्त करने की मुझे कोई जरूरत नहीं है। इसलिए उस दिशा में उनका कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं था। पूर्वकर्म के उदय अनुसार उनके कार्य निष्क्रियतापूर्वक चलते थे, उदासीनतापूर्वक चलते थे। और (फिर भी) संयोग में व्यापारादिक में वृद्धि होती थी और पैसे बढ़ते जा रहे थे। Foreign (परदेश) के साथ व्यापार उनकी दुकान उस ज़माने में करती थी। सौ साल पहले...! जबकि उन दिनों इतने साधन उपलब्ध नहीं थे। (परंतु) बंबई में परदेश के साथ उनका व्यापार था। तब उन्होंने अपने विषय में एक बात लिखी है। वैसे तो काव्य के रूप में है, इसमें ऐसा लिखा है

कि, यह व्यापारादि व्यवसाय बढ़ाने की इच्छा नहीं होने पर भी एक रंचमात्र भी प्रवृत्ति कम नहीं हो रही है, प्रवृत्ति कम तो नहीं होती बल्कि बढ़ती जा रही है, पूर्वकर्म ही कोई ऐसा है।

यहाँ तो इतना ही Point (मुद्दा) लेना है कि, खुद के चाहने से बढ़ जाये और नहीं चाहने से नहीं बढ़े, ऐसा भी नहीं है। ठीक ! इच्छा नहीं थी फिर भी बढ़ता था और कितने लोग इच्छा भी रखे और प्रयत्न भी करे तो भी नहीं बढ़ता। इसका क्या कारण है ? कि, पूर्वकर्म कारण है। इसमें वर्तमान प्रयत्न तो निमित्तमात्र है। जिस प्रयत्न से नुकसान हो उसे घाटे का निमित्त माना जाता है, लाभ हो उसे लाभ का निमित्त माना जाता है, (लेकिन) है दोनों ही पूर्वकर्म के अनुसार।

यहाँ ऐसा कहना चाहते हैं कि, इस जीव को शरीर का संयोग जो है उसका वियोग निश्चित है ! और इसके लिए दलील या Argument देने की जरूरत नहीं है, (क्योंकि) सर्वसामान्य को यह अनुभवगोचर है। क्योंकि साल भर में एक-दो-चार ऐसे प्रसंग तो (बनते ही हैं)। किसी न किसी के अंतिम संस्कार करने जाना ही पड़े ऐसी परिस्थिति तो सबको खड़ी होता है, अवश्य होती ही है। उस वक्त जो दुःख होता है, उस दुःख से यदि छूटना हो, दुःख को मिटाना हो, फिर चाहे स्वजन की मृत्यु का समय हो चाहे खुद की मृत्यु का समय हो, - परंतु यदि उस दुःख को मिटाना चाहते हो तो दृष्टिमें से शरीर को छोड़ देना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

यहाँ उपदेश क्या है ? कि, दृष्टिमें से देह को छोड़ना चाहिए, लेकिन जब देह मौजूद है तब ही। इतनी बात है। शरीर संयोग में उपस्थित है, हाज़िर है तब ही इसकी दृष्टि छोड़ देनी चाहिए,

ऐसा कहना है। यह विषय थोड़ा विशेषतः गंभीर व गहरा है !

दृष्टिमें से देह को छोड़ना मतलब क्या ? यह कहते हैं। दृष्टिमें से देह को छोड़ना मतलब 'देह सो मैं हूँ' ऐसी देहात्मबुद्धि छोड़ना। ज्ञान से लेंगे तो समझ में आ जाएगा। दृष्टि का विषय सूक्ष्म है न ! इसलिए उसे - दृष्टि के विषय को भी शास्त्रकारों ने, मतलब जो इस विज्ञान के कुशल - Expert ज्ञाता और विशेषज्ञ हैं ऐसे शास्त्रज्ञों ने यह विषय ज्ञान की प्रधानता से समझाया है।

देहात्मबुद्धि (मतलब) 'देह सो मैं हूँ' ऐसी शरीर में जो आत्मबुद्धि है उस आत्मबुद्धि को छोड़ देना। समझाने की शायद ही जरूरत है कि दूसरे संयोग में आत्मबुद्धि नहीं करनी है। यह फिर समझाने की आवश्यकता नहीं है। जब शरीर में आत्मबुद्धि करने का निषेध है, मनाई है तो फिर दूसरे संयोगों में आत्मबुद्धि किसी भी हालात में नहीं करनी चाहिए। यह समझाने की जरूरत नहीं रहती। (स्वतः) इसमें आ गया।

(आत्मा में) आत्मबुद्धि मतलब शरीर की शाता में राजी नहीं होना और शरीर की अशाता में दुःखी नहीं होना। एक बात तो स्पष्ट है कि शरीर की शाता में तो कोई ज्यादा राजी नहीं हो जाते। सामान्यतया सेहत थोड़ी ठीक हो, शरीर का वजन पर्याप्त मात्रा में हो (यानी कि) Overweight भी न हो और Underweight भी न हो - पतला भी न हो मोटा भी न हो, तब जीव को ऐसा लगता है कि चित्त प्रसन्न रहता है ! शरीर में रोग नहीं है और शरीर का स्वास्थ्य कुछ ठीक है इसलिए मन भी प्रसन्न रहता है। इसमें ज्यादा कोई राजी हो जाने जैसा तो नहीं है। परंतु जब शरीर में अशाता उत्पन्न होती है तब तो उसका दुःख उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता और उस दुःख को मिटाने का प्रयत्न तो अवश्य

होगा, होगा और होगा ही; इसका क्या करें ?

यदि रोग के काल में दुःख मिटाने के लिए इसके इलाज के लिए भागादौड़ी, या जो भी प्रयत्न करना पड़ता है, यानी कि रोग के काल में इतने दुःखी हो जाते हैं तो मृत्यु के समय कितने गुणांक में (दुःख) बढ़ जाएगा ? इसका गुणांकन कर लेना। बहुत दुःख होगा। यह तो अपनेआप ही समझ में आ जाए ऐसा है। अब इस दुःख को कैसे मिटाना ? देहात्मबुद्धि मिटे तो दुःख मिटे। यह तो इसका एक सिद्धांत हुआ। 'शरीर सो मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि मिटे तो जीव की दृष्टिमें से देह की दृष्टि छूटे और आत्मा की दृष्टि हो। यह तो एक Side की (पहलू) Negative (नास्ति पक्ष की) बात हुई। शरीरमें से दृष्टि छोड़ यानी बुद्धि-आत्मबुद्धि छोड़ - यह तो Negative बात हुई।

अब, इसका Positive (अस्ति का) पहलू ऐसा है कि आत्मा में आत्मबुद्धि कर ! जो यहाँ से अनर्पित निकलता है। एक बात में दूसरी बात गर्भितरूप से समाविष्ट होती है। इसमें यह बात अनर्पित है कि शरीरमें से आत्मबुद्धि छोड़ मतलब तू आत्मा में आत्मबुद्धि कर ! ऐसी बात है। अतः ऐसा है कि, यदि आत्मा में आत्मबुद्धि की जाए तो शरीरमें से आत्मबुद्धि छूट जाए। समझ में आए इसलिए बहुत Lightly - सरल करके बात लेते हैं। जहाँ तक संभव हो आसान शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, एकदम ऊँचे Level पर (स्तर में) तत्त्वज्ञान को न ले जाकर थोड़ी सरल शैली में ले रहे हैं।

आत्मा में आत्मबुद्धि करना मतलब स्वयं आत्मा स्वरूप - जीव स्वरूप है। 'है' ऐसा मानना है। शरीर में जो आत्मबुद्धिरूप कल्पना हो चुकी है उस कल्पना को छोड़ देनी है।

मुमुक्षु :- शरीर तो मेरा है उसे आप कल्पना कहते हो !

पूज्य भाईश्री :- अपना होता तो हमेशा साथ में रहना चाहिए था। शरीर यदि इस जीव का होता (तो कायम साथ ही रहता)। भले ही कहा जाता हो कि आपके जीव का यह शरीर, मेरे जीव का यह शरीर, इस जीव का यह शरीर - ऐसा कहा (तो) जाता है, परंतु वह तो शरीर-शरीर के बीच अलगाव दिखाने की बात है। हकीकत में किसी जीव का कोई शरीर नहीं है। किसी जीव का कोई शरीर क्यों नहीं है ? क्योंकि जीव एक चैतन्यपदार्थ है जबकि शरीर है वह अनेक रजकणों के संयोग से बना हुआ एक समूह (है) - संयोगिक पदार्थ है। जिसको 'शरीर' ऐसा नाम दिया जाता है। लेकिन (वास्तव में) वह अनेक रजकणों का समूह है। हररोज प्रतिक्षण अनेक रजकणों का इसमें आवागमन होता है। नये रजकण इसमें जुड़ते हैं और पुराने कुछेक रजकण इससे अलग होते हैं। मल - मूत्र द्वारा अलग होते हैं, पसीने द्वारा अलग होते हैं, शरीर पतला हो जाये, मोटा हो जाये ऐसे अनेक प्रकार से रजकणों का शरीरमें मिलना और बिखरना हमेशा होता ही रहता है। आत्मा में एक रजकण आता नहीं, मिलता नहीं है या कोई रजकण इसमें से जाता नहीं, क्योंकि वह रजकणयुक्त तत्त्व नहीं है। वह पदार्थ जो है वह चैतन्य पदार्थ है - अखण्ड, अभेद पदार्थ है (इसलिए) उसमें आना-जाना कुछ नहीं होता।

इतना ही नहीं वे दोनों अलग-अलग जाति के पदार्थ हैं। चैतन्यपदार्थ की जाति चेतनारूप भिन्न है। जिसमें ज्ञान-बुद्धि, सुख इत्यादि अनेक प्रकार के भाव अनुभवगोचर होते हैं। सुख-दुःख के भाव, बुद्धि-ज्ञान इत्यादि अनुभवगोचर होते हैं और रजकण में - जड़ रजकण में इसका अनुभव नहीं होता। जड़ को सुख नहीं है, जड़ को दुःख नहीं है, जड़ को ज्ञान नहीं है। इसलिए कोई

जड़ जीव का नहीं होता और न तो जीव किसी जड़ का होता है। इस विज्ञान अनुसार इस जीव की यह देह नहीं है। इस विज्ञान अनुसार इस जीव की यह देह नहीं है अगर होती तो, उसकी वह होती तो जीव से अलग नहीं होती। परंतु सभी रजकण बिखर जाते हैं, इसकी तो राख होती है और आखिर में हवा में उड़ जाती है। राख भी नहीं रहती, वरना तो स्मशान में इतने ढेर हो गये होते कि उस पर्वत जैसे ढेर पर चढ़ना नामुमकिन हो जाता ! सब बिखर जाता है।

इसका अर्थ ऐसा है कि, तू अपनी जाति को पहचान ! आत्मा में आत्मबुद्धि करने के लिए तू अपनी जाति को पहचान - यह इसका सारांश है।

प्रश्न :- आत्मा तो दिखता नहीं है ?

समाधान :- जो दिखे उसको ही आप मानते तो आप अपनी पीठ को भी नहीं मानते ! आपकी पीठ दिखती है (आपको) ? पीठ कहाँ दिखती है ? फिर भी है कि नहीं ? इतना ही नहीं तीसरी पीढ़ी, चौथी पीढ़ी में मेरे पिताजी (के पिताजी और) दादाजी थे इस बात का आप क्यों स्वीकार करते हो ? जितना दिखाई दे उतना ही स्वीकार करना ऐसा तो जगत में भी वास्तव में है नहीं। जितनी बातें न्यायसंपन्न हो व अनुभव से सिद्ध होती हो, सत्य सिद्ध होती हो तो उसका स्वीकार करना चाहिए।

आत्मा, जड़ पदार्थ के माफ़िक भले ही आँख से दिखता न हो, वैसे तो हवा भी कहाँ आँख से दिखती है ? यह पँखा चल रहा है और ठंड का स्पर्श होता है, गरमी को दूर किया जाता है। यह समझकर ही तो पंखा चलाते हैं न ? हवा आँख से तो नहीं दिखती। परंतु स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता है। इसका

अर्थ यह हुआ कि ज्ञान में जो आये इसके अस्तित्व का स्वीकार करना चाहिए। हवा का ज्ञान होने पर उसके अस्तित्व का स्वीकार करते हैं कि नहीं ? ये अनेक Wireless उपकरण Electronics के हुए हैं, इसके बारे में वैज्ञानिकों का यह कहना है कि, वातावरण में जो कुछ संग्रह होता है उसे पकड़ा जा सकता है। वातावरण में जड़ की जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उसे भी केंद्रित करके उसे मूर्त स्वरूप में देखा जा सकता है। ये हमलोग देखते हैं कि नहीं ? सुनते हैं, देखते हैं। रेडियो पर सुनते हैं व टेलीविज़न पर देखते हैं। तो उसे स्वीकार किया कि नहीं किया ? उसके अस्तित्व का स्वीकार करना पड़ता है। भले ही वह करोड़ों मील दूर हो तो भी इसके अस्तित्व का स्वीकार करना पड़ता है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, तुझे तेरे ज्ञान का अनुभव हो रहा है। ऐसे ज्ञानस्वभावी जीव नाम के पदार्थ का तू स्वीकार नहीं करता है तो तेरी यह बात भी पूरी की पूरी सत्य नहीं है। तू इसका भी स्वीकार करता है कि नहीं ? कि, भाई ! इस शरीर में जीव हो तब तक सारे खेल सच्चे हैं, बाद में सब झूठे हैं। इसमें जीव के अस्तित्व का स्वीकार किया कि नहीं ? मृत्यु होती है (तब) देह तो उसी आकार में पड़ी रहती है। (लेकिन) 'भाईसाब अब नहीं रहे' ऐसा कहा जाता है। 'वह तो गया भाई ! लेकिन यह (शरीर) तो पड़ा हुआ दिख रहा है न ? दो मिनट पहले तो अभी चलते-फिरते थे, बात करते थे, बोल रहे थे, उबासी ले रहे थे अभी तो ! उबासी लेते-लेते गये...!' ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि उसके अस्तित्व का स्वीकार किया जाता है।

यहाँ तो इतनी ही बात है कि, वास्तव में जीव का अस्तित्व जिस स्वरूप है उसरूप उसका स्वीकार करने की जरूरत है।

क्या जीव के अस्तित्व का जगत के जीव स्वीकार नहीं करते हैं ? सब प्राणी स्वीकार करते हैं। जीव के अस्तित्व का सब स्वीकार करते हैं। इसकी गैरमौजूदगी होते ही सब लोग देह की अंतिम क्रिया अपने-अपने तरीके से करते हैं। मतलब जीव के अस्तित्व का स्वीकार नहीं करते हैं सो बात नहीं है लेकिन उसके अस्तित्व का जो स्वरूप है, (उसरूप उसका स्वीकार नहीं) होने से शरीर में आत्मबुद्धि की कल्पना होती है, वह तमाम दुःख के मूल का उत्पादक कारण है। ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

यहाँ इस शास्त्र में इस बोल में जो कहना चाहते हैं, वह इतनी-सी बात कहना चाहते हैं कि जीव को सब स्वीकार करते ही हैं, और तभी तो ऐसा कहते हैं कि, किसी जीव को दुःख मत दो ! सब जीव सुखी हो ! क्या ये सारी बातें जीव के स्वीकार बिना ही हैं ? जीव के स्वीकारपूर्वक बात है। मेरे जीव को भी सुख हो, मुझे भी दुःख न हो। परंतु जीव ने देह में आत्मबुद्धि मानी है इसलिए सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल (सबकी कल्पना) बाहर जड़ में करता है। खुद को जड़ समान स्वीकारा है और सुख-दुःख की व्यवस्था भी जड़ में करता है, सुख-दुःख की व्यवस्था का वह जीव में विचार नहीं करता है - यह भूल है। ऐसा कहना चाहते हैं।

मुमुक्षु :- स्वरूप से भगवान है !

पूज्य भाईश्री :- स्वरूप से तो वह जीव है। शास्त्रकारों का, ज्ञानियों का यह कहना है कि हरएक जीव एक-से हैं। हरएक जीव जाति (अपेक्षा) से एक-से हैं। एक-से हैं मतलब कैसे ? कि, जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसे हैं। ऐसा कहते हैं।

गुरुदेवश्री ने जो खास शास्त्र जिसका उन्नीस-उन्नीस बार (सभा

में) स्वाध्याय किया; दूसरे भी अनेक शास्त्र पर स्वाध्याय दिया, परंतु 'समयसार' नाम का शास्त्र तो उन्नीस बार पढ़ा है। इसकी प्रारंभ की गाथा में यह बात है कि, मैं कहनेवाला, मेरे आत्मा का मूल स्वरूप तो सिद्ध समान है ही परंतु जो भी जीव यह बात सुनते हैं या चाहे नहीं भी सुनते हो, उन सबका मूल स्वरूप तो सिद्ध समान ही है ! सुनेगा उसके खयाल में आएगा, नहीं सुनेगा उसके खयाल में नहीं आएगा। लेकिन है तो सब भगवान ! सुने - नहीं सुने इससे कोई उसके स्वरूप में फ़र्क नहीं पड़ता। इसलिए उनके प्रवचन में मुख्यरूप से यह बात (वे) करते थे कि सभी आत्मा भगवान समान हैं !! अवस्था सबकी संसाररूप होने के बावजूद भी मूल स्वरूप से भगवान समान है !! यह उनके प्रवचनों की मुख्य ध्वनि थी और इसलिए सर्व प्रवचन में - प्रत्येक प्रवचन में वे आत्मा को 'भगवान आत्मा !' 'भगवान आत्मा !' 'भगवान आत्मा !' ऐसा कहकर संबोधन करते थे। यह उनकी मुख्य शैली थी।

यहाँ ऐसा कहा कि, यदि कोई जीव आत्मा में आत्मबुद्धि करे व देहमें से आत्मबुद्धि छोड़ दे यानी कि देह की दृष्टि छोड़ दे तो इसकी बलिहारी है। यानी कि उसे धन्यवाद दिये हैं ! उस आत्मा का मोक्ष हो जाएगा। उसे अशरीरीरूप सिद्धदशा प्राप्त होगी, इसका मूल कारण देहात्मबुद्धि छूटकर आत्मा में आत्मबुद्धि हुई, आत्मज्ञान हुआ, आत्मदर्शन हुआ - वह उसने मोक्ष का बीज बोया है। उसका अवश्य मोक्ष हो जाएगा यह देखते हुए इसकी बलिहारी है, उसे धन्यवाद देते हैं, ऐसा कहा जाता है। साथी ही साथ ऐसा कहा कि, 'यह तो शूरवीरों का खेल है।'

इसका मतलब कि जगत में कृत्रिम सुख की लालच शायद ही कोई जीव छोड़ सकता है। पाँच इन्द्रिय के विषय के आगे

पामर बनकर सुख की याचना (करनेवाला) और सुख की पामरवृत्तिवाले जगत के सारे ही जीव उसके अधीन होकर परिणमन करते हैं। इसमें से छूटनेवाला मुश्किल से कोई शूरवीर पुरुष होता है। ऐसे सुख को भी तिलांजलि देकर, उस सुख को भी सुख न जानकर, इससे हटकर आत्मिक सुख में परिणमन करनेवाला कोई विरल पुरुष ही होता है, ऐसा जानकर इसे शूरवीर का कार्य माना गया है ! 'यह तो शूरवीरों का खेल है' ऐसा कहा जाता है।

यह विषय तो बहुत गंभीर विषय है। कुछ मिनटों में पूरा हो जाए ऐसा नहीं है। इस विषय में बहुत गहरा तत्त्वज्ञान रहा है। अभी तो यहाँ समय पूरा हुआ है।



आत्मस्वभावका परिचय होने पर परमशांत सुधामय स्वभावमें सहज उपयुक्त (उपयोगका जुड़ना) हुआ जाता है। अतः स्वभावका परिचय स्वभावमें उपयुक्तिका प्रयोजक है। स्वभावका परिचय ज्ञानमें ज्ञानकी स्वयं अवलोकना द्वारा - सतत अवलोकना द्वारा होता है। अतः ज्ञानका निजावलोकन साधन है और स्वभावका परिचय साध्य है।

- पूज्य भाईश्री (अनुभवसंजीवनी - १२३१)

(परमागमसार, बोल :- २४३) देहात्मबुद्धि छोड़ने का यह बोल है। शरीर के साथ जीव का जुड़ान अनादिकाल से रूढ़ हुए संस्कार के कारण इतना तीव्र है कि, शरीर से भिन्न अनुभव करना, आत्मा में आत्मबुद्धि, आत्मदृष्टि करना यह तो विरला पुरुष द्वारा बनता है।

यहाँ श्रीगुरु का उपदेश है कि देह तुझ से अलग हो - मृत्यु के वक्त देह से छूटना हो इसके पहले ही तू देह के संयोग के काल में देह के संयोग के सद्भाव में ही देहात्मबुद्धि छोड़ ! 'देह है सो मैं हूँ, शरीर है सो मैं हूँ' ऐसे अनुभव से तू छूट जा ! वह अनुभव झूठा है, वह मिथ्या अनुभव है और पुनः नई देह धारण करने का वही कारण है। मृत्यु होने के पश्चात् जीव नई देह धारण करता है इसका क्या कारण है ? कि, वह देह का आत्मबुद्धिपूर्वक सेवन करता है इसलिए उसे नई देह का संयोग हुए बिना नहीं रहता। ऐसा है।

जिस देह में तुझे आत्मबुद्धि है, जिस देह से तू अलग होना नहीं चाहता, वह देह तो तुझे अवश्य छोड़ेगी ही। तू भले ही उसे छोड़ना नहीं चाहे फिर भी इस देह के परमाणुओं से तेरा अलग होना अनिवार्य है। इसका कोई निवारण है ही नहीं। जगत के

जीवों को तो इस मृत्यु का भय है। इतना भय है कि उसका विचार करने के लिये भी तैयार नहीं होते ! परंतु यहाँ इस विषय को एकदम हलका करके कहते हैं।

सत्पुरुषों कठिन से कठिन विषय को सुगम करते हैं। यहाँ बहुत स्पष्ट बात है कि, ज्ञानस्वरूपी, चैतन्यस्वरूपी आत्मा - चैतन्य स्वभाव को भाने से (देहात्मबुद्धि छूटती है)। 'चित्स्वभावाय भावाय' ऐसा कहते हैं। स्वयं मात्र चित्स्वरूप है, ऐसे अपने (स्वरूप की भावना भाये), जैसा स्वरूप है, उस स्वरूपरूप भाने से (यानी कि) उसमें आत्मबुद्धि हो, उसमें दृष्टि हो, उसमें निष्ठा हो कि 'मैं' ऐसा ही चित्स्वरूप हूँ - अगर इस प्रकार देहात्मबुद्धि छोड़ने में आये, देह की दृष्टि छोड़ दी जाये तो वह (कार्य) अनंत काल में नहीं किया ऐसा अपूर्व कार्य है !! जो अनंतकाल में नहीं किया ऐसा अपूर्व कार्य है !! इसके लिए यहाँ कहते हैं कि, इसकी तो बलिहारी है !!

धन्यवाद है उस जीव को, धन्य है उस जीव को कि जिसने देहात्मबुद्धि छोड़कर आत्मा में आत्मबुद्धि की - ऐसा कहना है। अभ्यास से सुगम है लेकिन ऐसा अभ्यास भी शायद ही कोई जीव करता है। क्वचित् ही कोई जीव करता है इस अपेक्षा से इसकी दुर्लभता गिनी जाती है। परिस्थिति ऐसी है कि अनादि-रूढ़-देहात्मबुद्धिरूप संस्कार तो है ही (साथ ही) वर्तमान में देहदृष्टि-देहात्मबुद्धि (चल रही है), और पूर्वकर्म के उदय भी वैसे ही आते हैं, कि प्यास लगी हो तो पानी पीये बिना चले नहीं। देखो ! कैसा उदय है ! एक तृषा लगी हो तो पानी पीये बिना नहीं चलता। कैसा कर्म का उदय है !

ये तिर्यच में कितने ही जीव वनस्पति का आहार करते हैं,

तो कितने ही मांसाहार करते हैं। एक चिड़िया होती है वह भी मांसाहार करती है ! वरना वह कोई इतना हिंसक प्राणी नहीं है। कबूतर होता है, भले ही वह वनस्पति आदि चुगा चुगता हो लेकिन पास में लट या कोई छोटे जीव-जंतु को देख ले तो उसे भी खा जाएगा। कबूतर है, चिड़िया है - अब उसको कहाँ विवेक करने का प्रसंग है ? यहाँ मनुष्य में लोग मांसाहार और वनस्पति के आहार का विवेक नहीं करते हैं तो वहाँ तो क्या करेंगे ? उसको तो भूख लगती है, आहार की इच्छा उत्पन्न होती है, उसके बस में आकर वह आहार की प्रवृत्ति करता है। इसमें दूसरों को क्या होता होगा ? और इन परिणामों से मेरी देहात्मबुद्धि का क्या होता है ? दोमें से एक भी विचार का अवकाश नहीं रह पाता है। देखो परिस्थिति !

इस परिस्थितिमें से बिलकुल उलटी दिशा में जाना, इस परिस्थितिमें से बिलकुल उल्टी दिशा में जाना है कि आत्मा निराहार स्वरूप है, निरालंब-निरपेक्ष है, अनादि-अनंत अपनी शक्ति और सामर्थ्य द्वारा अस्तित्व का धारक तत्त्व है, बिना किसीके सर्व काल में परिपूर्ण है, इसलिए अभी भी परिपूर्ण है। क्योंकि पुरुषार्थ तो अभी करना है न ! परभाव और परद्रव्य से भिन्न तो अभी होना है। ऐसे आत्मा का श्रद्धा में स्वीकार करना, ऐसे आत्मा को श्रद्धेय बनाना, ऐसे आत्मा को अभेद अनुभवज्ञान में लेना और ऐसे श्रद्धा-ज्ञान में स्थिर रह जाना, उस कार्य को उपरोक्त परिस्थिति के बीच दुर्लभ व कठिन माना गया है, फिर भी वह अशक्य और असंभवित नहीं है। कभी किया नहीं है इसलिए और ऐसी परिस्थिति के बीच यह कार्य करना मुश्किल दिखता हो तो भी वह अशक्य और असंभवित तो है ही नहीं। अनंत आत्माओं ने यह कार्य किया है कि जो

आत्माएँ हमारे जैसे ही थे, दूसरी जाति के नहीं थे। हमारे जैसे ही थे, ऐसा कहते हैं। अभी तक ऐसे अनंत आत्माएँ हो चुके।

(यहाँ) कहते हैं कि, देह को दृष्टिमें से छोड़। शारीरिक प्रक्रिया और आत्मा की क्रिया, शरीर की क्रिया और आत्मा की क्रिया ये (दोनों) भिन्न-भिन्न पदार्थ की क्रिया है। एक पदार्थ की क्रिया में, संयोग में ही रहे दूसरे पदार्थ की क्रिया का अभाव है, ठीक ! जीव के परिणाम में शरीर का अभाव है, शरीर की अनेक प्रकार की क्रियाओं में चैतन्य का अभाव है। ऐसे इसको भिन्न-भिन्नरूप से अवलोकन में लेने का प्रयास होना चाहिए। जो भिन्न है उसे भिन्नरूप अवलोकन में लेना है। जो भिन्न है उसका अभिन्नरूप अनुभव हो रहा है यह भूल है और वह मिथ्यात्व की भूल है। मिथ्यात्व की भूल इसमें होती है, गंभीर भूल होती है, जन्म-मरण की उत्पत्ति हो वैसी भूल होती है। अतः जो भिन्न है उसका भिन्न अनुभव करने के लिए प्रथम इसके भिन्नत्व का अवलोकन शुरू होना चाहिए।

अनुभव की पूर्वक्रिया अवलोकन की है। पहले तो उसके सामने नया संस्कार आया न कि, हे जीव ! तू देहादि स्वरूप नहीं है। देहस्वरूप मैं नहीं हूँ - ऐसा कहा (वह सुना) लेकिन सुना तब 'मैं देहस्वरूप नहीं हूँ' ऐसा अनुभव नहीं है, अनुभव से विरुद्ध सुना। अब जीव को इसकी जाँच में उतरना चाहिए कि यह अनुभव सच्चा है या कहनेवाले जो कहते हैं वह परिस्थिति सच्ची है या नहीं ? चलते हुए परिणाम, शरीर और आत्मा की चलती हुई पर्यायें संयोग में होने पर भी इसकी जुदाई है या वे एकमेक हुए हैं, इसकी जाँच और अवलोकन में जीव को उतरना चाहिए।

इस ग्रंथ में आगे एक जगह आयेगा, (एक बोल) खींचा है, शायद 'अनुभव प्रकाश' पर हुए प्रवचनोंमें से वह विषय आया है।

परंतु वह भी बहुत स्पष्ट आया है कि, अवलोकन है वह अनुभव की ही Line है। विचार है वह सीधी अनुभव की Line नहीं है। अवलोकन में विचार साथ-साथ है इसलिए कभी कोई अवलोकन की सूक्ष्मता को नहीं समझता है उसे विचार करने का कहा जाता है कि, इसका तू विचार कर, इसका तू विचार कर, क्योंकि जीव विचार से ज्यादा परिचित है और अवलोकन के साथ भी अभी विचार चलते हैं। अतः विचार की प्रधानता से कहा जाता है कि, तू इसका विचार कर ! परंतु वास्तव में इससे आगे जाये तो अनुभव तक पहुँचने के लिए 'अवलोकन पद्धति' जो है वह अनुभव पद्धति में आने के लिए विशेषतः सुसंगत है। या अवलोकन में एक प्रकार से अनुभव से नज़दिक जाना होता है इसलिए अथवा अवलोकन का विषय अनुभव होने से (वह पद्धति विशेष सुसंगत है)। (क्योंकि) अनुभव का अवलोकन करना है न ! कि, ज्ञान की पर्याय-चैतन्य की पर्याय और जड़ की - शरीर की पर्याय एक है या अलग है ? दोनों के परिणाम, दोनों की क्रियाएँ एक है या अलग-अलग है ?

एक दृष्टांत लें। एक आदमी ने कहा कि 'मैंने खाया !' अब इसमें जीव ने क्या खाया ? जो भी दाल, चावल, सब्जी, रोटी थाली में पड़ा था, इसके परमाणु वहाँ से क्षेत्रांतर होकर जठर में गये, मुख द्वारा जठर तक गये। तो वास्तव में परमाणु परमाणुरूप ही रहे हैं, (खाने से) खत्म नहीं हो गये ! खा लिया मतलब कोई क्षय नहीं हो गया। 'खय' कहते हैं न क्षय (को) ? खाने से परमाणु नष्ट हो गये, क्षय हो गये, ऐसा तो नहीं है। ठीक वैसे परमाणु क्षेत्रांतर करके जठर में गये इस बीच जीवरूप हो गये, या जीव में एकमेक हो गये, जीवस्वरूप हो गये, ऐसा तो

नहीं बना। अतः जीव ने कुछ खाया है, ऐसा तो स्पष्टरूप से है ही नहीं।

पुद्गल परमाणु शरीर में मिले, शरीर के स्कंध में वे भी स्कंधरूप में मिले, जठर में जाकर खून बना, अनेक प्रकार के अवयवों तक पहुँचे तो तब इसमें जीव (और) उस क्रिया को कोई लेना-देना नहीं है। परंतु झूठा अनुभव - मिथ्या अनुभव ऐसा करता है कि, 'मैंने खाया !' 'मैंने खाया इसलिए मुझे पुष्टि मिली !' और देह पुष्ट होने पर 'मैं पुष्ट हुआ' ऐसा जो अनुभव है, इसकी दृष्टि और ऐसा अनुभव और ऐसी मिथ्याबुद्धि छोड़ने योग्य है। ऐसा यहाँ फरमाते हैं। ऐसा है।

प्रश्न :- अवलोकन मतलब क्या ?

समाधान :- अवलोकन मतलब अनुभव की जाँच करना। क्या अनुभव होता है ? इसकी जाँच करना मतलब अवलोकन। इस प्रकार अवलोकन का विषय 'अनुभव' होने से अथवा यह अवलोकन मतलब 'अनुभव क्या हो रहा है ?' ऐसे स्वयं ही अनुभवस्वरूप अवलोकन होने से, यहाँ कार्य की 'अनुभव पद्धति' का प्रारंभ होता है। तब विचार पद्धति से आगे जाकर तर्क पद्धति से आगे जाकर, तर्क, युक्ति, न्याय से आगे जाकर अनुभव के प्रकार में आना होता है। अतः अनुभव करने के लिए अनुभव की Line का यहाँ से अनुसंधान होता है। आत्मा का अनुभव करना है न ? भिन्न आत्मा का अनुभव करना है। अनुभव की Line के अनुसंधान हेतु यह बात गुरुदेवश्री ने अपने ही शब्दों में आगे एक जगह स्पष्ट की है।

प्रश्न :- तो वहाँ जीव ने क्या किया ?

समाधान :- जीव ने विकारी परिणाम किये। 'मुझे खाना है और मैंने खाया' वैसे खाने की क्रिया करने के और आहार को भोगने

के, करने के और भोगने के मिथ्याबुद्धि सहित विकारी परिणाम किये। इस जीव के कार्य की मर्यादा वहाँ भी इतनी ही है। अनंत काल से उसने ऐसे परिणाम किये हैं फिर भी एक रजकण भी जीवरूप नहीं हुआ सो नहीं ही हुआ ! क्योंकि वैसा होना अशक्य और असंभवित है।

देखो ! जैनदर्शन यहीं से अलग पड़ता है। जगत के किसी भी धर्म-संप्रदाय में ऐसा 'भेदज्ञान' का विषय नहीं है। विज्ञान में तो सर्वत्र भौतिक विज्ञान ही प्रचलित है। कहीं भी आत्मा का विज्ञान तो है ही नहीं। भौतिक विज्ञान में ही अनेक प्रकार के संशोधन और विचारणा चलती है। परंतु धर्म का जो क्षेत्र है और अनेक धर्म संप्रदाय वर्तमान में विद्यमान होने पर भी किसी भी धर्म संप्रदाय में जड़-चैतन्य की भिन्नता के विषय का निरूपण, उपदेश और बोध देखा नहीं जाता। यहाँ से जैनदर्शन तात्त्विकरूप से अलग पड़ता है। फिर भी जैनदर्शन में प्रवेश करके कोई देह की क्रिया को आत्मा की क्रिया (मानकर) त्याग और संयम के बहाने भी दृढ़ करता है तो वह जैनदर्शन के मूल पर प्रहार है। मूल में जो तत्त्व का स्थापन करना है उसका उत्थापन वहाँ हो जाता है।

'मैंने उपवास किया है या तो यह पूजा मैंने की, पूजा की क्रिया मैंने की, स्वाध्याय दौरान मन, वचन, काया की क्रिया मैंने की, दान देने की और दूसरों की दया पालने की क्रिया मैंने की' - (इस प्रकार) अनेक प्रकार के व्रत-संयम में और शुभभाव के शुभ योग और शुभ-उपयोग में (शरीर की क्रिया मैंने की ऐसा मानकर प्रवृत्ति करे तो वह देहात्मबुद्धि दृढ़ करता है)।

प्रश्न :- वह क्रिया किसने की ?

समाधान :- जड़ के परिणाम जड़ करता है और चैतन्य के

परिणाम चैतन्य करता है। 'जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतन भाव, कोई कोई पलटे नहीं छोड़ी आप स्वभाव' है कि नहीं ? फिर किसने की यह प्रश्न कहाँ है ! किसी भी क्रिया के परिणाम का कर्ता वह पदार्थ है, दूसरा पदार्थ नहीं। यह तो एकदम स्पष्टरूप से समझ में आ सके ऐसी बात है। 'एक परिणाम के न कर्ता दरव दोई' यह बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' में गाया है। 'एक परिणाम के न कर्ता दरव दोई' (यानी कि) दो द्रव्य मिलकर एक परिणाम नहीं करते।

एक परिणाम को दो द्रव्य मिलकर करते नहीं और एक द्रव्य दो पदार्थ के परिणाम करता नहीं। दो द्रव्य एक साथ मिलकर एक पदार्थ के परिणाम करे, ऐसा कभी नहीं बनता कि, दो इकट्ठे हो तो एक कार्य हो वरना कभी न हो। जड़ और चेतन एकसाथ मिले तो कार्य हो वरना न हो - ऐसा नहीं है। जड़ के परिणाम जड़ करता है, चेतन के परिणाम चेतन करता है।

मुमुक्षु :- (दोनों क्रिया) एक ही करता है, ऐसा भ्रम होता है।

पूज्य भाईश्री :- परंतु भ्रम होता है। 'जगत की रचना असत्य का आग्रह करानेवाली है' - श्रीमद्जी ने कहा कि, इस जगत में स्थूलरूप से देखा जाये तो असत्य का आग्रह हो ऐसी सब रचनाएँ देखी जाती हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि, तुझे जन्म-मरण मिटाने हैं ? देहातीत-अशरीरी मोक्षदशा प्राप्त करनी है ? तो देह का लगाव छोड़ ! देहात्मबुद्धि छोड़ ! देह की दृष्टि छोड़ ! अगर नहीं छोड़ी और देह में आत्मबुद्धि रखकर देह से लगा रहा, देह में ज्यादा प्रीति रखेगा तो भी देह तो तुझे छोड़ेगी, छोड़ेगी और अवश्य छोड़ेगी ही। तू देह को नहीं छोड़ना चाहेगा तो देह तुझे छोड़ देगी।

यह परिस्थिति तो आये बिना रहेगी नहीं।

तीव्र देहात्मबुद्धि होती है तब आदमी को क्या होता है कि, थोड़ी भी अशांता नहीं पुसाती। थोड़ी-सी प्रतिकूलता आते ही (कहेगा) मुझे नहीं चलेगा....मुझे नहीं चलेगा....! मुझे तो नहीं चलेगा...भाई ! यह चलेगा - नहीं चलेगा यह सब क्या है तुझे ? देहात्मबुद्धि तो तुझे छोड़नी है। अभी राग से भिन्न होने की बात तो दूर है लेकिन अभी तो देह से भिन्न होने में (देह में) थोड़ी-सी गड़बड़ होते ही शांताशिलता आ जाती है, तो तू विकल्प से और राग से भिन्न कैसे होगा, भाई ! यह विचारणीय विषय है। अपने यहाँ तो गुरुदेव ने यह तत्त्वज्ञान बहुत प्रस्थापित किया न ! इसलिए ऐसा कहेंगे कि देह और आत्मा भिन्न है, यह तो बहुत स्थूल बात है ! यह तो हमें पता है ! लेकिन भाई ! तुझे कुछ पता नहीं है !! थोड़ी-सी अशांता हो, थोड़ी-सी प्रतिकूलता आ जाये या थोड़ी-सी अनुकूलता कम मिले और कुछ दिक्कत खड़ी हो, (क्योंकि) घर में तो सब कुछ इतना अच्छे से जमाया हो कि छोटी से छोटी तकलीफ भी खुद को न हो ! यहाँ यह होना चाहिए....वहाँ यह होना चाहिए...यहाँ ये चाहिए... यहाँ यह होना चाहिए... सबकी इतनी लंबी कतार, हररोज की आदत पुष्ट हो व आदत दृढ़ हो, कुटेव जो है वह छूटे नहीं ! क्या ? ये सारी कुटेव हैं। कुटेव जो है वह छूटे नहीं। जीव हररोज की ऐसी व्यवस्था कर लेता है।

भाई ! यहाँ से छूटकर जाएगा कहाँ ? वहाँ कोई तेरी मौसी का घर नहीं है ! वहाँ तेरी सब अनुकूलता बनी रहे ऐसी कोई परिस्थिति है नहीं। इसलिए थोड़ा लंबा विचार कर ! आगे का विचार कर इतना ही नहीं परंतु पूरे भविष्य का विचार कर, यहाँ

तो (ऐसा कहते हैं)। यदि तेरे में विवेक हो तो अनंतकाल के भविष्य का विचार कर ! और अभी ही देहात्मबुद्धि छोड़ ! ऐसा कहना है। यदि इतनी हद तक तू पहुँचा (यानी कि) देह से भिन्न आत्मा के अनुभव में (आया) तो तेरी बलिहारी है !! भगवान कहते हैं कि, ऐसा पराक्रम करने के बदले में हम तुझे शाबाशी और धन्यवाद देते हैं !! अब तुझे दुनिया के Certificate की जरूरत नहीं है।

कोई सम्यक्दृष्टि ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें बाहर में यश नाम कर्म का उदय न हो। (जब कि) मिथ्यादृष्टि को ऐसा यश नाम का उदय हो तो चारों तरफ से वाह...वाह... होती है ! तब सम्यक्दृष्टि को क्या विचार आयेगा ? वहाँ उसे क्या विचार आयेगा ? वह यों विचार करेगा कि, भगवान के ज्ञान में तो मुझे धन्यवाद मिल चुके हैं !! ये जगत के मिथ्यादृष्टि मुझे नहीं पहचानते हैं तो यह तो एक अच्छी बात है कि जिससे लोगों का उपद्रव भी मुझे नहीं होगा !! वह तो उपद्रव है। दूसरे जीवों के साथ संयोग में रुकना पड़े यह तो बड़ा उपद्रव है। उस उपद्रव से (मैं) छूट जाऊँगा।

सोगानीजी के साथ शुरुआत में अंगत परिचय हुआ तब पहले साल में तो नहीं परंतु दूसरे-तीसरे साल में उनको खयाल आ गया कि, यदि यहाँ के धार्मिक मुमुक्षुओं में भी मेरे बारे में कोई बातचीत होगी तो अनेक लोगों का परिचय बढ़ जाएगा और वह मेरे जैसे एकांतवासी को पसंद नहीं है, अनुकूल नहीं रहेगा। साधना में अनुकूल नहीं होगा। निमित्त की अपेक्षा से मात्र ! वरना वे कोई बाधक नहीं हैं, परंतु निमित्त के रूप में उनका विवेक है। एक बार मुझे कहा 'मैं आपसे आशा करता हूँ कि मेरे विषय में आप किसी को कुछ नहीं कहेंगे।' (मुझे) वचनबद्ध किया। 'मेरे विषय में आप किसी से कुछ नहीं कहेंगे ऐसी मैं आशा रखता हूँ।' ठीक !

अतः उनके बारे में कहीं भी बात नहीं करना - यह नक्की हुआ। फिर भी उदय किसी को नहीं छोड़ता। बात जितनी हद तक प्रसिद्ध होनी थी उस वक्त उतनी हद तक हुई, तत्पश्चात् जितनी हद तक प्रसिद्ध होनी थी उतनी हुई। परंतु साधक की भावना साधना को अनुकूल हो ऐसी होती है। उन्हें बाहर के मान-अपमान की कीमत एक तिन्के के बराबर भी नहीं आती है। वैसे मनुष्य पर्याय में मान तो मार ही डाले ! और मान के लिए बड़े-बड़े तूफान होते हैं।

यहाँ तो पहले से ही यह बात है कि, भगवान ऐसा कहते हैं कि, तेरी देहात्मबुद्धि छूटी....धन्य है तुझे !! तुने अनंत काल में जो नहीं किया ऐसा अपूर्व पराक्रम किया !! शाबाश है तुझे ! अब तू हमारी Line में (पंक्ति में) आ गया ! जिन हुआ !! चतुर्थ गुणस्थान के पहले करणलब्धि में (आनेवाले जीव को) 'जिन' कहा है ! 'धवल' (शास्त्र में) 'वीरसेन स्वामी' ने करणलब्धि में आये हुए जीव के लिए ऐसा कहा कि, 'सम्यक् प्रकार से' दर्शनमोह जैसे महान विकार पर उसने विजय प्राप्त की है, दूसरे-दूसरे विकारों को जीतना आसान है, दर्शनमोह को जीतना मुश्किल है - उस पर इसने विजय पायी (इसलिए) वह तो 'जिन' हुआ !! भावि नैगमनय से भी वह 'जिन' है ! क्योंकि वह जिन होगा। करणलब्धि में आया हुआ जीव असंख्य समय में, अनंत समय में नहीं परंतु असंख्य समय में परिपूर्ण जिन होगा, इसलिए भावि नैगमनय से भी वह 'जिन' है। और अभी समअभिरूढ़ नय से, 'अभी' को समअभिरूढ़ नय कहते हैं, दर्शनमोह जैसे महाविकार पर विजय प्राप्त होने से उसे 'जिन' कहा जाता है। 'जीते वह जिन' - इतनी बात है। सम्यक् प्रकार से आत्मा के सन्मुख होकर - आत्मा का आधार लेकर

जो जीत प्राप्त करता है (यानी कि) निर्विकार परिणाम में आये उसे 'जिन' कहा जाता है। इसमें एक 'अपूर्व करण' है। तीन करण करता है उसमें एक 'अपूर्व करण' है।

यहाँ कहते हैं कि, 'यह तो शूरवीरों का खेल है।' अंतर पराक्रम का यह विषय है। श्रीमद्जी ने तो ऐसी उपमाएँ दी हैं कि, 'दस हजार सुभटों को अकेले हाथ जीत ले और भुजाओं से जो स्वयंभूरमण समुद्र पार कर ले, इससे भी दर्शनमोह को जीतनेवाला (सच्चा) सुभट है, शूरवीर है ! ऐसा लिया है। बड़ा पराक्रम ! यह २४३ हुआ।



ज्ञान सुखरूप है, यह अगर वेदनसे समझमें आये तो स्वरूपनिश्चय होता है - स्वरूपलक्ष होता है। ज्ञानको वेदनसे जाननेके लिए परप्रवेशभाव रूप मिथ्या अनुभवको अवलोकनसे समझनेका प्रयास करना चाहिए। जो जीव मोक्षार्थी होकर, निष्पक्षरूपसे अपने दोषोंका अवलोकन करता है, उसे दोषसे उत्पन्न दुःख - उसरूप विभावस्वभाव वेदनसे समझमें आता है। वेदनसे - अनुभवसे समझनेकी रीत द्वारा ज्ञानको ज्ञानवेदनसे समझनेसे स्वभावका - अस्तित्वका ग्रहण होता है। ज्ञान स्वयं वेद्यवेदकरूपसे प्रवृत्ति करे तो ही स्वसन्मुखता होती है। अन्य उपायसे परसन्मुखताका अभाव नहीं होता।

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - १२०८)



• भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय •
में क्या अन्तर पड़ा ? जब बाहर के हीनाधिक संयोगों
का लक्ष्य छूट जाए, कषाय की मंदता या तीव्रता का
भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्य वस्तु को
लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग
होता है - यही यथार्थ त्याग है। २४८.



प्रवचन - २२, दि. २२-५-१९८३

(परमागमसार, बोल - २४८) 'भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?' संयोगों का त्याग हुआ माने यह सधनतामें से निर्धनता आयी या परिवार के किसी भी सभ्य की गैरमौजूदगी हुई, अनउपस्थिति हुई या इस शरीर का वजन कम हो गया - लिजीए यह भी संयोग ही तो है न ? पुष्ट शरीर हो हट्टा-कट्टा। कमजोर होते-होते एकदम क्षीण हो जाए, हड्डी-पसली रह जाए या उम्र होने से शिथिलता आ जाए, झुर्रियाँ

हो जाती हैं न पूरे शरीर में ? सोना खाये तो भी झुर्रियाँ पड़ती हैं ! तो कहते हैं कि इसमें तेरी अवस्था में क्या फ़र्क पड़ता ? तेरी जो अवस्था (यानी कि) ज्ञानमात्र - सिर्फ़ जानना, ऐसी जानने की तेरी अवस्था में क्या फ़र्क पड़ा ? संयोग का अभाव हुआ, संयोग का त्याग हुआ तो तेरे ज्ञान की अवस्थामें से क्या कम हुआ ?

सुनार के वहाँ सोना (देने के बाद) पाँच तोलामें से दस प्रतिशत कम हुआ, नब्बे प्रतिशत रहा, ठीक है। यहाँ कहते हैं कि तेरी जाननेरूप जो ज्ञान की पर्याय है उसमें कितने प्रतिशत कम हुए ? संयोग छूटा इससे तेरी अवस्थामें से क्या कम हुआ ? कहते हैं कि तेरी अवस्था में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। वह तो अवस्था है कि जो संयोग और वियोग को जानने में निमित्त है, ऐसी ज्ञान की अवस्था है।

जिसको (सिर्फ़) जानने से संबंध है ऐसे ज्ञानमें से भी कुछ कम नहीं होता, तो जिसको संबंध भी नहीं है ऐसा जो परम पारिणामिक भाव, इसका तो किसी से कोई संबंध नहीं है। यह तो नोकर्म है, जिसमें संयोग का वियोग होता है वह तो नोकर्म है, जबकि परम पारिणामिक भाव को तो कर्म के उदय से भी संबंध नहीं है, और चारों प्रकार की अवस्था - उपशम, क्षयोपशम, (क्षायिक) और औदयिकभाव के साथ भी जिसका संबंध नहीं है। चारों से पर है। ऐसा जो तेरा मूल स्वरूप है, परम पारिणामिक भाव कि जो तेरा मूल स्वरूप है, जो सिद्धपदरूप है, सदा सिद्धपदरूप है - उससे क्या फ़र्क पड़ा ? परिपूर्ण स्वरूप में कोई अपूर्णता नहीं होती। किसी भी प्रकार के संयोग का वियोग होने पर इस पूर्ण सिद्धपद में कोई कमी नहीं होती। रंचमात्र अपूर्णता नहीं होती है, ऐसा है।

(यहाँ) कहते हैं कि जब तेरी ज्ञान की अवस्था में भी फ़र्क नहीं पड़ता है तो भीतर में जो पूर्ण स्वरूप त्रिकाल सामान्यरूप रहता है वह तो इससे काफ़ी दूर है।

नियमसार में ३८ वीं गाथा के बाद जो (५४ नंबर का) कलश है उसमें यह बात ली है कि सर्व तत्त्वों में सार है ऐसा यह परम पारिणामिक भाव - कारण परमात्मा है वह नष्ट होने योग्य सर्व भावों से दूर है, ऐसा लिया है। दूर है ! आता है ? 'दूर' ऐसा आता है। नष्ट होने योग्य मतलब उसमें चारों प्रकार के भाव ले लेना।

'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...' 'जयति समयसार' कारण परमात्मा को यहाँ पर समयसार कहा है। 'जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसार' सर्व तत्त्वों में एक सारभूत है और 'जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है,...' 'सकलविलयदूरः' विलय होनेवाले सकलभावों (से दूर है)। उत्पाद-व्ययरूप चारों प्रकार के विलय पाने योग्य भाव - इससे वह दूर है। जब इसकी पर्यायों से दूर है तो संयोग और वियोग से तो वह अत्यंत दूर है।

वैसे यहाँ प्रश्न पूछ रहे हैं। ज़ोर से बात करना चाहते हैं ! इसलिए प्रश्न चिह्न लगाकर बात करते हैं कि 'भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?' तू हर्ष-शोक का वेदन तो पर्याय में करता है न ? कि अरेरे...! मेरा चला गया, लेकिन भाई तेरेमें से कुछ चला नहीं गया। तेरा एक प्रदेश भी कम तो नहीं होता परंतु तेरे एक प्रदेश में हानि भी नहीं हुई ! एक प्रदेश में भी हानि नहीं हुई ! तेरे एक गुण कम तो नहीं हुआ परंतु तेरे एक गुण में हानि नहीं हुई। स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जब पर्याय में हानि नामुमकिन है तो

स्वरूप में हानि होने का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन संयोग में मोहान्वित होता है इसलिए दुःखी-दुःखी होता है। यदि स्वरूप का अवलंबन ले तो भीतर में आनंद रसायन प्रगट होता है। रासायनिक पद्धति से यह फेरफार होता है। एकदम फेरफार होता है। इसे रासायनिक पद्धति कहते हैं। 'अनुभव रसायन' भी उसे कहते हैं।

(कहते हैं कि) 'संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?' इसमें एक दूसरा Undertone भी है - ध्वनि बहुत अच्छा है। यदि तुझे अंतर में अभ्यास करना हो तो अवलोकन के अभ्यास की यह पद्धति है कि तुम अंतर में देखते रहो ! प्रतिक्षण, हरएक प्रसंग में, सर्व उदय के काल में तुम अंतर में अवलोकन कर ! (दृष्टांतरूप से) जैसे यह दुःख हुआ, वियोग का दुःख हुआ (तब अवलोकन कर कि) यह मेरी पर्यायमें से क्या गया ? मेरेमें से क्या गया ? यह हर्ष हुआ तो मेरे में क्या आया ? (अवलोकन करने पर पता चलेगा कि) कुछ नहीं पड़ता। बाह्य फेरफारों से, आने-जाने से आत्मा में कोई फर्क नहीं पड़ता। तेरी पर्याय में क्या फर्क पड़ा ? (कि) कोई फर्क नहीं पड़ता। जाँच कर ! ऐसा कहते हैं ! अवलोकन द्वारा जाँच करने का इसमें ध्वनि है। इसके बिना तुम्हें प्रतीति नहीं आएगी।

बार-बार अवलोकन द्वारा जाँच करने पर तुम्हें प्रतीति आएगी कि यह दुःख होता है या हर्ष होता है (यह) मिथ्या है। भीतर में मेरे अंदर कोई नहीं पड़ता। यह केवल कल्पनामात्र से अपनत्व के सेवन के कारण ही सुख-दुःख का वेदन कर रहा हूँ, लेकिन (वास्तव में) सुख के काल में कुछ आता नहीं है और दुःख के काल में कुछ जाता नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक उदय के काल में अपने (परिणमन) को देखे और जाँच करे तो खुद की भिन्नता

भासित होवे और प्रतीति होने का अवसर आए। भिन्नता भासित होगी तो प्रतीति आने का अवसर है। यह एक अपूर्व कार्य है ! इसप्रकार की अंतर अवलोकन की पद्धति से, बार-बार इसकी Practice (अभ्यास द्वारा), विचार मात्र से नहीं परंतु अवलोकन की बार-बार Practice द्वारा भिन्नता का अभ्यास - भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

हमारी भेदज्ञान पर कई बार चर्चा चली है इसमें यह एक खास पद्धति का विषय है। वरना यह प्रश्न हो सकता है कि, भेदज्ञान कर्त्तव्य है, सर्व साधक भेदज्ञान करते हैं, भेदज्ञान से अनुभव होता है, भेदज्ञान से मोक्षमार्ग में विकास होता है, पूर्णता होती है - परंतु भेदज्ञान शुरू कैसे करें ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। हमें भेदज्ञान करना है लेकिन होता नहीं है।

उसको ऐसा कहते हैं कि, 'देख ! तेरे उदय प्रसंग में तू देख ! तेरे में क्या आया ?' अभी गरमी के दिन हैं, प्यास लगे तब ठण्डा पानी पीने की आदमी को इच्छा होती है। नहीं मिल पाए तो तब जो मिलेगा वह पी लेगा। क्योंकि आखिर में जब शरीर में पानी की मात्रा कम हुई है तब गला सूखता है। यह शरीर है वह पुद्गल का पिण्ड है - जिसमें कुछ हिस्सा प्रवाही का है, कुछ वायु का है, कुछ हिस्सा घन का है। घन, प्रवाही और वायु - ऐसे तीन प्रकार से जड़ पुद्गल परमाणुओं की Physical Position होती है। उसे Physical Position कहते हैं। इसमें जब पानी की मात्रा घटती है तब पानी बाहर निकला होता है - पसीना द्वारा, पेशाब द्वारा पानी की मात्रा जब कम होती है तब गला सूखता है। इसलिए नया पानी पीने की इच्छा होती है। गरमी के दिनों में ज्यादा बनता है। क्योंकि पसीना ज्यादा होता है। तब ठण्डा पानी गट... गट... गट... गट पीता है। गट... गट ठण्डा

पानी पीए तब लगता है हाश ! (तृप्ति का अनुभव) प्यास मिटी ऐसा कहेगा। (अब कहते हैं कि) तूने हाश ! का अनुभव किया लेकिन तेरी पर्याय में क्या आया यह तो तू देख !

एक पानी पीने की मामूली-सी क्रिया में भी पानी के पुद्गलों से तुने इतना गाढ़ एकत्व कर लिया ! बात तो मामूली-सी है। रोज़ाना यह प्रसंग बनता है। पानी पीने का तो रोज़ का उदय प्रसंग है। खाना-पीना इत्यादि शरीर की कुछएक क्रियाएँ तो रोज़ाना बनती हैं न ? अब, उसमें भी यह जीव एकमेक होकर (परिणमन करता है)। उसकी भी आदत इतनी बन चुकी हो कि, घर में सब उपकरण तो लगाये हो लेकिन बिजली चली जाए या दूसरी दिक्कत की वज़ह से यदि बर्फ़ जमी न हो तो आकुलता... आकुलता... आकुलता कर बैठे ! इस राज्य में तो ऐसा होता है या इस देश में ऐसा होता है या इस गाँव में ऐसा होता है या इस घर में तो ऐसा होता है। आप लोग सब व्यवस्था रखने में कच्चे हो। न तो राज्यवाले राज्य की व्यवस्था कर पाते हैं, न तो गाँववाले गाँव की व्यवस्था सँभाल पाते हैं, नहीं घरवाले घर की व्यवस्था ! सब पर रोषित हो जाएगा। भाई की अनुकूलता रह न पाई ! कारण इतना ही कि भाई की अनुकूलता न रह सकी। लेकिन बापू ! ऐसी एकत्व की उदय की परिस्थिति तुझे कब तक चालू रखनी है ? अनंतकाल से तो तू इसी पद्धति से जीता चला आया हो, लेकिन उसमें कहीं भी तुझे सुख-चैन नहीं है। अभी तो नहीं है, भूतकाल में भी नहीं था और भविष्य में भी नहीं रहेगा।

अब तो प्रत्येक उदय के प्रसंग में तू देख तो सही ! ऐसा कहते हैं। बहुत अच्छी (बात आयी है)। भेदज्ञान की प्रक्रिया कैसे करना ? इसकी पद्धति का इसमें पूरा UnderTone है। तू देख

तो सही, जाँच तो कर ! कि तेरी पर्याय में क्या फर्क पड़ा ? पानी पीने की मामूली-सी क्रिया से लेकर सब से बड़े वियोग की शरीर की - देह छूटने की क्रिया तक के सर्व उदय के काल में एक ही पद्धति है, दूसरी पद्धति नहीं है। अवलोकन कर ! यह पद्धति है। अवलोकन कर कि तेरे में क्या फर्क पड़ता है ? क्या आता है ? ठण्डा पानी पिया उसमें क्या आया ? कि तू तो यूँ ही कोरा का कोरा रह गया है। तेरे में कुछ नहीं आया। एक रजकण भी तेरे में नहीं आया और न तो शरीर छूटने पर्यंत भी तेरेमें से कुछ जाता है। अखण्ड, अभेदरूप तेरे परिपूर्ण स्वरूप से सदा तू जीवंत है। साधकों का देह छूटने का प्रसंग ऐसा बनता है कि एक तरफ देह छूटे - आयुष्य पूरा हो और दूसरी ओर शुद्धोपयोग में लीन हो गये हो !! आखरी उपयोग में ! विग्रहगति में उपयोग नहीं है। असंख्य समय का उपयोग है न ! लेकिन अंदर आखरी समयों में निर्विकल्प शुद्धोपयोग के आनंद में सराबोर (हो), आत्मा आनंद के सागर में डूबा हो ! हिलोरा लेता हो ! दूसरी तरफ देह छूटने की घड़ी आ पहुँची हो, आखरी क्षण चलती हो ! उन्हें क्या दुःख है ? अगर शरीर छूटना यानी कि मृत्यु के कारण दुःख (अनिवार्य ही) होता तो उनको भी उतना ही दुःख होना चाहिए था।

तुझे तो अभी दूसरे की मृत्यु से दुःख होता है कि अरेरे...! मेरे ये लगते थे... मेरे ये लगते थे... मेरे ये लगते थे... जबकि यहाँ तो कहते हैं कि तेरे खुद के शरीर के छूटने पर भी दुःख नहीं है। अरे...! दूसरे के शरीर छूटने से तो दुःख नहीं है, परंतु तेरे शरीर के छूटने से - वियोग से भी तुझे दुःख हो, ऐसा वास्तव में नहीं है। फिर दूसरे दुःख के प्रसंगों से दुःख हो यह तो बात

ही (नहीं रहती)। इसके लिए फिर समाधान कैसे करें, यह सिखाने की जरूरत नहीं है। ये बहुत अमूल्य वचन हैं ! यदि जीव इसकी रीत व विधि सीख ले (व) भेदज्ञान की अवलोकन पद्धति में आ जाए तो निहाल हो जाए ऐसी बात है !! भेदज्ञान करना मतलब तू तपास-देख तेरी पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? जाँच करेगा तो तुझे मालूम पड़ेगा कि मेरी पर्याय में तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। जाननेवाला जो मैं और जाननेवाली ऐसी मेरी ज्ञान की पर्याय, इनमें से तो कुछ नहीं गया। मेरा जानना तो उतना का उतना चालू ही है, ज्ञानमें से तो कुछ नहीं जाता। जाननेवाला ऐसा जो ज्ञान, उस ज्ञान में कोई कमी आयी हो या ज्ञान काम हुआ हो ऐसा कोई फेरफार पर्याय में तो नहीं हुआ, ज्ञान तो उतना ही मौजूद है। कोई फेरफार नहीं हुआ। इसप्रकार भीतर में खुद की भिन्नता का अवलोकन करना, यह भेदज्ञान का कार्य है। ऐसा कहते हैं। क्या फ़र्क (अंतर) पड़ा तेरे में ? कि कोई अंतर नहीं पड़ा। बाहर में हिनाधिक संयोग जो भी हो उसका लक्ष्य छूट जाएगा। अगर इसप्रकार अंदर में भेदज्ञान करता रहे यानी कि खुद की भिन्नता को जाँचपूर्वक देखता रहे तो जीव का संयोगों की हानि-वृद्धि पर से लक्ष्य छूट जाएगा, (जैसे) कि, अरेरे...! मेरे संयोग इतने हीन हैं और दूसरों के संयोग इतने मज़बूत हैं।

यहाँ संसारी प्राणी को तो ऐसा लगता है कि, सगे भाई के थोड़े संयोग बढ़ जाए तो भी अंदर में ऐसा लगे कि, अरेरे...! मैं पीछे रह गया और वह आगे निकल गया ! उसके पास तो बहुत कुछ आता है, बहुत मिलता है जब कि मुझे इतनी कमाई नहीं हो रही है। अरेरे...! मैं छोटा और वह बड़ा (आदमी) बन गया ! संयोग की वृद्धि होने से जैसे वह बड़ा (आदमी) बन गया

और मैं छोटा रह गया ! यह संयोग का लक्ष्य है। ऐसे भाव होना इसमें संयोग का लक्ष्य है। अपनी जाँच करता रहे तो यह संयोगों का लक्ष्य छूट जाए। नास्ति से संयोग का लक्ष्य छूट जाए और अस्ति से ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य हो जाए ! ये सारी बातें लक्ष्य बदलने के लिए हैं। 'लक्ष्य थवाने तेहनो,...' तेहनो मतलब आत्मा का, निजस्वरूप का। निजस्वरूप का लक्ष्य होने के लिए 'कह्यां शास्त्र सुखदायी' निजस्वरूप का लक्ष्य होने के लिए ये शास्त्र जो हैं वे सुख के दातार है, जिसका बोध सुख का दातार हैं, जो नित्यबोधक है - ऐसे शास्त्र कहे गये हैं।

(यहाँ) क्या कहते हैं ? 'जब बाहर के हीनाधिक संयोगों का लक्ष्य छूट जाए,...' (अर्थात्) हीन संयोगों से मैं हीन नहीं और अधिक संयोगों से मैं महान नहीं। मेरी महानता सर्व काल सर्वाधिक ही है। तीनलोक का नाथ मैं सदा हूँ ! संयोगों में कुछ भी हो इससे मेरा कोई वास्ता नहीं है। लेकिन दूसरे ऐसा नहीं मानते हैं। मैं महान हूँ ऐसा दूसरे नहीं मानते हैं (तो क्या) तुझे दूसरों से मनवाकर महान होना है क्या ? दूसरे महान माने जब तो तेरी महानता वरना तेरी महानता नहीं ! अरे ! ऐसी हीन प्रकार की महानता भी नहीं है तेरी ! तेरी महानता इतनी महान है कि दूसरों के नहीं स्वीकार करने पर भी तू तो महान ही रहता है। उसमें हीनत्व नहीं आता। ऐसा है।

खुद तो न कहे, लेकिन दूसरा कुछ कहे इतने में तो भीतर में गुदगुदी होने लगे ! ठीक ! 'मेरी तारीफ़ हो रही है, मेरी प्रशंसा हो रही है, मेरे बारे में अखबार में छपता है, फोटो छपता है और चारों तरफ़ मेरी वाह-वाह हो रही है, पूरे संघ में मेरी वाह-वाह हो रही है।' कहते हैं कि भाई ! तू संघपति नहीं परंतु

तू तो त्रिलोकनाथ, त्रिलोकपति हो ! (संघपति तो) छोटा पद है। नीच पद में तुझे हर्ष हो रहा है ! तुझे हीनपद में महानता भासित होती है !! दारु पीकर कीचड़ के दुर्गंधयुक्त गड्ढे में गिरे तब शरीर में व्याप्त दारु की गरमी के कारण ठंडक अच्छी लगे, वैसी बात है। तेरा महान पद इतना बड़ा है कि उसे कोई दूसरा महानता देवे तब उसकी महानता है वरना नहीं, इतनी अपेक्षा भी उसे नहीं है। बिना किसी की अपेक्षा वह महान है।

इसप्रकार अपने परिपूर्ण पद को लक्ष्य में ले तब जीव का संयोगों की हीनाधिकता पर से लक्ष्य छूट जाता है। दोनों एक साथ बनता है। एक तरफ संयोग का लक्ष्य छूटे तो उसी काल में आत्मा का लक्ष्य होवे। जिस काल में आत्मा का लक्ष्य हो उसी काल में संयोग का लक्ष्य छूट जाता है, ऐसा है।

मनुष्यभव में दूसरे संयोगों से भी मान की विशेषता - मान कषाय की विशेषता जीवों को विशेष मात्रा में होती है। पैसा न हो तो आदमी को चलता है, लेकिन यदि मान मिलता हो तो भूखा रहना भी पसंद कर लेगा ! फिर उसका गौरव माना जाता है कि भले ही उसके पास दूसरे संयोग नहीं हैं लेकिन इसका मान तो देखो ! उसको कितना मान मिलता है ! कहते हैं कि वह भी संयोग का ही लक्ष्य है। दूसरे लोग ऐसा कहते हैं - उसरूप संयोग का इसमें लक्ष्य है और जब तक ऐसे संयोग का लक्ष्य है तब तक आत्मा का लक्ष्य नहीं है। आत्मा के लक्ष्य का उसमें अभाव है। ऐसा यह जो संयोग का लक्ष्य है वह छूट जाता है, आत्मा का लक्ष्य होने पर वह छूट जाता है। दूसरा इसका कोई उपाय नहीं है।

(कहते हैं कि) 'संयोगों का लक्ष्य छूट जाए, कषाय की मंदता

या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है - यही यथार्थ त्याग है। लीजिए ! यह त्याग (की परिभाषा) है ! कषाय मंद हो चाहे तीव्र हो उसका भी लक्ष्य छूट जाए, (लेकिन) ज्ञान तो होता है। पता तो रहता है। उसकी अवस्था में जो है ! (इसलिए उसका ज्ञान तो होता है)। अतः कषाय तीव्र हो, मंद हो (परंतु) रस तीव्र नहीं होता। जिसको स्वरूप का लक्ष्य हो और संयोग का लक्ष्य छूट गया हो, उसको स्वरूप रस के कारण चैतन्य रस पैदा हुआ है - उत्पन्न हुआ है। इस वजह से विरुद्ध ऐसा कषाय रस तीव्र नहीं होता। और यदि मान लो कषाय तीव्र हो, कषाय मंद हो, वैसे तीव्र-मंद, तीव्र-मंद कषाय की स्थिति हो तो भी उसका लक्ष्य छूट जाता है, वह गौण हो जाता है। उसमें मंदता हुई मतलब क्या (कि जो) तीव्र कषाय था वह मंद हुआ। (कषाय) होता है (जरूर) लेकिन उस पर उसका वजन नहीं जाता।

कषाय तो मंद हुआ न ! कषाय तो तीव्र नहीं हुआ न ! इतना नुकसान हो गया फिर भी दुःख तो कम हुआ न ! यह समझ थी तो इतना तो दुःख कम हुआ न ! इतना समझ का प्रभाव तो जरूर है न ! ऐसे-ऐसे प्रकार से कषाय पर लक्ष्य नहीं रखना है, ऐसा कहते हैं। वह लक्ष्य का विषय नहीं है। पता तो चलेगा किन्तु उस पर जोर जाना या उस पर लक्ष्य रहना - यह पद्धति गलत है। यह पद्धति सही नहीं है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि, 'कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो...' (कषाय का) लक्ष्य छूट जाता है, यह लक्ष्य सम्यग्दर्शन के पूर्व बदल जाता है, निर्णय होता है तब, भावभासन

के समय। और आगे जाकर तेरी पर्याय (चैतन्य वस्तु को पकड़े) मतलब ज्ञान में अखण्ड चैतन्य का ग्रहण हो, अभेदभाव हो, भाव से अभेदता हो (अर्थात्) पर्याय पर्याय रहे, द्रव्य द्रव्य रहे; परंतु भाव से अभेदता हो - तब चैतन्य वस्तु को पकड़ कर जो परिणमन हुआ इसमें मिथ्यात्व का त्याग यानी कि नाश हुआ, मिथ्यात्व का अभाव हुआ, मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं हुआ। तब वास्तव में सम्यक् प्रकार से आत्मा ने त्याग की शुरुआत की। इसके पहले किया गया बाह्य त्याग वास्तविकरूप से त्याग नहीं है बल्कि मैंने त्याग किया, ऐसे त्याग के अभिमान का ग्रहण हुआ है। त्याग के बजाय त्याग के अभिमान का वहाँ ग्रहण हो गया ! इसके लिए तो आगे कह गये कि तुझे शल्य हो चुका है, मिथ्यात्व की पुष्टि हो गई।

कहते हैं कि 'तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है - यही यथार्थ त्याग है।' यही यथार्थ त्याग है। त्याग की सही पद्धति - सम्यक् प्रकार से भगवान द्वारा कथित जो रीत है उसमें प्रथम मिथ्यात्व का त्याग होता है फिर असंयम का त्याग होता है। भाव असंयम का त्याग होता है तब साथ ही साथ द्रव्य असंयम का भी निमित्तरूप से अभाव हो, तब उसे लोग बाह्यत्याग किया ऐसा भी स्वीकार करते हैं। यह बात आगे जाकर इसी पद्धति में विकास हो तब बनती है। इस यथार्थ प्रकार से आगे बढ़ना चाहिए, ऐसा कहते हैं। वह सही अर्थ में त्याग है। देखिये ! इस प्रकार त्याग की परिभाषा भी यहाँ पर की गई है। (समय हुआ है)।



प्रवचन - २३, दि. २२-५-१९८३

(परमागमसार) पन्ना :- ४५। (बोल) २४८। भेदज्ञान का प्रयोग कैसे करना ? उसकी रीत क्या है ? उस विषय पर यहाँ प्रकाश डाला है कि, भेदज्ञान कैसे करना ? (तो) कहते हैं (कि), अवस्था में अनेकविध प्रकार के मिश्रित भाव हैं। अनेक भाव होते हैं। मुख्यतया सुख-दुःख के प्रयोजन से विचार करे तो हर्ष-शोक के परिणाम भी हो रहे हैं और ज्ञानादि भाव भी हो रहा है। ज्ञानपर्याय भी उत्पन्न होती है (और) राग-द्वेष में हर्ष-शोक के पर्याय भी उत्पन्न होते हैं।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि, बाहर में संयोग के लक्ष्य से - इष्ट संयोग, अनिष्ट वियोग (होने पर) राग होता है। अनिष्ट का वियोग होने पर अच्छा लगता है, इष्ट का संयोग हो तब भी सुहाता है। इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग हो तब दुःख लगता है। कहते हैं कि, इससे तेरी पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? तेरी पर्याय में मतलब इधर हर्ष-शोक की पर्याय नहीं अपितु तेरी ज्ञान की पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? ऐसा कहते हैं। जो ज्ञान जानने के कार्यरूप परिणमन कर रहा है उसमें क्या फ़र्क पड़ा ? कि इसमें तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ज्ञान जानने का कार्य कर ही रहा है। इष्ट संयोग हो चाहे इष्ट वियोग हो फिर भी ज्ञान का जानने

का कार्य तो यथावत् चालू ही है। जब ज्ञान में फ़र्क नहीं पड़ता है यानी कि ज्ञान में लाभ-नुकसान नहीं हो रहा है। फ़र्क (या अंतर) पड़ना उसका मतलब ऐसा है कि तुझे - तेरी ज्ञान की पर्याय में क्या लाभ-नुकसान हुआ ? कि ज्ञान की पर्याय में तो जानने का कार्य ज्यों का त्यों चालू ही है, इसमें तो कोई लाभ-नुकसान नहीं हुआ।

अतः यह बात स्पष्ट हुई कि, वह जो इष्ट संयोग, इष्ट वियोग का फेरफार हुआ वह तेरे से भिन्न है, वह कार्य तुझ से संबंध नहीं रखता। तुझे लाभ-नुकसान नहीं होता है मतलब कि, इसकी भिन्नता है इसलिए तुझे लाभ-नुकसान नहीं हुआ।

सारी दुनिया में अनेक जीव और अनेक परमाणु - अनंत जीव, अनंत परमाणु परिणमन कर रहे हैं। इससे हमारे आत्मा को प्रतिक्षण क्या लाभ-नुकसान है ? है कुछ ? प्रति समय उसका परिणमन चालू ही है। इससे कोई लाभ-नुकसान नहीं है। अतः तुने जिन संयोगों को (अपना) माना है, जिसको इष्ट संयोग कहते हैं, इसका छूटना हो, त्याग हो इससे क्या फ़र्क पड़ा ? तुझे क्या नुकसान हुआ ? कि तुझे तो कोई नुकसान नहीं होता। इसप्रकार अपने में अपना अवलोकन करके भिन्नत्व देखना चाहिए। राग एवम् परद्रव्य से भिन्नत्व जानना चाहिए, भिन्नत्व अर्थात् इसका परपना जानना चाहिए। जब कि ज्ञानादि भाव और स्वभाव में स्व-पना जानना चाहिए। ऐसे भेदज्ञान करने की यह विधि है, रीत है। भेदज्ञान कैसे करना ? कि, इसप्रकार करना।

(समयसार कि) १७-१८ गाथा में आता है न ? अनेक भेदभावों का मिश्रितपना होने के बावजूद भी जो भेदज्ञान में प्रविण है... ऐसा कहकर बात की है। इसका अर्थ क्या हुआ ? कि, भेदज्ञान में

ज्ञान भिन्न है ऐसा जानकर, सिर्फ जानकर इतना ही नहीं, वह ज्ञान में स्व-पना का वेदन हो - ज्ञान स्व-रूप में वेदन में आता है। पर, पररूप वेदन में आते ही ज्ञान स्व-रूप में वेदन में आता है। ऐसा जो प्रकार है उसे भेदज्ञान का प्रकार कहा जाता है।

कहते हैं कि, इस तरह संयोगों का लक्ष्य छूट जाता है (यानी कि) जब संयोगों का भिन्नत्व भासित होता है तब संयोगों का लक्ष्य छूट जाता है। तदुपरांत कषाय की तीव्रता - मंदता का लक्ष्य भी छूट जाता है, ऐसा है। जानने में आ जाना एक बात है और लक्ष्यपूर्वक जानना यह दूसरी बात है। यहाँ फ़र्क इतना है। **'कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए...'** तीव्र-मंद कषाय का ज्ञान होगा, तीव्र-मंद कषाय मालूम जरूर होंगे कि, यह तीव्र हुआ और यह मंद हुआ, परंतु इसका लक्ष्य नहीं रहेगा। लक्ष्य रहना (बिलकुल) दूसरी बात है। रास्ते पर चलते हुए निर्धारित स्थल पर पहुँचने से पहले Traffic का पता तो चलेगा, परंतु लक्ष्य पहुँचने का है। लक्ष्य Traffic पर नहीं है। (इसतरह) जानने में आना एक बात है और लक्ष्यपूर्वक जानना यह बिलकुल दूसरी बात है।

वैसे **'कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए,...'** तब कषाय के विषय कौन-कौन से हैं इसका भी लक्ष्य छूट जाएगा। **'और तेरी पर्याय चैतन्य वस्तु को लक्ष्य कर तदरूप परिणमित हो...'** यानी कि स्वरूप में अपनत्व स्थापित करके परिणमन करे। श्रद्धा द्वारा स्वरूप में अपनत्व स्थापित करके परिणमन करे तब उसने चैतन्य वस्तु का लक्ष्य किया ऐसा कहा जाता है। चैतन्य वस्तु तो स्वयं ही है, परंतु स्वयं जो है उसमें से अपनत्व छूट गया था, वह श्रद्धा द्वारा - ज्ञान द्वारा अपने में अपनत्व जब स्थापित हुआ तब उसने चैतन्य को ग्रहण किया, चैतन्यवस्तु को लक्ष्यगत

किया ऐसा कहा जाता है। 'तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है।' तब जीव का पर में अपनत्व के अध्यास का त्याग होता है। ऐसा त्याग 'यही यथार्थ त्याग है।'

त्याग का जो पूरा प्रकरण है, मोक्षमार्ग में त्याग का जो प्रकरण है, उस प्रकरण में पहले मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिए, ऐसी जिनेन्द्र की आज्ञा है। जिनेश्वर की जो आज्ञा है वह इसप्रकार है कि, सर्व प्रथम मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिए। मिथ्यात्व का त्याग होने के पश्चात् सम्यक् प्रकार से असंयम का त्याग होता है। त्याग (होना) मतलब अभाव होना, समझें ! यहाँ त्याग मतलब अभाव होना ! वैसे परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते। फिर असंयम के अभाव में असंयम के निमित्त ऐसे पाँच इन्द्रिय के विषयों का भी संयोग नहीं रहता। तब लोग भी ऐसा जानते हैं कि, त्याग हुआ। इसके पहले यदि बाह्य विषयों का त्याग हुआ हो तो वह वास्तविक त्याग है, ऐसा इस मार्ग में नहीं कहा जाता।

मुमुक्षु :- अभी ऐसी चर्चा चलती है कि, मिथ्यात्व से बंध ही नहीं है !

पूज्य भाईश्री :- बंध ही नहीं होता ?! अभी जैनदर्शन में ऐसी चर्चा चलती है !? ठीक ?

मुमुक्षु :- २५० बोल में ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्वभाव तो कसाईखाना है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सात व्यसन के पाप से अनंतगुना है। मतलब कि सात व्यसन के पाप से उसका बंधन विशेष है। परंतु बंध के कारण विषयक जो 'तत्त्वार्थसूत्र' में श्री उमास्वामी का सूत्र तो चर्चा करनेवाले को मंजूर है या नहीं ? 'मिथ्यात्व, अविरती, प्रमाद, कषाय, योग बंध हेतवः' ऐसा सूत्र है। है कि नहीं ? 'तत्त्वार्थसूत्र' में तो

आस्त्रव का अधिकार चला है और आस्त्रव है वह बंध का कारण है तो फिर इस आस्त्रव का स्वरूप क्या है ? 'मिथ्यात्व अविरती, प्रमाद, कषाय, योग बंध हेतवः' क्योंकि यह तो व्यवहारनय का विषयरूप ग्रंथ है। इस ग्रंथ में सभी भेद-प्रभेदों का काफ़ी वर्णन है। कथानुयोग को छोड़कर तीनों अनुयोग का विषय है। करणानुयोग की काफ़ी बातें हैं। चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की बातें भी हैं और अध्यात्म का विषय भी बहुत है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में आस्त्रव अधिकार में योग पर्यंत बंध का कारण लिया है।

मिथ्यात्व तो अनंत संसार में रूलने का बंधभाव है। परंतु योग जो कि जिनेन्द्र को तेरहवें गुणस्थान में होता है, वह भी एक समय के बंध का कारण है। यानी कि एक समय का आस्त्रव है। इस प्रकार इतनी हद तक बात ली है। फिर दूसरी बात की तो चर्चा भी क्या करना ? वह सब गड़बड़ है।

दिगंबर में पूर्वाचार्यों के शास्त्र तो सत्य स्वरूप का निरूपण करनेवाले महान परमागम विद्यमान हैं। परंतु बिना दृष्टि प्राप्त हुए और गुरुगम मिले बिना इसका अर्थघटन आत्मा के हित में नहीं हो सकता, फिर जीवों को कल्पना होती है। त्यागी हो चाहे गृहस्थी हो परंतु कल्पना कर लेता है। गृहस्थी चाहे कोई विद्वान-पंडित हो, त्यागी मुनि हो तो भी वह कल्पना कर लेता है कि, इसका अर्थ ऐसा, इसको ऐसा गिने, इसको ऐसा करना। या तो खुद को अनुकूल हो, अनुकूल लगे ऐसे अपसिद्धांतों - विरुद्ध सिद्धांतों की गुरुगम के अभाववाले जीव कल्पनापूर्वक स्थापना करते हैं। जिसके कारण खुद का तो अहित होता ही है साथ-साथ दूसरों को भी अहित होने में निमित्त होते हैं। इसप्रकार के सिद्धांतों की स्थापना स्व-पर घातक है। इसे स्व-पर घातक प्रवृत्ति कहते हैं।

यह थोड़े विचार बाद में चले थे इसलिए फिर से लिया। कल स्वाध्याय के बाद दिन में इस पर थोड़े विचार चलते थे। इस बोल में भेदज्ञान का स्वरूप बहुत सुंदर लिया है। तू शुरुआत कैसे करेगा ? जब भेदज्ञान की सहज परिणति तुझे उत्पन्न नहीं हुई है और भेदज्ञान कर्तव्य है, ऐसा तुझे बुद्धिगोचर हुआ है, बुद्धिगम्य हुआ है, तो भेदज्ञान की शुरुआत तू कैसे करेगा ? (तो कहते हैं) कि, गौर से जाँच कर तेरी ज्ञान की पर्याय में कि संयोग का त्याग होने पर तुझे क्या नुकसान हुआ ?

(दृष्टांतरूप से) मान लो सोने की चोरी हो गई ! सोना, हीरा मूल्यवान चीज़ मानी जाती है न ? जैसे पैसे चोरी हो गये, धंधे में घाटा हो गया, किसी न किसी प्रकार से चीज़ का त्याग हो गया। त्याग हुआ मतलब संयोग छूटा (तो) तेरे में क्या फ़र्क पड़ा ? ऐसे तू देख ! ऐसा कहते हैं। विचार कर, सिर्फ़ इतना नहीं। परंतु विचार से यह बात एक कदम आगे है। इसमें विचार साथ में है तो सही परंतु विचार के अलावा एक बात इसमें और भी है कि, अवलोकन कर कि तेरे में क्या अंतर पड़ा ? ऐसा विचार तो करना है किन्तु साथ-साथ ऐसा अवलोकन भी करना है। तुझे मालूम होगा कि, वह चीज़ भिन्न है और भिन्न चीज़ की पर्याय के फेरफार से, क्षेत्र के फेरफार से (तेरे में कोई फेरफार नहीं होता)। गहना चोरी हो गया (हो), इसे पिघाल देने पर वह 'मेरा सोना है' यह कहने का अधिकार नहीं रहता। इसके क्षेत्र में हुए फेरफार से व पर्याय के फेरफार से तेरे में क्या फेरफार हुआ ? यह जाँच कर ! ऐसा कहते हैं। कोई फेरफार नहीं हुआ। यह आत्मा ज्ञानादि परिणाम सहित यों का यों सदा ही रहा है। उसमें कोई फेरफार नहीं होता।

ऐसे संयोगों का लक्ष्य छूट जाय, रागादि का - कषाय का लक्ष्य छूट जाय, तब इसमें जो अपनत्व तीव्रता से हो जाता था वह अपनत्व नहीं (रहता)। और यह अपनत्व वहाँ से हटे तब ज्ञानादिभाव में - चैतन्यवस्तु में अपनत्व होता है। ज्ञान भिन्न मालूम होता है ऐसे नहीं (परंतु) ज्ञान स्व के रूप में भिन्न मालूम होता है। रागादि भाव भिन्न मालूम होते हैं इतना ही नहीं (परंतु) रागादि भाव पर रूप में भिन्न मालूम होते हैं। ऐसा होने पर राग और पर से उपेक्षा होती है या अरस परिणाम होते हैं, मालूम होने के बावजूद भी उसमें अरस परिणाम होते हैं। जब कि ज्ञानादि भाव में स्व के रूप में सरस परिणाम होते हैं। (विभाव सारे) उपेक्षित भाव से विषयभूत हो जाते हैं, जब कि (ज्ञानादि भाव) अपेक्षित विषय हो जाते हैं। साथ ही साथ एक ही परिणाम में इतना बड़ा परिवर्तन आता है। तब इसका सही त्याग (अर्थात्) मिथ्यात्व का त्याग सम्यक् प्रकार से (होता है।) (तब इसकी) त्याग के विषय में शुरुआत हुई ऐसा कहा जाता है। यह सही त्याग मतलब सच्चा त्याग है। ऐसा एक साथ है।

कितनी बातें हैं बोल में ? उपेक्षा होनी चाहिए, उपेक्षा होने पर अरसपना या भिन्नपना या परपना मालूम होना यह इसका लक्षण है या उसका स्वरूप है। ज्ञान में स्वपना होते ही साथ-साथ ज्ञानरस और चैतन्यरस भी वृद्धिगत् हुआ और ज्ञान का स्व के रूप में अनुभव हुआ तो आत्मा अनुभव में आया। स्व-रूप में ज्ञान का अनुभव होना वही आत्मा है। आगे ऐसा एक बोल आएगा। इसप्रकार जब सम्यक् प्रकार से भेदज्ञान हुआ तब मिथ्यात्व का नाश हुआ। ऐसे लेना है। यह २४८ (बोल) हुआ।





.....



.....



- पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्य की मिठास का आस्वादन करता है परंतु पुण्य की मिठास तो उसका खून करती है। मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्व का पाप सात व्यसन से भी अनंतगुणा (भयंकर) है, उसका
- पोषण करनेवाले तो कसाईखाने खोलते हैं। २५०. •



.....



.....



प्रवचन - २४, दि. २४-५-१९८३

परमागमसार, पत्रा : ४५। २५० बोल। 'पुण्य-पुण्य करके अज्ञानी पुण्य की मिठास का आस्वादन करता है परंतु पुण्य की मिठास तो उसका खून करती है।' क्या कहते हैं ? अज्ञानभाव से जीव को पुण्य की महत्ता है। धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ होने से, वीतरागी धर्म के स्वरूप से अनजान होने से पुण्य को ही धर्म माननेवाले पुण्य की महत्ता करते हैं और पुण्य परिणाम होते वक्त पुण्य करने का संतोष पकड़ते हैं। या आत्मकल्याण किया, ऐसा मानते हैं - ऐसी श्रद्धा करते हैं और वह उन्हें रुचता है।

वास्तविकता ऐसी है कि आत्मा जो वीतराग स्वरूप है, उस वीतरागी तत्त्व से रागादि पुण्य भाव जो है वह अन्य तत्त्व है। मिथ्यात्व का स्वरूप ऐसा है कि, एक तत्त्व में दूसरा तत्त्व मानना, एक तत्त्व में अन्य तत्त्व जानना - यह मिथ्यात्व का स्वरूप है।

रागादि पुण्यभाव जो अन्य तत्त्व स्वरूप है, आत्मा वीतराग स्वरूप है इससे जो अन्य तत्त्व है, उस अन्य तत्त्व को स्व-रूप जानना, स्व-स्वरूप करना, स्व-रूप करके जानना - यह मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व से जन्म-मरण होते हैं। इसलिए कहते हैं कि, यह पुण्य की मिटास तो (आत्मा का) खून करती है। खुद के ज्ञान और आनंद प्राण को हर लेती है। इसलिए खून करती है ऐसा कहा जाता है।

देखो ! सारे जगत से बिलकुल अलग ही प्रकार की बात है। जगत में धार्मिक क्षेत्रों में पुण्य को ही सर्वस्व माना जाता है और इस पुण्य परिणाम का झंडा लेकर लोग घूमते हैं कि, हम धर्म करते हैं... धर्म करते हैं ! बहुत धर्म किया। फिर इसके अनेकविध प्रकार हैं। परंतु वे तमाम प्रकार के शुभ राग हैं जिसे तत्त्व दृष्टि से पुण्य तत्त्व कहते हैं। नौ तत्त्वोंमें से वह पुण्य तत्त्व में जाता है। जो अन्य तत्त्व है। इसके और आत्मा के बीच वास्तव में विरुद्धता है। वीतराग और राग के बीच वास्तव में विरुद्धता है। इसकी विरुद्धता जानने के बजाय इसके साथ ही आत्मबुद्धि करे, उस पुण्य तत्त्व में ही आत्मीयता कर ले - आत्मबुद्धि कर ले तो इसमें आत्मा का घात होता है। उसमें ज्ञान और आनंद का घात होता है।

मुमुक्षु :- बात तो थोड़ी मुश्किल है !

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या मुश्किली है ? जो जैसा है वैसा जानना है। अभी तक भ्रांति में पड़ा हुआ जीव ऐसा विचार करे

कि, हकीकत में परिस्थिति - वस्तुस्थिति क्या है ? इतनी जिज्ञासापूर्वक विचार करनेवाले को ऐसा कहते हैं कि भाई ! तू यहाँ पर भूला है। तुने जो पुण्यभाव किये उस पुण्यभाव में तेरी भूल हुई है। (यानी कि) इसमें धर्म मान लेने की तेरी भूल हुई है। वह मिठास का आस्वादन ठीक नहीं है !

मूल में तो क्या है कि धर्म के जो परिणाम हैं, इसमें जो आत्मा की शांति और जो वीतरागता की निर्दोषता और पवित्रता है, उसको जीव ने नहीं जानी। इसलिए पुण्य के कषाय सहित परिणाम (कि) जो सकषाय परिणाम हैं, शुभ राग जो है वह भी कषाय के परिणाम हैं, इसमें जीव ममत्व करता है, वह ममत्व अज्ञान भाव से करता है। जीव मिठास कब लेता है ? कि उसमें जीव को ममत्व होता है। अपने वीतराग स्वरूप में अहंपना-ममपना-ममत्व नहीं होता। इसलिए वह पुण्य की मिठास में - पुण्यभाव में ममत्व करता है। यह इसके स्वरूप संबंधित अज्ञान को ज़ाहिर करता है - प्रसिद्ध करता है। पुण्यभाव की मिठास और पुण्यभाव में ममत्व है, जो कि स्वरूप के अज्ञान को प्रसिद्ध करनेवाले परिणाम हैं।

जो भी जीव पुण्य में ममत्व करता है इसके विषय में परीक्षा करने की भी जरूरत नहीं है, आवश्यकता नहीं है कि उसे आत्मज्ञान है या नहीं ? आत्मज्ञान जिसको हो उसको ऐसा प्रकार नहीं आता क्योंकि जिसको आत्मज्ञान है वह तो शुभा-शुभ का छेद करके वीतरागी धर्म में प्रगति करता है अतः उसको पुण्य परिणाम में ममत्व नहीं होता।

पुण्य की महिमा करता है, मिठास करता है। यहाँ पुण्य-पुण्य दो बार शब्द लिया न ! यह इसकी महत्तासूचक है। जिसको इसकी महत्ता आती है वह बार-बार उसीको मुख्य करता है। जिसको

पुण्य की महत्ता है उसको आत्मा की महत्ता नहीं है, राग की जिसको महत्ता है उसे रागरहित आत्मतत्त्व की महत्ता नहीं है, - यह बात स्पष्ट है। अतः जो पुण्य के हिमायती हैं वे वीतरागता को गौण करनेवाले हैं और जो वीतरागी धर्म के हिमायती हैं वे पुण्य को गौण कर जाते हैं। उसको पुण्य परिणाम होते हैं जरूर परंतु उस पुण्य के परिणाम को गौण कर देते हैं।

यहाँ कहते हैं कि, पुण्य परिणाम तुझे होंगे तो जरूर। जब तक छद्मस्थ हो, साधक अवस्था में भी वीतरागता अधूरी है - पूर्णरूप से विकसित नहीं हुई, तब तक जो कमी है, अल्पता है - इसमें पुण्य के परिणाम होंगे तो जरूर, परंतु इसकी मिटास लेना यह दूसरी बात है। पुण्य होना एक बात है और पुण्य की मुख्यता होना, इसकी मिटास लेना यह बिलकुल दूसरी बात है। इसकी कोई कीमत नहीं है, वैसे। पुण्य की कीमत क्यों नहीं है ? (क्योंकि) इसके फल की कीमत भी नहीं है। पुण्य की कीमत इसलिए नहीं है (क्योंकि) पुण्य के फल में कारणरूप यह पुण्य है। पुण्यभाव तो पुण्यफल के कारणरूप है।

जगत में जो जीव तीव्र पाप के परिणाम करते हैं या तीव्र पापी गिने जाते हैं (ऐसे) हलके व नीच परिणामवाले जो जीव हैं - उनको भी, तीव्र पापी जीव को भी पुण्य के फल का संयोग तो देखने में आता है।

मांस खाये, दारू पीए, अनेक प्रकार के तीव्र हिंसात्मक उद्योग करे, बहुत पाप के परिणाम करे, ऐसे जीव को भी पुण्य के फलरूप संयोग तो देखें जाते हैं ! फिर इसकी कीमत कितनी ? कि वास्तव में इसकी तो कोई कीमत करनी नहीं चाहिए। ऐसे पुण्य के फल तो पापी प्राणियों को भी होता है। इसकी क्या कीमत है ? कि

इसकी तो कोई कीमत इस जगत में नहीं है।

मोक्षमार्ग में आत्मा का महत्त्व और आत्मा की मुख्यता और आत्मधर्म की इतनी मुख्यता है कि पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के फल को तो कोई कीमत दी ही नहीं जाती है। अतः मोक्षमार्गी जीव को, मोक्षार्थी जीव को पाप के परिणाम को तूल्य देने का तो सवाल नहीं है, यानी पाप की महत्ता करने का तो प्रश्न है ही नहीं, यह तो विवादास्पद (बात) है ही नहीं, किन्तु पुण्य परिणाम की - अपने पुण्य परिणाम की भी कभी महत्ता नहीं करनी है और इस पुण्य भाव में उसको ममत्व नहीं करना चाहिए - ऐसा उपदेश है।

वीतरागों का यह उपदेश है कि राग की महत्ता नहीं करना। वीतरागता की ही महत्ता करें व राग की महत्ता न करें। पाप की महत्ता करने का तो जब कोई धर्म नहीं कहता है, (तो) वीतराग धर्म तो कहाँ से कहेगा ? इस्लाम जैसे धर्म में भी पाप नहीं करना, ऐसा तो स्पष्ट लिखा रहता है, फिर भले ही किसी न किसी बहाने वहाँ पाप घूस जाता है। परंतु स्पष्टरूप से पाप करो ऐसा तो कोई नहीं कहता। फिर (जो जैनधर्म) सर्वोत्कृष्ट धर्म है, जहाँ पुण्य को भी पाप में खताया जाता है, वहाँ सीधा पाप करने का उपदेश हो यह बात तो स्वप्न में भी सोचने जैसी नहीं है।

प्रश्न :- पाप हो जाए इसका क्या करें ?

समाधान :- हो जाए तो इसका खेद होना चाहिए। हो जाए तो इसका बचाव नहीं करना चाहिए कि हम तो गृहस्थी हैं और गृहस्थी को इतना पाप तो करना ही पड़े ! ऐसा करने में तो पाप करने का अभिप्राय हो जाएगा और अभिप्राय का बड़ा दोष उत्पन्न हो जाएगा।

हकीकत में कोई भी परिणाम हो इसके पीछे अभिप्राय क्या है ? यह (महत्त्व की) बात है। इस जगत में जीव जो कुछ भी पाप के परिणाम करते हैं इसके पीछे भी जीव का सुख लेने का व सुख जुटाने का ही भाव है या और कुछ ? आदमी ये व्यापार-धंधा करते हैं कि नहीं ? केवल पाप की गठरियाँ हैं। वह प्रामाणिकता से करे तो भी ! वैसे प्रामाणिकता से तो अभी कम लोग करते हैं। शायद ही कोई करता है। लेकिन प्रामाणिकता से करे तो भी केवल पाप की गठरियाँ हैं। पाप नहीं (परंतु) पाप की गठरियाँ हैं ! ढेर सारा पाप है।

प्रश्न :- आजीविका जितना तो आदमी को करना पड़े न ?

समाधान :- आजीविका जितना करना पड़े इसका भी खेद होना चाहिए। वैसा अभिप्राय नहीं होना चाहिए।

अब ऐसे जो पाप के परिणाम होते हैं इसके पीछे इस जीव का अपना - हरएक को खुद का क्या अभिप्राय है ? यह खोज लेना चाहिए।

मुमुक्षु :- शुरूआत में भूल दिखती है लेकिन बाद में वह हकीकत बन जाती है।

पूज्य भाईश्री :- हकीकत बन जाना माने क्या ?

मुमुक्षु :- जैसे कि बराबर है, चलता है।

पूज्य भाईश्री :- मैं इसमें से कब छूट जाऊँ ऐसे परिणाम जीव को रहने चाहिए। इसमें प्रगति करूँ ऐसे परिणाम तो नहीं रहने चाहिए, परंतु इसमें से मैं कब छूट जाऊँ ? ऐसे परिणाम रहने चाहिए।

श्रीमद्जी ने मुमुक्षुओं को कई तरह से मार्गदर्शन दिया है, इसमें एक जगह ऐसी बात की है कि, भाई ! तू अपनेआप को पूछ

लेना कि तुझे यदि विशेष कमाने की आवश्यकता न हो यानी कि आजीविका जितनी पर्याप्त व्यवस्था पूर्व पुण्य कर्म के उदय से बन चुकी हो, पूर्वकर्म ही ऐसे हो कि जिसमें कोई तुझे आवश्यकता न हो, - तो तू किसके लिए व क्यों सब कुछ कर रहा है ? यह अपनेआप को ही पूछ लेना ! तू अपनेआप को पूछ लेना कि अब तू किसके लिए कर रहा है ? और क्यों कर रहे हो ? यह सब करने के पीछे तेरा अभिप्राय क्या है ? यह तू अपने अंतरंग को टटोलना और यह जाँच करते हुए तुझे ऐसा लगे कि आवश्यकता नहीं है फिर भी प्रवृत्ति करने का भाव चल रहा है तो समझ लेना कि तुझे अपना हित करने की दरकार नहीं आयी है !! तेरा कार्य तुझे शीघ्र ही कर लेना चाहिए, ऐसी भावना मूलमें से नष्ट हो चुकी है, तभी तुझे ऐसे परिणाम हुए हैं, यह तू सोच लेना ! इतनी बात है।

कई सारी बातें सत्पुरुषों ऐसी कर गये हैं, जिसका मूल्य नहीं हो सकता ! इसकी कीमत कैसे हो ! जीव को अनंत पाप से बचा ले (इतना ही) नहीं, अनंत पाप के फलरूप दुःख से भी बचा लेते हैं ! अभी वर्तमान में कोई एक ज़िंदगी चले इतनी व्यवस्था कर दे तो भी इसका गुलाम हो जाए ! अरे ! भाईसाहब ! आप नहीं मिलते तो हम तो भीख माँगने पर मजबूर हो जाते। अभी ये जितनी भी साहबी है वह सब आप ही की मेहरबानी है ! ऐसा कहते हैं। आप जो कहो करने के लिए तैयार हूँ। जब कि ये सन्मार्ग पर ले आनेवाले और उन्मार्ग से बचानेवाले सत्पुरुष तो राहगीर की तरह मार्ग का निर्देश करके चले गये हैं। खुद मार्ग पर चले और मार्ग के प्रति अंगुलीनिर्देश करते गये कि देखो ! यह मार्ग है, मार्ग इस तरफ है, इस दिशा में चलना... इस तरफ

चलना... ऐसे चलना !

(यहाँ) कहते हैं कि, भाई ! मोक्षमार्ग में पुण्य-पुण्य करके पुण्य की महत्ता करने जैसी नहीं है और पुण्य के परिणाम हो जाए तब इसकी मिठास का भी आस्वादन करने जैसा नहीं है। वह मिठास तो ममत्व के कारण आती है। जहाँ ममता है वहाँ जीव को मिठास लगती है। वह तो आत्मा का खून करती है। यानी कि आत्मा के जो भाव प्राण है - निर्मल ज्ञान और आनंद है - पवित्रता आदि धर्म जो है उसका घात करती है।

'मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है।' देखो ! बाहर में कोई कत्लगाह खोल दे तो कँपकँपी आ जायेगी कि, अरेरे...! हररोज कितने प्राणियों के प्राण हरते हैं ! जब कि यहाँ पर प्रति समय, प्रति क्षण मिथ्यात्व द्वारा स्वयं के प्राणों का घात करता है, इसके सामने तक नहीं देखता है !! पुण्य की मिठास करके, मिठास का आस्वादन करके अपने ज्ञान और आनंद के प्राण का घात करता है, इसकी दरकार तक नहीं करता ! **'मिथ्यात्व-भाव तो कसाईखाना है। मिथ्यात्व का पाप सात व्यसन से भी अनंतगुणा (भयंकर) है।'** कितना भयंकर है ? अनंतगुणा है ! बोलिये ! दूसरे पाप दिखते हैं, बाहर में दूसरे पाप प्रसिद्ध हैं, सात व्यसन लिए जाते हैं न। शिकार, दारू, मांस अनेक प्रकार के तीव्र पाप के परिणाम हैं, वह जीव को पापरूप दिखते हैं, परंतु मिथ्यात्व का पाप इससे भी अनंतगुणा है यह नहीं दिखता !!

मूल विषय ही यही है। जैनदर्शन में नीव की बात जो की है, वह यही है कि जीव के मिथ्यात्व के परिणाम जो हैं, वह भयंकर परिणाम है, जिसके कारण अनंत, अनंतकाल से जीव जन्म-मरण के परिभ्रमण में भटक रहा है। इसकी भयंकरता को समझकर

चाहे कैसे भी यानी कि पूरे उद्यम से, चाहे कैसे भी मतलब जो (यथार्थ) प्रकार है उसी प्रकार पूरे उद्यम से - पूरे प्रयत्न से आयु पूर्ण होने के पहले जीव को मिथ्यात्व का अभाव कर लेना चाहिए। उन परिणामों को मिटा देना चाहिए और आत्मा जैसा मूल स्वरूप से है उसका श्रद्धा में स्वीकार करना चाहिए। अस्ति-नास्ति से एक ही बात है।

अपने मूल शुद्ध सिद्धपद का स्वीकार करना, वह 'है' ऐसी हयाती को श्रद्धा में ग्रहण करना और इसके ग्रहणपूर्वक, इसे छोड़कर सर्व तत्त्वों में, अन्य तत्त्व में ममत्व का अभाव हो ऐसे प्रकार में पूर्ण प्रयत्नपूर्वक जीव को आना चाहिए। पूरे उद्यम से रात-दिन इसके पीछे लगकर उस स्थिति में जीव को पहुँचना चाहिए, वरना भवभ्रमण में भटकते हुए पुनः-पुनः इस प्रयत्न की सूझ-बूझ में आने की जीव की परिस्थिति नहीं रहती। प्रायः ऐसी परिस्थिति हो जाती है कि इसका विचार करने तक भी तैयार नहीं होता है ! मनुष्य होने के बावजूद भी अधिकांश जीवों को तो पुण्य-पाप का छेद करके वीतरागी धर्म व निर्दोषता प्राप्त करने की बात रुचती भी नहीं है, सुनना भी नहीं रुचता। हम जो करते हैं वह हमें करने दो ! अभी हमें यही करना है। यह सर्वस्व हो चुका है। वर्तमान में जो उसके औदयीकभाव हैं उसे जीव इतने सर्वस्वरूप से करता है कि उसको दूसरा कुछ करना रुचता ही नहीं है। यह परिस्थिति है।

कहते हैं कि, **'मिथ्यात्व का पाप सात व्यसन से भी अनंतगुणा (भयंकर) है।'** सात व्यसनमें से एक भी व्यसन हो तो इसकी निंदा की जाती है। सातमें से आदमी को जैसे जुआ का एक व्यसन हो ! व्यसन माने लत, मतलब वह जो वृत्ति होती है वह प्रकृति

बार-बार आसक्ति के ज़ोर में आकर तीव्र हो जाती है कि जिससे जुआ खेले बिना उसे चैन नहीं पड़ता। फिर लोग निंदा करते हैं कि यह तो जुआरी है ! जुआरी मतलब पापी जीव है। ऐसा कहकर निंदा की जाती है। कहते हैं कि भाई ! यह मिथ्यात्व का जो पाप है वह तो सात व्यसन से भी अनंतगुणा है, ठीक ! इसकी जो वास्तविक स्थिति समझ में आनी चाहिए वह जब तक समझ में नहीं आती है तब तक इससे हटने का, इसको मिटाने का उद्यम भी जागृत नहीं होता। जो विशेषतः प्रयत्न होना चाहिए, खास प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए वह प्रयत्न (नहीं हो पाता)। जीव को जब तक इसकी भयंकरता भासित न हो, तब तक वीतरागी धर्म की कीमत भी भासित नहीं होती। (अर्थात्) एक से दुःख कितना है और दूसरे से सुख कितना है ? एक कितना अनिष्ट है व एक कितना इष्ट है ? यह तुलना जब तक नहीं हो तब तक किसी भी हालात में जीव का प्रयत्न योग्य स्थान में, योग्य दिशा नहीं पकड़ेगा। यह परिस्थिति है - यह वास्तविक परिस्थिति है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि, **‘मिथ्यात्व का पाप सात व्यसन से भी अनंतगुणा (भयंकर) है।’** बहुत ज्यादा है ऐसे नहीं लिया, अनंतगुणा है - ऐसा कहते हैं। एक गुना, दो गुना, चार गुना, दस गुना, सौ गुना, हजार गुना है ऐसा नहीं कहा, लाख, करोड़ संख्यातओं से भी बाहर, असंख्यात से भी ज्यादा है, अनंतगुणा है। क्योंकि अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंतानुबंधी के जो परिणाम होते हैं व अनंतानुबंधी के जो बंध होते हैं, इसकी भयंकरता इतनी अधिकतर है कि इसका यदि चलचित्र - यह सिनेमा जो दिखाते हैं न ! वह यदि दिखाया जाए तो स्वप्न में भी कोई उसे नहीं चाहेगा !

अरे ! अस्पताल में सब वार्ड में एक चक्कर लगा ले तो भी पता चल जाए कि इस मनुष्य प्राणी को भी कितने प्रकार की अशांता व कितने (प्रकार की) वेदना होती है ! कोई बड़ी अस्पताल बनी हो उसमें चक्कर लगाये तो पता चले कि कैसे-कैसे हाथ-पैर टूटते हैं व कैसे-कैसे आपरेशन होते हैं !? जन्म-मरण के दुःख तो इससे भी अधिक हैं। यह तो इसके आगे सामान्य है। जब कि जन्म के समय व मरण के समय होनेवाला दुःख तो इससे काफ़ी ज्यादा है, वह भी मनुष्य प्राणी के ! तिर्यच के दुःख का तो पार नहीं है - प्यास लगे फिर भी पानी न मिले, भूख लगे तो भी आहार न मिले ! सिर्फ नहीं मिले इतना तो नहीं, मारण-ताडन-छेदन-भेदन अनेक प्रकार से कुचलना, दबना होता है जिससे प्राणों का नाश होता है !! ये चींटी-मकोड़ा को देखते ही हैं न ! चलते-फिरते पैर तले दब जाए, उसकी कैसी दशा होती है ! ये सारे प्रकार को देखे तो वह (मिथ्यात्व का) स्वप्न में भी (सेवन नहीं करेगा)।

मिथ्यात्व के कारण से ये सारी परिस्थिति हैं, ये जितनी भी परंपरा है वह मिथ्यात्व के कारण है। इसका मूल जो है वह मिथ्यात्व है और जब तक इस ग्रंथी का छेद नहीं होगा तब तक इसमें से पुण्य-पाप (के परिणाम) पनपते ही रहेंगे। पुण्य-पाप के परिणाम को छेदने का उपाय मिथ्यात्व का अभाव करके वीतरागी धर्म प्रगट करना, - यह एक ही उपाय है और पूरे प्रयत्न से इस धर्म में जैसे, जिस-जिस प्रकार से बोध, उपदेश, सूचना, मार्गदर्शन या चाहे जो भी शब्द में कहे (ऐसी जो भी) आज्ञा की गई है, उस आज्ञा को शिरसाबंध जानकर उठाया न जाए तब तक किसी भी प्रकार से उसका आराधन और आदर नहीं हो सकता।

यह मिथ्यात्व का अनंतगुणा पाप है। 'उसका पोषण करनेवाले...' मिथ्यात्व का जो पोषण करते हैं, 'तो कसाईखाने खोलते हैं।' उसने एक कसाईखाना नहीं खोला (परंतु) उसने कई सारे कसाईखाने खोल रखे हैं। पुण्य से व पुण्य के फल से जो सुख का अभिप्राय है - सुख की जो श्रद्धा है, वह उसके पास कसाईखाने खुलवायेंगे। जिसने कसाईखाना खोल रखा है उसने क्या सोच रखा है ? कि इससे मेरे अनुकूल संयोगों की वृद्धि होती है, प्राप्ति होती है और वृद्धि होती है इसलिए यह कर्त्तव्य है। सिद्धांत तो एक-सा हो गया। प्रवृत्ति में विशेषता हो गई। क्यों हो गई ? क्योंकि अंदर में जो सिद्धांत पकड़ रखा था व अभिप्राय बन चुका था इसके कारण ये सारी परिस्थिति बन गई। इसमें फिर इतना पाप करने से इसका फल क्या आएगा ? यह विवेक नहीं रहता।

मिथ्यात्व का फल निगोद है। यह तो समझ सके इसलिए (कसाईखाना का) दृष्टांत दिया जाता है। वरना हकीकत में तो मिथ्यात्व का फल निगोद में रहना वही है। कितना काल जीव निगोद में रहता है ? कि अनंत काल निगोद में रहता है ! वह मिथ्यात्व के फल में (वहाँ) जाता है। सात व्यसन के पाप के फल में तो जीव नरक में जाता है। अपने जैनियों में भी अधिकांश लोगों को तो यह भी पता नहीं है कि निगोद का दुःख ज्यादा है या नरक का दुःख ज्यादा है ? बाहर में नरक के दुःख के प्रतिकूलता की परिस्थिति स्पष्ट देख सके ऐसी है न ! इन्द्रिय ज्ञान से समझ में आये ऐसा है इसलिए जीव ऐसा मानते हैं कि नरक में दुःख ज्यादा है। लेकिन नरक से अनंतगुणा दुःख निगोद में है, वहाँ प्रचुर कषायकलंक के परिणाम होते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में १८ बार जन्म-मरण होते हैं। इतने अल्प आयुष्य में वह अनंतकाल पर्यंत

निगोद में ही जन्म-मरण होते रहे ऐसे आयुष्य का बंध करता है यानी कि वैसे परिणाम करता है। निगोद में ही जन्म लेना और निगोद में ही मरना, निगोद में ही जन्म लेना व निगोद में ही मरना, ऐसे ही निगोद के योग्य भाव करता है और उन भावों से छूटने के लिए उसके पास कोई बुद्धि-विवेक-सयानापन - किसी का अवकाश नहीं रहता। इसलिए अनंत... अनंत... अनंत... अनंत काल उसीमें बिताता है। छद्मस्थ (अवस्था) का काल तो कम है, बहुत अल्पकाल है। ज्यादा से ज्यादा २००० सागर ! वह तो उत्कृष्ट काल है।

अनंतकाल तक जिसमें से छूट न सके ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मिथ्यात्व के मूल इतने गहराई तक जाते हैं और यह मिथ्यात्व भयंकर से भयंकर...! इस विश्व में कोई सबसे ज्यादा भयंकर है तो वह मिथ्यात्व ही है। यह हमें समझ में आ जाना चाहिए। तो चाहे जैसे भी इसका त्याग करने का, इसका अभाव करने का प्रयत्न करेंगे। दूसरे सब काम छोड़कर या छोड़कर मतलब गौण करके, कि जैसे दूसरा जो भी होना हो भले ही हो। यह कार्य तो मुझे करना, करना और करना ही (है)।

अतः मिथ्यात्व पुष्ट होता हो (यानी कि मिथ्यात्व का पोषण होता हो) उस दिशा में तो अत्यंत-अत्यंत सावधानी रहनी आवश्यक है, ऐसा कहना है। मिथ्यात्व का पोषण हो उस दिशा में तो अत्यंत-अत्यंत सावधानी रहनी चाहिए। अगृहीत मिथ्यात्व अनादि से चालू है। मनुष्य पर्याय में आकर गृहीत मिथ्यात्व का प्रसंग खड़ा हो जाता है। और वह भी धर्म के बहाने और धर्म के निमित्त से होता है। इसलिए इस विषय में गुरुदेवश्री ने अनंत करुणा करके यह बात स्पष्ट की है।

ये पुण्य-पुण्य करके जीव मिठास वेदता है न ! वह पुण्य करता है इसमें पुण्य तत्त्व को जो बुद्धिपूर्वक कल्याण का कारण मानता है - मोक्ष का कारण मानता है - आत्मा के हित का कारण मानता है; वह गृहीत (मिथ्यात्व) होता है। अन्य मत में और दूसरे फेरफार में तो गृहीत (मिथ्यात्व) हो ही जाता है। जैन दर्शन में भी दूसरे फेरफार करे तो गृहीत मिथ्यात्व हो जाता है। अन्य मत में तो स्थूल गृहीत मिथ्यात्व है, लेकिन वर्तमान में प्रचलित जैनदर्शन में वह रहे और सनातन मार्ग जो चला आ रहा है उसमें फेरफार करे तो भी गृहीत मिथ्यादर्शन में आ जाता है। ऐसा विषय है। गृहीत मतलब वहाँ स्थूल मिथ्यात्व (हो गया)। मिथ्यात्व तीव्र हो गया। जब कि यहाँ तो अगृहीत (मिथ्यात्व) छूटकर मोक्षमार्ग में आ जाए ऐसा प्रकार ग्रहण करना चाहिए। इतनी हद तक आने की बात है।

गृहीत मिथ्यात्व में है वह मिथ्यात्व की तीव्रता में आगे बढ़ा हुआ है। मिथ्यात्व दोनों में सामान्य है, परंतु तीव्र मिथ्यात्व के कारण सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ज्यादा दूर हो गया है ! इतना फर्क है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की दिशा से ज्यादा दूर चला गया है, ऐसा कहना होगा। या ऐसा कहो कि सत्यस्वरूप से विशेष दूर चला गया है। असत्य को अधिक दृढ़ करने के लिए उसके श्रद्धा के परिणाम काम करने लगे हैं ! असत्य को दृढ़ करने के लिए !! ऐसी बात है। समझ में भी बहुत सावधानी रखने का विषय है। बुद्धिपूर्वक थोड़ा-सा भी फेरफार सहित समझ ले कि गृहीत में चला जाये !!

इसलिए तो आनंदघनजी ने एक पद में गाया है, इसमें ऐसी बात ली है कि 'धार तरवारनी सोह्यली, दोह्यली, चौदमां जिन तणी

चरणसेवा' - वैसे तो चौदहवें जिन की स्तुति की है। चौदहवें जिन (का) क्या नाम है ? श्री अनंतनाथ ! चौदहवें जिन श्री अनंतनाथ भगवान की स्तुति करते हुए यह बात की है। सर्व तीर्थकरों ने एक ही बात कही है। पहले (तीर्थकर ने) कुछ और कहा और चौदहवें ने कुछ और कहा और चौबीसवें ने कुछ और कहा है, ऐसा तो नहीं है। सब एक मार्ग पर चले हैं और (सब) ने एक ही मार्ग की बात कही है।

कहते हैं कि, यह बात इतनी आसान नहीं है। थोड़ा-सा फेरफार करने जाये यानी कि एक मात्र आत्मा में श्रद्धा से, ज्ञान से और आचरण से आने का प्रयास नहीं किया तो बाहर चला जाएगा। अनात्मतत्त्व पर उसका ज़ोर चला जाएगा। उस अनात्मतत्त्व पर बुद्धिपूर्वक गया इसलिए 'गृहीत' कह दिया। समझ सहित चला इसलिए उसे 'गृहीत' कह दिया, ऐसा कहते हैं। बिना समझ चले वह 'अगृहीत' है और समझपूर्वक चले तो 'गृहीत' है। उसको बुद्धि योग्य प्रकार से लगानी चाहिए थी। जब बुद्धि लगाने की तक उसे मिली ही है तब इतनी बात जरूर है।

प्रश्न :- मिथ्यात्वी धर्म के कार्य करे उसकी अनुमोदना कर सकते हैं ?

समाधान :- मिथ्यात्वी धर्म के कार्य करता ही नहीं, पुण्य के कार्य करता है। मिथ्यात्वी धर्म को प्राप्त नहीं होने से वह धर्म के कार्य कभी नहीं करता, नहीं कर सकता। अब, जिसको अपने पुण्य परिणाम से भी हटना है, अपने पुण्य परिणाम को छेदकर जो वीतरागी धर्म में आना चाहता है वह दूसरे के पुण्य-परिणाम का अनुमोदन कैसे करेगा ? इसलिए अनुमोदन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी बात है। जो खुद न करे वह दूसरे से कराने

का या अनुमोदन देने की बात ही कहाँ रहती है ? वे तो कहेंगे कि भाई ! आप जो ये प्रशस्त कार्य करते हो - शुभ कार्य करते हो या प्रशस्त कार्य करते हो तो इन प्रशस्त कार्यो तो पुण्य-बंध के कारण है, ऐसा जानना ! और आप उसे कभी धर्म मत मानना। वरना आप गृहीत मिथ्यात्व में फँस जाओगे। ऐसी स्पष्ट समझ उसे देंगे। परंतु उसे धर्म मानकर, मनवाकर या अनुमोदन देकर तथारूप प्रवृत्ति नहीं करेंगे, ऐसा है।

मुमुक्षु :- (अभी) तो एकदम मिलावट चलती है !

पूज्य भाईश्री :- मिलावट है उसीका नाम पूरी गड़बड़ है। नाम जैनदर्शन और अंदर में पूरी मिलावट ! शुद्ध घी के व्यापार में वनस्पति घी को जैसे मिला देते हैं। अरे ! इससे तो वह अच्छा है जो वनस्पति घी का पटिया लगाकर बैठा है क्योंकि वहाँ जानेवाले को धोखा तो नहीं होता ! क्योंकि आनेवाला समझकर ही आयेगा ! क्योंकि मिलावट का कार्य तो उचित नहीं है।

चोर हो वह शरीफ़ की दुकान का पटिया लगाकर बैठ जाए और लोगों से धोखा करे यह तो ठीक है ही नहीं न ! वैसे भगवान का - अरिहंत का - वीतरागदेव का - जिनेन्द्रदेव का - तीर्थकर का नाम लेना और चलना तीर्थकर के कहे हुए मार्ग से विपरीत, खुद तो धोखे में रहना और दूसरों को धोखा देने में अग्रसर होना, मुख्यता करना, यह तो आत्मा को बहुत नुकसान का कारण है ! यह २५० हुआ।





पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकार के शुभभावों के कर्ता होकर, अन्य की अपेक्षा 'मैं कुछ अधिक हूँ' ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्ग को लेशमात्र भी नहीं जानते। २५१.



प्रवचन - २५, दि. २४-५-१९८३

२५१ (वाँ बोल) 'पर्याय-दृष्टि वाले जीव दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकार के शुभभावों के कर्ता होकर, अन्य की अपेक्षा 'मैं कुछ अधिक हूँ' ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्व भावको दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्ग को लेशमात्र भी नहीं जानते।' नाड़ी पकड़ी है। धर्म के क्षेत्र में जीव मिथ्यात्वभाव को कैसे दृढ़ करता है, यह कहते हैं। आदमी को ऐसा लगता है कि ये सब नहीं करे तो फिर हमें करना क्या ? यदि दया-दान, पूजा-भक्ति, यात्रा व प्रभावना नहीं करे तो फिर

हमें करना क्या ? (तो कहते हैं) कि भाई ! तुझे स्वरूप के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के परिणामरूप परिणमन करना। यह करने जैसा है व यही कर्त्तव्य है। और कुछ करने जैसा है, सो बात नहीं है। मोक्षमार्ग में अन्य-अन्य ऐसे परिणाम हो तो भी मोक्षमार्गी जीवों ने उसका अभाव करके सिद्धालय में पहुँचने का प्रयत्न करके पहुँचे हैं। - ऐसा है कि नहीं ? सिद्ध परमात्मा जो करे वह तुझे करना ! क्या ? सिद्ध परमात्मा जो करे वह तुझे करना !

भगवान ने जो किया वह तुझे करना है या भगवान ने जो नहीं किया वह तुझे करना है ? क्या सिद्ध परमात्मा दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा व प्रभावना करते हैं ? नहीं करते। पहले करते थे ? हाँ, पहले करते थे। तो उसे करते-करते उन्होंने छोड़ा या उसे बढ़ा लिया ? छोड़ दिया। बस ! तो तू अभी जो करता है वह तू भी छोड़ दे। छोड़ दे मतलब तू अपने वीतराग धर्म में लीन हो, वीतरागी आत्मा में लीन हो, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

पर्यायदृष्टिवाला जीव - उसे पर्यायदृष्टि कहो चाहे मिथ्यादृष्टि कहो (दोनों एकार्थ हैं)। पर्यायदृष्टिवान जीव को जब-जब जो-जो औदयिक भावरूप पर्याय होती हैं, 'तब-उतना ही मैं' वैसे खुद को उस उदयभावरूप यानी कि रागादिभावरूप यानी कि सकषाय परिणाम स्वरूप 'ऐसा ही मैं' ऐसा स्थापित करता है, उसे पर्यायदृष्टिवान कहा जाता है। उसमें क्षण-क्षण की पर्याय ली, या तो चार गति में जिस पर्याय में जन्म लिया 'वैसा ही मैं' यह भी पर्यायदृष्टि है। अभी 'मैं मनुष्य हूँ' इसमें मनुष्य हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ, सेठ हूँ, पण्डित हूँ, मुखर्ष हूँ, गृहस्थी हूँ, त्यागी हूँ - ये जितने भी औदयीकभावरूप स्थिति के परिणाम हैं, वैसा हूँ -

यह सब पर्यायदृष्टि के प्रकार हैं। इसे पर्यायदृष्टि कहो चाहे मिथ्यादृष्टि कहो सब एकार्थ हैं।

ऐसा जीव दया-दान के परिणाम करे तब उसका कर्ता होता है, पूजा-भक्ति के परिणाम करते वक्त उसका कर्ता होता है, यात्रा-प्रभावना इत्यादि के परिणाम करते वक्त अनेक प्रकार के शुभभाव होते हैं उसका कर्ता होता है। कर्ता होता है मतलब ? अभेदबुद्धि से मैं उसे करता हूँ - ऐसा अनुभव करता है। 'मैंने पूजा की, मैंने भक्ति की, मैंने दया का पालन किया व मैंने दान दिया' - ऐसे शुभराग के परिणाम में अभेदभाव से यानी कि पूरे ममत्व के साथ; अभेदभाव का मतलब पूरे ममत्व सहित जब वह परिणमन करता है तब उसका वह कर्ता हुआ। उसको ऐसा अनुभव होता है कि 'यह मैंने किया, यह मेरा कार्य, यह मेरा इष्ट कार्य।' 'कर्ता का इष्ट सो कर्म' यह मेरा इष्ट कार्य, इष्ट मतलब अच्छा कार्य और मैं इसका कर्ता। कर्ता-कर्म अभेद तत्त्व में होता है। भिन्न-भिन्न तत्त्वों में कर्ता-कर्म की परिस्थिति नहीं होती।

अब, ये जो शुभ के परिणाम हैं, वे अन्य तत्त्व होने के बावजूद भी (जीव) उसका कर्ता होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि जीव उसमें अभेदबुद्धि करके अभेदतारूप परिणमन करता है। पूरे ममत्व के साथ परिणमन करता है और परिणाम में - ऐसे ममत्वमय परिणाम करके और तो और शिखर पर जैसे ध्वज लहराते हैं वैसे (कहता है कि) देखो ! हमारा ध्वज लहराता है ! वैसे अहंकार का ध्वज लहराता है कि, दूसरा कोई जो नहीं करता है वैसे मैं कर रहा हूँ ! दूसरे लोग तो इतना दान नहीं देते इसके प्रमाण में मैं अधिक दे रहा हूँ । दूसरे तो स्वाध्याय में भी नहीं आते, मैं तो हररोज स्वाध्याय में आता हूँ। ठीक ! यह अहंकार की प्रसिद्धि है !!

ध्वज जैसे लहराता है !! एक तो पुण्य के परिणाम में कर्ता होकर ममत्व करता है और फिर ऊपर से इसकी अधिकता करता है कि, दूसरों से मैं ज्यादा अच्छा हूँ ! - ऐसी अधिकाई करता है। दूसरों से मैं कुछ अधिक हूँ ऐसा अहंकार करता हुआ ममत्व और अहम्पना - ममपना दोनों करता है। वैसा जीव सिर्फ मिथ्यात्वभाव करता है इतना ही नहीं, 'दृढ़ करते हैं...' ठीक ! लेकिन क्या हररोज स्वाध्याय में आता हो फिर भी मिथ्यात्व को दृढ़ करता है ? (उत्तर है) कि, हाँ ! स्वाध्याय में आयेगा और विपरीत बुद्धिपूर्वक गृहीत मिथ्यात्व को दृढ़ कर लेगा। गृहीत में आएगा और गृहीत को भी दृढ़ करेगा ! फिर अब जाना कहाँ ? जाना आत्मा में। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय है नहीं।

इस विषय में एक बहुत स्पष्ट ध्यान देने योग्य विषय ऐसा है कि जितने भी बहिर्मुख परिणाम हैं, जितने भी बहिर्मुख भाव हैं वे आत्मा के अंतःतत्त्व स्वरूप से विपरीत दिशा के परिणाम होने से, वह कर्त्तव्य है यह बात धर्म के प्रकरण में नहीं है। क्या ? आत्मा जो अंतःतत्त्व स्वरूप है, परमात्म तत्त्व है, साक्षात् सिद्धपद है वह अंतर्मुख परिणाम द्वारा अनुभव में आता है और इसलिए एकांतरूप से अंतर्मुख परिणाम करने का आदेश और उपदेश है। वीतरागमार्ग में तो अंतर्मुख परिणाम करने का उपदेश है। इस अंतर्मुखता को छोड़कर जितना भी बाह्य परिणामन है - बहिर्मुख भाव हैं वे छोड़ने जैसे हैं, कर्त्तव्यरूप नहीं हैं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है। दो ही दिशा है - अंतर्मुख और बहिर्मुख। उसमें से अंतर्मुख दिशा की ओर ही झुकना है, आगे बढ़ना है, विकास करना है, पूर्ण होना है। बहिर्मुखता छोड़नी है, एक साथ नहीं छूटे तो क्रमशः भी छोड़ते जाना। हालाँकि श्रद्धान, ज्ञान में यह बात स्पष्ट

रहती है कि यह कर्तव्य नहीं है। जो छोड़ने योग्य है वह कर्तव्य नहीं हो सकता, ऐसा (है)।

इसलिए कहते हैं कि 'ऐसा अहंकार करते हुए, मिथ्यात्वभाव को दृढ़ करते हैं और निश्चय स्वरूप मोक्षमार्ग को...' निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग माने अंतर्मुख जो मोक्षमार्ग या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग, उसे 'लेशमात्र भी नहीं जानते।' उसका जीव को पूरा-पूरा अज्ञान रहता है, ऐसा कहना है। जो जीव बाह्य परिणाम में या शुभ परिणाम के काल में कर्ता होकर परिणामन करता है वह जीव मोक्षमार्ग को जानता भी नहीं, पहचानता तक नहीं।

कोई ऐसा कहे कि दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि परिणाम तो मोक्षमार्गी जीव को भी देखे जाते हैं। मोक्षमार्गी जीव भी तो ऐसे परिणाम करते हुए दिखाई देते हैं, (इसलिए) हम भी वैसे परिणाम करते हैं ! तो कहते हैं कि (तुम्हारे व उनके) दोनों शुभभाव में बहुत (बड़ा) अंतर है। मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता होकर करता है, जबकि धर्मी को - मोक्षमार्गी जीव को वैसे परिणाम अकर्ताभाव से होते हैं। उनको 'करते हैं' यह बात लागू नहीं कर सकते। क्योंकि करने का अभिप्राय नहीं है फिर भी परिपूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं होने से, पुरुषार्थ की कमी के कारण अस्थिरता पैदा हो जाती है जिसमें हेयबुद्धिपूर्वक उन्हें हो जाते हैं। 'करना है' यह प्रकार नहीं होता, हो जाते हैं।

एक आदमी को दंड दिया जाए तो जबरदस्ती दंड को भोगता है इसका अर्थ ये नहीं होता कि उसको सजा भुगतने का उत्साह व रस है - ऐसा नहीं कह सकते। वैसे जिसने अपने पूर्ण वीतराग-स्वरूप की श्रद्धा की है, अपने पूर्ण वीतराग स्वरूप को जाना है, और अपना पूर्ण वीतराग स्वरूप ही जिसको उपादेय है - एकांतरूप

से उपादेय है, उसको वीतराग स्वरूप से विरुद्ध ऐसे रागादिभावों की उपादेयता है यह बात तो हो ही नहीं सकती। फिर भी उन्हें होते हैं। (जिसको) होते हैं वह मोक्षमार्ग में खड़ा है, मोक्षमार्ग को वह जानता है, वह मोक्षमार्ग से अज्ञात है ऐसा नहीं कह सकते।

जबकि पर्यायदृष्टि से कर्ता होकर जो परिणाम करके ऊपर से कलगी (!) लगाता है - उसका अभिमान करता है न ! कि, यह तो मैंने दूसरे जो नहीं करते हैं इतना बढ़िया कार्य किया ! ऐसे जीव को तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है। मिथ्यात्व दृढ़ होता है इतना ही नहीं (परंतु निश्चय मोक्षमार्ग को वह जानता तक नहीं है)। भले ही सारा जगत उसको धर्मी जीव है ऐसा कहता हो कि, यह तो बहुत धर्म करता है, बहुत धर्म करता है, इतने-इतने धर्म के परिणाम करता है कि वाह...! यहाँ ज्ञानी तो कहते हैं कि वह धर्म के मार्ग को - धर्म को, मोक्षमार्ग को मतलब धर्म को जानता तक नहीं है। लेशमात्र नहीं जानता - अंशमात्र भी नहीं जानता। इतना वह धर्म के मार्ग से अनभिज्ञ है। ऐसा यहाँ पर कहना चाहते हैं। यह इसका रहस्य है !

लोग धर्मी कह-कहकर कूटते हैं ! कूटते हैं मतलब यह बेचारा तो मर जाएगा ! एक तो क्या है कि खुद को अंतर में अभिमान के परिणाम हो जाते हो कि, जैसे 'यह मैंने किया है ! दूसरे नहीं करते वैसा मैंने किया है !' इतना ही नहीं दूसरे लोग तारीफ़ करे, प्रशंसा करे, फिर तो उत्पन्न रस में वृद्धि का निमित्त मिल ही जाता है। दूसरे लोग कुछ कराते नहीं हैं, परंतु एक तो खुद की हीन योग्यता हो, सामने बाह्य निमित्त भी ऐसे ही मिले जाते हैं, इसलिए वह तीव्र अभिमान में और अहंकार में आ जाता है जिसके कारण उलटा मोक्षमार्ग से अधिक दूर हो जाता है।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि मोक्षमार्ग को वह करता नहीं, आदर नहीं करता नहीं आराधन करता है, (परंतु) यहाँ तक कि मोक्षमार्ग का उसे बिलकुल ज्ञान भी नहीं है ! ऐसा कहते हैं। उसे मोक्षमार्ग का ज्ञान होने का निषेध है, ठीक ! लेकिन इतने सारे शास्त्र पढ़कर समझा सकता हो तो भी !? (तो कहते हैं) कि उन शास्त्रों के निमित्त से उत्पन्न शुभभावों में अगर अहंकार होता हो तो समझ लेना कि वह मोक्षमार्ग को लेशमात्र नहीं समझता है, नहीं जानता है और नहीं इसकी पहचान है। इसकी उसे खबर नहीं है, ऐसा है। (वह) अनजान है। जो साक्षात् वीतरागमार्ग है, उसमें अंतर्मुख कैसे हुआ जाए उससे वह बिलकुल अनजान है। अतः अंतर्मुखता से विरुद्ध ऐसी जो बहिर्मुखता उसमें वह वेगपूर्वक व रसपूर्वक आगे बढ़ रहा है, ऐसा कहना चाहते हैं।

इस प्रकार यहाँ बहिर्भावों का निषेध है और अंतर्मुख भावों का आदर करने की सूचना दी है। यहाँ तक रखते हैं।



श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण

मूल्य

०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-

२१	मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२	निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३	परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४	प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३३	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३४	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३५	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३६	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्तकृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३७	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३८	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
३९	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४०	समयसार कलस टीका	अनुपलब्ध
४१	समयसार	अनुपलब्ध
४२	तत्त्वानुशीलन (भाग-१, २, ३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४३	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४४	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४५	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नार्रोबीमें हुए प्रवचन)	२०-००

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

	ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧	અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨	અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩	આત્મયોગ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૮ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮	અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯	બીજું કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્યુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગગ પ્રવચનો)	-
૧૧	બૃહદ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગગ પ્રવચનો)	-
૧૨	ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩	દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪	દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫	દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬	ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૮, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮	ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સોગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૨	જિજ્ઞાસાસહ્યં સત્ત્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૩	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૫	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કમબદ્ધપર્યાય	-
૨૮	મુમુક્ષતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૯	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૦	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૧	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૨	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૮	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૩૯	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૦	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦

૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ગગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૩	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૪	પદ્મનંદીપંચવિંશતી	-
૫૫	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૬	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ગગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી કુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૦	જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૬૧	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ ૫૬નો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૨	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૮૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૩	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૪	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૫	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૬	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક-ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૭	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-
૬૮	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૬૯	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૦	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૧	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૨	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૩	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૪	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૫	ધન્ય આરાધક	-

**वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या**

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	६६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००

२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००
३०	निर्भूत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भूत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजरात+हिन्दी)	३५००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२५००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	३०००

६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१४००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००

९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००
९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	७५०
९६	प्रवचन सुधा (भाग-८)	७५०
९७	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९८	मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३)	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४)	१०००
१०१	प्रवचन सुधा (भाग-९)	७५०
१०२	गुरु गिरा गौरव (भाग-२)	७५०
१०३	प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
१०४	प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०
१०५	प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०
१०६	धन्य आराधक (गुजराती)	७५०

पाठकों की नोंध के लिये

पाठकों की नोंध के लिये